ALOCHNA HINDI

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GKV

P R
२६
पि. ३६ आ
अं - ९४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ACCN. ~~49420~~
~~49421~~
079560

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या R ८४
पुस्तक संख्या दि ३७ आ
आगत पंजिका संख्या अं - १८
पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

GULZAR BOOK BINDING HOUSE
PHARI BAZAR ROORKEE

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

स्तक ग्यालीकरण १९८४-१९८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादन समिति
डॉ० धर्मवीर भारती
डॉ० रघुवंश
डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा
श्री विजयदेवनारायण साही

COMPILED
CHECKED 1973
079560
079560

२४ आलोचना

हि
०५४
२७आ
अं-२४

... साहित्य (१) : सम्पादकीय
... स्थायी मूल्य : डॉ० रांगेय राघव
... अपना समीक्षा-शास्त्र :
(१) सम्भावनाएँ : डॉ० नगेन्द्र
(२) आवश्यकता : डॉ० भगीरथ मिश्र
हिन्दी के सामाजिक कथा-नायकों का विकास : श्री राजेन्द्र यादव
हिन्दी का भावी रूप : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
श्री सुमित्रानन्दन पन्त

राजकमल प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक आलोचना

४ अंक २ पूर्णाङ्क १४ जनवरी, १९५५

षिक मूल्य १२) एक अंक का ३)

सूची

▲सम्पादकीय
जनवादी साहित्य --- १

▲निबन्ध
—साहित्य का स्थायी मूल्य :
डॉ० रांगेय राघव --- ६
—हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र (सम्भावनाएँ) :
डॉ० नगेन्द्र --- १७
—हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र (आवश्यकता) :
डॉ० भगीरथ मिश्र --- २२
—हिन्दी के सामाजिक कथा-नायकों का विकास
राजेन्द्र यादव --- २७

▲प्रस्तुत प्रश्न
—हिन्दी का भावी रूप :
डॉ० धीरेन्द्र वर्मा --- ५२
—हिन्दी का भावी रूप :
डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या --- ५६
—हिन्दी का भावी रूप :
सुमित्रानन्दन पन्त --- ५८

▲अनुशीलन
—दृश्य काव्य में हास्य तत्त्व :
डॉ० रामकुमार वर्मा --- ६४
—'कान्हड़ दे प्रबन्ध' और उसका पाठ :
डॉ० माताप्रसाद गुप्त --- ६८

▲मूल्यांकन
—नयी कविता :
बालकृष्ण राव --- ७७
—तीन नये काव्य-संग्रह : 'बावरा अहेरी', 'रात बीती', 'धरती और स्वर्ग' :
डॉ० जगदीश गुप्त --- ८५
—'अंचल' के नये गीत :
गंगाप्रसाद मिश्र --- ९५
—हिन्दी कहानियाँ : शिल्प और शैली :
डॉ० देवराज उपाध्याय --- ९८
—छोटी-बड़ी कहानियाँ :
वीरेन्द्र कृष्ण माथुर --- १०१
—दो कहानी-संग्रह :
मोहन राकेश --- १०३
—टूटे काँटे :
उदयशंकर भट्ट --- १०७
—चाँदनी के खण्डहर :
डॉ० शैल कुमारी --- १०९
—कठपुतली :
जनार्दन मुक्तिदूत --- ११२
—ओ मेरे सपने :
विजयेन्द्र स्नातक --- ११५
—परिव्राजक की प्रजा :
विश्वम्भर 'मानव' --- ११८
—तेलुगु साहित्य का इतिहास :
बालशौरि रेड्डी --- १२१
—द्विवेदी-पत्रावली :
डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय --- १२५
—रजवाड़ा :
महावीर अधिकारी --- १२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४०,४२०

आलोचना

सम्पादकीय

'जनवादी' साहित्य (१)

साहित्य और समाज में गहरा सम्बन्ध है, इस विषय में कोई मतभेद सम्भव नहीं। परन्तु जैसे ही हम एक कदम आगे बढ़कर इस सम्बन्ध की विशेष छानबीन करने लगते हैं, कठिनाई उत्पन्न होने लगती है। कई प्रश्न खड़े होते हैं। यह सम्बन्ध किस प्रकार का है? 'समाज' से क्या अर्थ लिया जाय? और सबसे गहन यह कि यह सम्बन्ध किन स्तरों पर और किन रूपों में साहित्य में अभिव्यक्त होता है? अन्त में उस अभिव्यक्ति की भूमिका किसी कृति अथवा कृतिकार की श्रेष्ठता एवं महत्ता सिद्ध करने में क्या होती है? आज तक साहित्य में सामाजिक सम्बन्धों का अनुशीलन करने वाले जो आलोचकगण रहे हैं, उन्होंने अधिकतर इस सम्बन्ध की कभी कम और कभी अधिक अभिव्यक्ति का अन्वेषण-मात्र करके सन्तोष किया है अथवा उपपत्तियों के रूप में कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है, जिन्हें निष्पक्षता के कारण आत्यन्तिक अथवा सर्वव्यापी मानने से उन्हें स्वयम् संकोच होता रहा है। इस संकोच के एकमात्र अपवाद मार्क्स के वे अनुयायी हैं जिनका न्यस्त स्वार्थ किसी राजनीतिक दल अथवा राजसत्ता से सम्बद्ध है।

उनके अनुसार इस समस्या का अन्तिम हल उन्हें प्राप्त हो गया है। यह हल क्या है, इस सम्बन्ध में अब मतभेद की सम्भावना नहीं है। साहित्यकार अथवा समीक्षक के लिए काम सिर्फ इतना रह गया है कि वह इस हल के पक्ष में शीघ्रातिशीघ्र कमर कसकर तैयार हो जाय और जो भी इस हल के विरुद्ध हैं उनका विनाश कर डाले। एक ऐसा पत्थर हाथ लग गया है जो कसौटी और पारस दोनों का काम देता है। प्राचीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन भी हो जाता है और भविष्य के लिए सेना भी सज्जित हो जाती है। इसमें दूसरा कार्य अधिक आवश्यक है और इस सेना की सज्जा में सत्य को छिपाने, घटाने, बढ़ाने, सब प्रकार के प्रयोग क्षम्य हैं। कम्यूनिस्ट आलोचक वी० जे० जेरोम के शब्दों में :

"मार्क्सवादी सिद्धान्त का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि मार्क्सवादी लोग 'जन' से अलग हो जायँ बल्कि इसलिए कि वे 'जन' के साथ जुड़ जायँ। अपने वर्ग के शत्रुओं के साथ मार्क्सवादी अपने मतवैषम्य को सामने रखते हैं; जो साथी हैं, अथवा हो सकते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके साथ सतसाम्य को आगे रखते हैं।''[1]

इस कसौटी को आजकल 'जनवाद' का नाम दिया जाता है और यह साहित्यिक दृष्टि 'जनवादी' साहित्यिक दृष्टि कहकर पुकारी जाती है। चूँकि इस 'जनवादी' दृष्टिकोण के दावे बहुत विशाल हैं और सामयिक हिन्दी आलोचना में इस विषय में उलझन और अस्पष्टता है अतः इसकी छानबीन करना आवश्यक है। अनेक बार 'जन' शब्द के समान 'जनवादी साहित्य' को अत्यन्त व्यापक अर्थ में लिया जाने लगता है और उस समय सामान्य जनता के लोक-साहित्य के रूप में इसे स्वीकार करने का भ्रम किया जाता है। दूसरी सीमा अव्याप्त दोष की भी है जहाँ कुछ विचारक साहित्य में प्राचीन आचार्यों के साधारणीकरण की व्याख्या इस रूप में करने का प्रयत्न करते हैं।

कुछ दिन पहले तक इस 'जनवादी' शब्द से हिन्दी के पाठक अपरिचित थे। अंग्रेजी या अन्य यूरोपीय भाषाओं में भी इसका या इसके पर्यायवाची शब्द का प्रचार बहुत पुराना हो, ऐसा नहीं है। स्पेनिश गृहयुद्ध के आसपास साहित्य में 'पापुलर फ्रण्ट' की जो लहर आई उसमें ही पहले-पहल इस जनवादी नारे का असली शोर सुनाई पड़ा। अधिकतर रिवाज अपने को 'प्रोग्रेसिव' या 'प्रगतिशील' कहने का था। कभी-कभी जनवादी का भी नाम आ जाता था। ये 'प्रगतिशील' साहित्यकार भी बड़े आँके-बाँके सजीले नौजवान थे। इन्होंने बड़े-बड़े सपने देखे, आतङ्ककारी दैत्य खड़े किये, एक-एक इश्तिहार पर हजारों वर्ष तक आने वाली मानवता का क्रय-विक्रय किया, एक कविता या कहानी पर पुरानी मित्रताएँ बिगाड़ दीं, एक वक्तव्य पर परम्परागत शत्रुताएँ भुला दीं, और बड़ी गम्भीरता के साथ मानवता की रक्षा करने पर तुल गए। वे ईमानदार थे, साहसी थे और सचमुच भविष्य के सम्बन्ध में जी-जान से चिन्तित थे। उनमें से कितनों ने स्पेनिश प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए अपने प्राण होम किये, कितनों ने कविता लिखना बन्द कर गुप्त पुलिस में नौकरी की, अन्तर्राष्ट्रीय ब्रिगेड में शामिल हुए; जो न हो सके उन्होंने चीख-पुकार भरे पैम्फलेट ही लिखकर सन्तोष किया और कुछ ऐसे भी थे जो इन सब के बीच, आने वाले द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए, सोवियत् रूस के समर्थक एकत्र करते रहे, जो वी० जे० जेरोम के अनुसार ज्यादा ठोस काम था।

यह सब ऐतिहासिक नाटक सरीखा लगता है, जिसकी यवनिका रूस-जर्मनी पैक्ट ने गिराई। इस ज्वर से आक्रान्त होकर जिन लेखकों की विभूति युद्धग्रस्त साहसिकता या अखबारी कलाबाजी से कुण्ठित होने से बच रही उनमें से कुछ तो आज तक स्पेण्डर, आडेन या कोस्लर की तरह तीखे दर्द से छटपटा रहे हैं; कुछ शायद शान्ति-सम्मेलनों या अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालयों में दिखाई पड़ेंगे और कुछ शायद फार्मोसा या कोरिया में अपनी उस 'जनवादी' शिक्षा का दाय चुकता कर रहे होंगे जो उन्होंने स्पेनिश गृहयुद्ध में सीखा था। गृहयुद्धों के प्रेमी इन 'जनवादी' कलाकारों से उलझें तो वे बड़े-बड़े तर्क उपस्थित करेंगे। पर इतना निश्चित है कि उनके तीन-चौथाई तर्क समान होंगे चाहे वे बीसवीं देशान्तर रेखा के उत्तर में पाये जायँ अथवा दक्षिण में।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 'प्रगतिशील' या 'समाजवादी यथार्थवाद' जैसे शब्दों का चलन कुछ कम हो गया है। चीन की 'पीपुल्स डेमाक्रेसी' के उदय के बाद हिन्दी में नये आवेश के साथ 'जनवादी साहित्य' का रिवाज चला है, यद्यपि भारतवर्ष की नई-पुरानी मिली-जुली मुद्रा की भाँति पुराने सिक्के बाजार से बिलकुल

---

१. **वी० जे० जेरोम : कल्चर इन ए चेंजिंग वर्ल्ड, पृ० ७८।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गायब नहीं हुए हैं। शब्द चूँकि नया है, अतः उसका स्वाद भी नया है और कभी-कभी तो हमारे सम्मान्य आलोचक भी भूल कर जाते हैं कि शब्द बदल देने से वी० जे० जेरोम की स्थापना में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

सबसे पहला प्रश्न इस 'जन' शब्द को ही लेकर उठता है, क्योंकि इन्द्रजाल का एक बड़ा भाग इस जन के ही तात्पर्य में निहित है। रूसो ने जब बड़े ज़ोर-शोर से दार्शनिक एवं सामाजिक चिन्तन-धारा में इस 'जनसाधारण' की अवतारणा की तभी उसमें रहस्यवाद के कण मौजूद थे, इतना तो मार्क्स और उनके अनुयायी भी स्वीकार करते हैं। बाद में चलकर, कम-से-कम यूरोप में, यह 'जन' दो स्पष्ट वर्गों में बँट गया। मार्क्स ने स्पष्टीकरण के नाम पर सर्वहारी वर्ग और उसके 'जन' होने की घोषणा की। यह सर्वहारा वर्ग 'जन' क्यों है इसका प्रमुख कारण मार्क्स ने उसकी बहुसंख्या नहीं बतलाया, यद्यपि स्थान-स्थान पर वह बहुसंख्या का संकेत भी करता है। मार्क्स के अनुसार कतिपय ऐतिहासिक नियम, जिनकी विवेचना मूलतः दार्शनिक है, सर्वहारा वर्ग के सिर पर 'जन' का सेहरा बाँधने के लिए जिम्मेदार हैं। इन नियमों के अनुसार सर्वहारा समस्त जन के 'ऐतिहासिक उत्तरदायित्व' का वहन करता हुआ, 'जन' का प्रतीक बन जाता है। आगे चलकर मार्क्स के कम्यूनिस्ट अनुयायियों ने यह भी जोड़ा कि सर्वहारा स्वयम् उस ऐतिहासिक उत्तरदायित्व का वहन कर, 'जनत्व' को प्राप्त होने में अक्षम है। इस 'दार्शनिक-ऐतिहासिक' भूमिका को सम्पन्न करने का कार्य कम्यूनिस्ट पार्टी ही कर सकती है, जो दार्शनिक-ऐतिहासिक नियम की जानकारी से सन्नद्ध है। यह भी, कि यह 'जनत्व' को प्राप्त कराने वाला मन्त्र हर कोई नहीं जानता। जो जानता है वह कम्यूनिस्ट हो जायगा, यदि नहीं होगा तो नहीं जानता। दर्शन तक तो बात ठीक थी, किन्तु कार्यक्षेत्र में अवतरित होने पर स्पष्टीकरण का यह प्रयास इस तरह गुरुमुखापेक्षी और रहस्यवादी हो गया कि रूसो की स्थापना इससे कुछ अधिक स्पष्ट जान पड़ती है। आज आवश्यकतानुसार इस 'जन' का अर्थ सर्वहारा, किसान वर्ग, निम्न-मध्यम वर्ग, राष्ट्रीय पूँजीपति और अब तो हर उस व्यक्ति, वर्ग, अथवा संस्था से लिया जाने लगा है जो कम्यूनिस्ट पार्टी और सोवियत् रूस के पक्ष में है।

हिन्दी की सामयिक आलोचना के क्षेत्र में यह दावा किया जाता है कि 'जनवादी' साहित्य अथवा साहित्यिक दर्शन सूक्ष्म, भ्रान्तिबहुल और अस्पष्ट अनिर्वचनीयता के विरुद्ध साहित्यिक उद्देश्य के रूप में एक ठोस, प्रत्यक्ष और पकड़ में आने वाला मानदण्ड प्रस्तुत करता है। इस ठोस मानदण्ड की स्थापना डॉ० रामविलास शर्मा इन शब्दों में करते हैं :

"प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।"

यदि हम इस महान् सूत्र की चकित कर देने वाली गहराई और नवीनता पर ध्यान न भी दें तो भी इसमें ठोसपन कहाँ है, यह प्रश्न बना ही रहेगा। इसको ठोस बनाना हमारे 'जनवादी' आलोचक चाहते भी नहीं। वे किसान-मज़दूर 'संघर्ष' की बात करते हैं, प्रगतिशील 'ताक़तों' का हवाला देते हैं, ह्रासोन्मुख 'शक्तियों' का भय दिखाते हैं और साहित्यकार एवं समीक्षक से माँग करते हैं कि वह इन्हें पहचाने और साहित्य-रचना प्रारम्भ कर दे। हमारे पिछले सम्पादकीय पर कृपा-दृष्टि करते हुए एक सहयोगी कम्यूनिस्ट मासिक-पत्र ने लिखा है—

"शोषित पीड़ित जनता की आत्मोपलब्धि की संवेदना से तादात्म्य स्थापित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना, समाज की कुत्सा की आलोचना करना, समाज को परिवर्तित करने वाली समाज-चेतना को संगठित होने में सहायता देना—आज के उपन्यासकार ने अपने लिए यही कर्तव्य निर्धारित किये हैं ?"

प्रश्न उठता है कि आप समाज को बदलने वाले मजदूरों के किस संगठन की बात कर रहे हैं, आई० एन० टी० यू० सी०, हिन्द मजदूर सभा, या आई० ए० टी० यू० सी० की ! जिस शोषित पीड़ित जनता की ओर आपका संकेत है वह कौनसी है ? जिसने आन्ध्र के चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी को वोट दिये, या कांग्रेस को या सोशलिस्ट पार्टी को ? हम अपने गम्भीर एवं साहित्यिक पाठकों से क्षमा चाहते हुए कहना चाहते हैं कि ये प्रश्न चिन्तन की इस स्थिति में स्वाभाविक और आवश्यक हैं, क्योंकि 'जनवादी' साहित्य के चरम उद्देश्य एवं श्रेष्ठता की समस्या इनके उत्तर पर ही निर्भर करती है; क्योंकि वर्ग-संघर्ष, पूँजीवाद, जनशक्ति, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इन सबका अर्थ तभी निकलेगा जब उसकी कड़ी वर्तमान, प्रत्यक्ष 'जनजीवन' के साथ जोड़ दी जायगी; और क्योंकि हमारे 'जनवादी' बन्धुगण जान-बूझकर स्पष्टतः इन बातों का उत्तर नहीं देना चाहते ।

रहस्यवाद दो प्रकार का होता है । एक तो वह जिसमें साधक को सचमुच ज्ञात नहीं होता कि उसका प्रेय है क्या । वह केवल उसका आभास मात्र पाता है और भक्ति करता है । ऐसे रहस्यवादी हमारे सन्त थे । यह ऋजु रहस्य-वाद है । दूसरा रहस्यवाद वह होता है जिसमें साधक खूब अच्छी तरह जानता है कि वह क्या चाहता है, किन्तु उसे साफ़-साफ़ कहना शरम या खतरे की बात समझकर शब्दों का आडम्बर खड़ा करता है । हिन्दी में 'जनवाद' के प्रणेता, ये सामाजिक रहस्यवादी, इसी श्रेणी में आते हैं । यह किस कोटि का रहस्यवाद है, इसका उल्लेख करने की हम आवश्यकता नहीं समझते ।

'जनवादी' आलोचकों के समस्त ग्रन्थों एवं वक्तव्यों का मनन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने में नितान्त असफल रहे हैं कि हिन्दी साहित्यकार अथवा साहित्य की एक-मात्र कसौटी यही है कि वह कहाँ तक भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को आगे बढ़ाता है, उसके विकास में सहायक होता है ।

सैद्धान्तिक विवेचना के सिलसिले में 'जनवादी' आलोचकों के तर्कों का प्रारम्भ कला की उपयोगिता से होता है । वे कला के दो परस्पर-विरोधी शिविर स्थापित करते हैं जिनमें, उनके अनुसार, इतना वैषम्य है कि किसी भी प्रकार का सामञ्जस्य सम्भव नहीं । एक तो वे हैं जो 'कला कला के लिए' मानते हैं, दूसरे कला को जन के लिए, समाज के लिए । 'कला कला के लिए' मान लेना ही उनकी दृष्टि में प्रतिक्रियावाद, जन-विरोध, फलतः विनाश का लक्षण है । साथ ही यह भी कि कला की उपयोगितावादी दृष्टि 'जनवादी' साहित्य की विशेषता है । ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि जिस 'जन' के लिए कला को उपादेय बनाया जा रहा है, वह स्वयम् सामाजिक रहस्यवाद के कुहासे में लिपटा हुआ है । अब उपयोगितावादी तलवार की विशेषता एवं इतिहास में किन व्यक्तियों के हाथ से वह चलाई जा चुकी है उसको भी देख लिया जाय । इस सम्बन्ध में हम प्लेखानाव का एक उद्धरण देने का लोभ नहीं संवरण कर सकते :

"मैं यह जोड़ना चाहता हूँ कि प्रत्येक राजसत्ता, जहाँ तक उसकी कुछ भी दिल-चस्पी कला में होती है, सदा कला की उपयोगितावादी दृष्टि के ही पक्ष में होती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और यह बात समझ में भी आती है; यह तो उसके स्वार्थ में ही है कि सभी विचारधाराएँ उस उद्देश्य को सिद्ध करें जिसकी सिद्धि में वह स्वयम् संलग्न है। और चूँकि राजनीतिक सत्ता, जो कभी ही कभी क्रान्तिकारी होती है, अधिकतर रूढ़िवादी बल्कि प्रतिक्रियात्मक होती है, अतः यह मानकर चलना बहुत ही गलत होगा कि कला की उपयोगितावादी दृष्टि क्रान्तिकारियों अथवा अग्रगामी विचारकों की अनोखी विशिष्टता है। रूसी साहित्य का इतिहास चित्र की भाँति इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है कि हमारे साम्राज्यवादी 'अभिभावकगण' इस कलात्मक दृष्टि के विरुद्ध बिलकुल नहीं थे। इसमें से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :

सन् १८१४ ई० में वी० टी० नेरेज्नी के उपन्यास 'रूसी गिलब्लास' के प्रथम तीन खण्ड प्रकाशित हुए। इस उपन्यास को फौरन शिक्षा-मन्त्री राजुयोवस्की की आज्ञा से जब्त कर लिया गया और इन महानुभाव ने इस अवसर पर जीवन तथा साहित्य के सम्बन्ध पर इन शब्दों में अपने उद्‌गार व्यक्त किये :

'ऐसा अक्सर होता है कि उपन्यास लेखकगण दुराचारों का प्रतिरोध करते हुए भी उनका चित्रण ऐसे रंगों में करते हैं या उन्हें इतने विस्तार से वर्णन करते हैं कि नवयुवक इन दुराचारों के प्रति आकर्षित हो जाते हैं, जिनका वर्णन न करना ही बेहतर था। किसी उपन्यास के साहित्यिक गुण जो भी हों, उसका प्रकाशन तभी होना चाहिए जब उसका कोई नैतिक उद्देश्य हो।' "१

यह प्रश्न आज भी महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के सम्मान्य आलोचकों में से कितने हैं जो जार के शिक्षा-मन्त्री के इन पवित्र विचारों से सहमत हों, और यह निर्णायक अधिकार वर्तमान या भविष्य के किसी जार के शिक्षा-मन्त्री को देने के लिए तैयार हैं? इसके विपरीत एक वक्तव्य यह है कि किसी उपन्यास की नैतिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक स्थापना जो कुछ भी हो भ्रष्टता के उच्छृङ्खल उदाहरणों के अतिरिक्त उसके प्रकाशन को रोकने का अधिकार तो किसी शिक्षा-मन्त्री को होना ही नहीं चाहिए। हम सशक्त जनमत में विश्वास करते हैं और अपने नवयुवकों अथवा जनसाधारण को दुश्चरित्रता के लिए इतना लालायित नहीं मानते, कि एक उपन्यास प्रकाशित हुआ और उनका आचरण बिगड़ा, अथवा उनका मतिभ्रम हुआ। इसके साथ ही हम समाज के कल्याणकामी लेखकों और विचारकों से इस बात की पूरी आशा रखते हैं कि वे अपने प्रभाववान उदाहरणों से इन कुत्सित पुस्तकों को नगण्य बना दें। परन्तु इस भय से हम किसी भी मन्त्री के हाथ में इतना खतरनाक हथियार सौंपने के लिए तैयार नहीं हैं। कितने साहित्यकार एवं समीक्षक हैं जो इस वक्तव्य से सहमत हैं?

स्पष्ट है कि उपयोगितावाद का तर्क अपने में पूर्ण नहीं है, बल्कि निरर्थक भी है। उसी प्रकार हम निवेदन करना चाहते हैं कि 'कला कला के लिए' की निष्पत्ति भी साहित्य अथवा साहित्यकार की समूल व्यर्थता सिद्ध करने के लिए प्रामाणिक नहीं है। यूरोप के साहित्य में जर्मनी, फ्रान्स, इंग्लैण्ड आदि में कभी भी उपयोगितावाद का इतना आग्रह नहीं था। यह धारा रूस से आई है, इसलिए कि रूस को कभी भी मुक्त विचारों की प्रतिद्वन्द्विता का स्वाद नहीं मिला। सोवियत क्रान्ति के बाद यह परम्परागत पूर्वाग्रह और भी प्रबल हो गया। इसी तरह प्राचीन संस्कृत आचार्यों अथवा मध्यकालीन भारतीय सन्तों को कभी भी

१. प्लेखानाव—कला और सामाजिक जीवन, पृष्ठ १७८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'स्वान्तः सुखाय' और 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' में इतना घोर विरोधाभास नहीं दिखाई पड़ा। फारसी साहित्य में तो, लगता है, निष्प्रयोजन अथवा रहस्य-दर्शन के निमित्त-लिखने वाले कवि ही अधिक लोकप्रिय और जनता के निकट हुए हैं। उपयोगितावादी तो अधिकतर दरबारों में ही पाये जाते थे। जो कभी अनवरी की तरह प्रतिष्ठा का अमृतपान करते थे और कभी फिरदौसी की भाँति अपमान और ग्लानि में प्राण भी दे देते थे। परन्तु रूस ने जार या कमिस्सार की नैतिक पराकाष्ठा द्वारा कोई ऐसा लक्ष्यवेध किया हो, जो यूरोप, भारत अथवा ईरान के आचार्यों के बस की बात न रही हो, ऐसा अभी तक तो नहीं सिद्ध हो सका है।

इस विश्लेषण से कुछ आवश्यक निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम तो यह कि प्रचलित अथवा प्रचालित अर्थ में 'जन' शब्द अत्यन्त भ्रामक, अस्पष्ट और अन्तर्विरोधपूर्ण है; द्वितीय यह कि उस 'जन' की उपयोगिता सामान्य नैतिकता अथवा सामान्य मानव-संवेदना या सहानुभूति से किस प्रकार भिन्न होगी, यह अस्पष्ट है; और इसीलिए उपयोगितावाद का सारा इन्द्र-जाल ही थोथा है; कम-से-कम समीक्षात्मक अन्वेषण को पहले से अधिक प्रत्यक्ष नहीं बनाता। तृतीय, 'जनवादी' सिद्धान्तशास्त्रियों के पास इसका निर्णय देने की कोई कसौटी नहीं है कि इस उपयोगिता की अभिव्यक्ति साहित्य में, अन्य वैचारिक माध्यमों से अलग, किस आधार पर होगी और वह आधार साधारणीकरण प्रभविष्णुता, सौन्दर्य अथवा अन्य प्रचलित कसौटियों से किस प्रकार भिन्न है। स्पष्ट शब्दों में वह क्या है जो साहित्य को साहित्य बनाता है, श्रेष्ठ साहित्य बनाता है, इस प्रश्न का कोई भी उत्तर 'जनवादी' समीक्षकों के पास नहीं है। सच तो यह है कि वे इस प्रयास में कोई रुचि रखते भी नहीं—केवल रहस्यवादी वाग्जाल खड़ा करके अपने 'जनवाद' और 'श्रेष्ठता' के मानदण्डों को गड्डमड्ड कर देना चाहते हैं। काम जिगरे का है इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि शास्त्रार्थ द्वारा सिद्ध करना है कि जो कम्युनिस्ट पार्टी के पक्ष में है वह श्रेष्ठ है; कम-से-कम जो पक्ष में नहीं है, या विरोध में है, वह अश्रेष्ठ तो है ही। इसके लिए सामाजिक रहस्यवाद में एक और गहरी डुबकी लगाने की आवश्यकता पड़ती है।

वस्तुतः यदि 'जनवादी' साहित्य के प्रणेतागण अपने को एक साहित्यिक धारामात्र मानकर सन्तोष कर लेते, उसी प्रकार जैसे साहित्य में रोमाण्टिक, क्लासिकल, छायावादी अथवा रीतिकालीन धाराएँ होती हैं तो सिद्धान्तों की इतनी विसंगतियाँ न उत्पन्न होतीं। किन्तु 'जनवादी' का प्रयोग साहित्य-विशेष अक्षुण्ण श्रेष्ठता का मान स्थापित करने के लिए होता है। जैसा हमने ऊपर कहा है, काम जिगरे का है, इसलिए अधिकतर यह संकेत अव्यक्त रहता है। इस दुहरी धार का सबसे उत्साहपूर्ण उपयोग सामयिक साहित्यकारों के कण्ठ पर विभिन्न प्रकार की छुरियाँ चलाने और मालाएँ पहनाने के लिए किया गया जिससे हिन्दी के पिछले दस वर्षों के पाठक भली भाँति परिचित होंगे। किन्तु इस सम्बन्ध में सब से अधिक कष्टप्रद प्राचीन आचार्य सिद्ध होते हैं। न उनसे मनचाहा वक्तव्य दिलाया जा सकता है, न उनकी श्रेष्ठता से इन्कार किया जा सकता है। परिणाम यह है कि 'जनवादी' आलोचना प्राचीनों के सम्बन्ध में प्रश्न से पलायन, अन्तर्विरोध एवं रहस्यवाद का कोष बन गई है। इस सम्बन्ध में सब एक-से हैं चाहे वह शब्दाडम्बर के बीच एक-दूसरे को कितना ही 'कुत्सित समाजशास्त्री' क्यों न कहें।

डॉक्टर रामविलास शर्मा इस प्रश्न से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीधे कतर कर निकल जाते हैं। उनके मत में इस प्रकार के प्रश्न पूछे ही नहीं जाने चाहिएँ, शायद इसलिए कि इनका उत्तर देने में उन्हें कठिनाई पड़ती है। उनका निर्णय है :

"प्रगतिशील होने से ही क्या साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है, यह प्रश्न भ्रामक है। इसी तरह श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील रहता है, इस धारणा का शुद्ध कला वाला आधार भी भ्रामक है।"

उसी प्रकार श्री शिवदानसिंह चौहान की समीक्षा-पद्धति का आत्मसाक्षात्कार इन शब्दों में होता है :

"दूसरा प्रश्न है कि क्या वह प्राचीन साहित्य (बीते काल में रचे गए साहित्य) का सही मूल्यांकन कर सकती है? प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में यह प्रश्न गौण है कि अमुक रचना में स्थायित्व के गुण हैं अथवा नहीं हैं। इस प्रश्न का उत्तर तो समय ही दे चुका होता है। कालिदास को महान् लेखक और उनकी रचनाओं को स्थायी साहित्य सिद्ध करने की चेष्टा निरर्थक है।"

श्रीचौहान जी से हम विनम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहते हैं कि आपका वचन मृषा है। कालिदास को महान् लेखक और उनकी रचनाओं को स्थायी सिद्ध करने का मूल्यवान कार्य उन आपके 'प्रतिक्रियावादी' आलोचकों ने किया है जिनकी अथक सौन्दर्य-तृष्णा पुरानी और भूली हुई हस्तलिखित प्रतियों की खोज में उन्हें देश-विदेश घुमाती है और यह साहस प्रदान करती है कि मानवता की समस्त सांस्कृतिक उपलब्धि का वे मूल्यांकन करें। हम आलोचक का दायित्व इससे कहीं अधिक मानते हैं कि उत्सव के बाद हर प्राचीन महान् कलाकार से अपने 'जनवाद' का नेग माँगने के लिए उपस्थित हो जाय।

जब 'जनवादी' आलोचक प्राचीनों के विषय में समय का हवाला देते हैं, अथवा प्रश्न से कतराते हैं, तो उनका तात्पर्य या तो यह होता है कि आलोचक एक रहस्यवादी ऐतिहासिकता के पक्ष में हथियार डाल दे, या फिर वे अपने को समसामयिक कलाकारों के लिए उस ब्रह्म जैसे अनिर्वचनीय समय का ठेकेदार मानते हैं, क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया गया है कि समय की यह रहस्यवादी कसौटी जो आज तक के कलाकारों पर लागू होती आई है, आज के या भविष्य के कलाकारों पर लागू नहीं होगी। और यदि ऐसा नहीं है तो श्रेयस्कर हो कि ये 'जनवादी' आलोचक तब तक खामोश रहें जब तक समय अपना निर्णय हम सब के विषय में न दे दे। इस बीच कम्यूनिस्ट पार्टी के सहायतार्थ पचासों अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य वे कर सकते हैं और साहित्य का वातावरण भी कुछ अधिक निर्मल हो जायगा।

वस्तुतः जनहित के उद्देश्य को कोई भी विवेकपूर्ण कलाकार अपनी कला से बहिष्कृत नहीं कर सकता। परन्तु जनहित के इस उद्देश्य में सामयिक संघर्ष में विरोधी लगने वाली विचारधाराओं का समावेश अनिवार्य होगा। दूसरे, जनहित में काम करने वाली अन्य सामाजिक शक्तियों से, विशेषतः राज्य से, जो सम्प्रति इसका सशक्त माध्यम है या हो सकता है, साहित्य के 'जनहित' के आदर्श को पृथक् रखना होगा। इसलिए नहीं कि राज्य द्वारा अभीप्सित जनहित और साहित्य के जनहित में परस्पर विरोध है। परन्तु दोनों के क्षेत्र, प्रेरणा-स्रोत, आग्रह एवं कार्यविधि में इतना अन्तर है कि आज तक विश्व में जहाँ कहीं भी सीमाओं का अतिक्रमण हुआ है, वहाँ अनिष्ट ही अधिक हुआ है। फलतः साहित्य को इस प्रकार की केन्द्रित शक्तियों से आघात ही पहुँचा है, चाहे इसका प्रतिपादन प्लेटो, कैथोलिक चर्च, फ़ासिज़्म, मार्क्स अथवा किसी अन्य के नाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर किया गया हो। तीसरे, जनहित की कल्पना लेखक की गहराई, आत्म-साक्षात्कार और दृष्टि-विस्तार द्वारा भी नियोजित होगी। यह सब-का-सब इतना ही निश्चित कर सकता है कि एक प्रवृत्ति, संयमन, आशंसा, जागरूकता—व्यापक मानवीय संवेदना—के रूप में यह 'जनहित' साहित्यकार के मानस में विद्यमान रहे। हम जानते हैं कि इतना बड़ा दायरा रखने पर 'जन-अहित' अथवा सम्प्रति जन-अहित दीखने वाली वस्तु भी इसमें आ सकती है। किन्तु दायरे को छोटा, ठोस और नियामक बना देने पर अधिक अनिष्ट की सम्भावना है और यह अत्यन्त विवादग्रस्त वस्तु सारी समीक्षा का इति-अन्त तो नहीं ही बन सकती।

(अगले अंक में समाप्य)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

डॉ० रांगेय राघव

साहित्य का स्थायी मूल्य

साहित्य का अन्तिम मूल्य क्या है ? यह प्रश्न समस्त विचारकों के चिन्तन के मूल में है। वह युगपरक है, उसका भाव से ही मूल सम्बन्ध है, वह स्थायी महत्त्व रखता है, वह सामाजिक जीवन को बिम्बित करके चुप नहीं रह जाता, वरन् मानवों में एक व्यापक दृष्टिकोण जाग्रत करता है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समाज के नियमों का सन्तुलन करता है और सर्वोपरि वह मनुष्य की भावभूमि का स्तर उठाते हुए उसे उदात्ततर बनाकर आनन्द देता है,—यही विचार अधुना अपने को विभिन्न रूपों में तर्क-वितर्क के रूप में प्रस्तुत करते हैं और यही मूल्यों को निर्धारित करने का वह संघर्ष है, जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में होती है।

हम यही कहेंगे कि ऊपर जो विचार हैं वे एक-दूसरे के पूरक हैं और मूलतः यह सब व्यापक 'मानवतावाद' के विभिन्न अंश हैं, जिसका कि आधार मनुष्य की सत्ता का ही अभिव्यक्त स्वरूप है।

: १ :

'मानवतावाद' क्या है ?

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपने को सुखी बनाना चाहता है और उसके लिए उसने समाज बनाया है, साहित्य का सृजन किया है। इस जीवित रहने की इच्छा—अर्थात् जिजीविषा को ही उसने इतना विकसित और व्यापक बनाया है।

जिजीविषा के निम्नलिखित रूप हैं —

(१) मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध, ताकि मनुष्य रह सके, खा-पी सके और अपना विकास कर सके।

(२) मनुष्य का प्रकृति से सम्बन्ध, ताकि मनुष्य वे साधन एकत्र कर सके, जिनके प्रयोग से वह जीवित रह सके और अपने को समृद्ध बना सके।

(३) मनुष्य का प्रकृति से संघर्ष, ताकि मनुष्य अपना नाश करने वाली शक्तियों को परास्त करता रहे और अपने को जीवित रख सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) मनुष्य का मनुष्य से संघर्ष, ताकि कोई एक-दूसरे को दबा न सके, बल्कि सब ही विकास कर सकें।

(५) मनुष्य की प्रकृति की खोज, ताकि वह जहाँ एक ओर अपने ज्ञान को बढ़ाये, दूसरी ओर वह यह भी जान सके कि सृष्टि क्या है, क्यों है, कैसे है, कब से है, कब तक है इत्यादि।

जिजीविषा के यही मूल रूप हमारे आज तक के चिन्तन के आधार रहे हैं और आज भी हैं। पहली, दूसरी, तीसरी बात को सहज ही स्वीकार कर लिया जाता है। चौथी बात के लिए संसार में आज भी संघर्ष हो रहा है और पाँचवीं बात के लिए आगे भी निरन्तर कार्य होता रहेगा, क्योंकि 'जिजीविषा' का 'उदात्त रूप' उसीमें अपना विकास निरन्तर प्राप्त करता है।

साहित्य इन पाँचों की सुन्दरतम रूपों में अभिव्यक्ति है। प्रश्न अपने मौलिक रूप में इसी प्रकार है, किन्तु उसे खण्ड-खण्ड करके देखा जाता है। यदि हम इस पूर्ण रूप को देखें तो हमारे सामने खण्डित रूप नहीं जाग सकेंगे, वरन् हम अपनी 'सापेक्ष पूर्णता' के अधिक-से-अधिक निकट हो सकेंगे।

सिद्धान्त के रूप में जो इतना सहज है उसकी अभिव्यक्ति आज निम्नलिखित रूपों में तर्क बानकर उपस्थिति प्राप्त करती है—

(१) वे लोग जो वर्ग-संघर्ष के माध्यम से साहित्य और मनुष्य को यांत्रिक बनाते हैं वे रूढ़िवादी दृष्टिकोण से देखते हैं।

(२) वे लोग जो आत्मवाद के नाम पर व्यक्ति को समाज से निरपेक्ष बनाकर देखते हैं वे अवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हैं।

पहला सम्प्रदाय जड़वादी है, दूसरा वास्तविकता को झुठलाने वाला। पहला अपनी बात को अन्तिम सत्य मानता है, दूसरा संशयवादी है। पहला रूसी साम्यवाद को ज्यों-का-त्यों भारत पर लागू करता है, दूसरा समाज की वैज्ञानिक व्याख्या से ही बरगला उठता है। पहला समाजीकरण में व्यक्ति को अस्वीकृत करता है, दूसरा व्यक्ति के नाम पर समाजीकरण का तिरस्कार करता है। पहला शताब्दियों से चले आए मनुष्य की अपूर्व गाथा को यन्त्रवत् देखता है, दूसरा आज तक के विकास को अस्वीकार करके किसी प्रकार का भी तारतम्य ही स्वीकार नहीं करना चाहता।

पहला कुत्सित समाज-शास्त्री है, दूसरा समाज-शास्त्र को ही नहीं मानता। इन दोनों के बीच का रास्ता ही ठीक है।

मार्क्सवाद से ही पहले सम्प्रदाय के लोग प्रेरणा लेते हैं और दूसरे सम्प्रदाय के लोग उसे ही अत्यन्त अपूर्ण और विदेशी समझते हैं, ऐसा कि वह भारतीय प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। दोनों के बीच बहुत बड़ी खाई है। साहित्य में पहले सम्प्रदाय की अभिव्यक्ति नीरस राजनीतिक रचनाओं में प्रकट होती है और दूसरे सम्प्रदाय की अभिव्यक्ति प्रयोगवाद का रूप धारण करती है। पहले सम्प्रदाय के पीछे वे लोग इकट्ठे होते हैं जो मूलतः विध्वंसवादी हैं, अतिक्रान्तिवादी और अराजकवादी हैं, और अवसरवादी हैं, तो दूसरे सम्प्रदाय के पीछे वे लोग आ खड़े होते हैं जो अपने पुराने व्यक्तिवादी दृष्टिकोणों को सहायता दिलवाना चाहते हैं, जिनमें पलायनवादी, कला कला के लिए वाले, निरपेक्ष शाश्वतवादी और इसी प्रकार के वे अन्य लोग हैं जो इतिहास की विराट् गति को किसी प्रकार रोक देना चाहते हैं, चाहे वे अपने कार्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का परिणाम स्वयं जानते हों, या नहीं जानते हों। वे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर दर्शन की उन अनबूझ उलझनों में जा डूबते हैं, जिनसे आज कोई हल नहीं निकलता और विशेष सामाजिक व्यवस्थाओं में जन्म लेने वाले विचारों को वे देश-काल से अलग करके शाश्वत काल तक का समाधान कर लेने के लिए मजबूर करते हैं।

दोनों ही एक से प्रगति-विरोधी हैं।

पहले सम्प्रदाय के लोग यह मानते हैं कि 'प्रगति' हो चुकी, अब आगे और नहीं होनी है, मार्क्स के सिद्धान्त ही अन्तिम सत्य हैं, और दूसरे सम्प्रदाय के लोग किसी और पुराने ही दर्शन को शाश्वत मानते हैं और व्यक्ति की नीयत देखकर उसके सामाजिक कार्य तथा उनके परिणामों को नहीं देखते।

बातचीत में बहुधा रूस को बीच में खींच लिया जाता है और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य या समाजीकरण के पक्षपाती अपने-अपने पक्ष की बात रूस से ही लेते हैं।

यह द्वन्द्व बढ़ता जा रहा है और इसके स्पष्टीकरण की अब साहित्यिक आवश्यकता हो गई है; क्योंकि यह विचार साहित्य पर प्रभाव डाल रहे हैं और इसीलिए प्रगतिशील साहित्य को जाँचने के आज एक से अधिक दृष्टिकोण हैं, जिनमें प्रमुख भेद इस प्रकार किया जा सकता है—एक वे हैं जो रूस से प्रेरणा ही नहीं प्राप्त करते, वरन् रूसी परिस्थिति को ज्यों-का-त्यों भारतीय परिस्थिति पर लागू करना चाहते हैं, दूसरे वे हैं जो रूस को एक ऐसी जगह समझते हैं जहाँ भौतिक समृद्धि के नाम पर समस्त व्यक्तिगत चिन्तन की स्वतन्त्रता छीन ली गई है, अतः उसकी जगह एक नया रास्ता निकालना चाहते हैं। दूसरे प्रकार के इन विचारकों में से कुछ लोग यह भी कहते हैं कि मूलतः कोई भी 'विचार' अपने-आपमें बहुत श्रेष्ठ होता है, परन्तु उसकी बुराई या निर्बलता तभी प्रकट होती है जब उसे व्यवहार में लाने की चेष्टा की जाती है।

वस्तुतः यह समस्त दृष्टिकोण एक उलझन के आधार पर खड़ा होता है। अपनी 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' नामक पुस्तक में मैंने इन प्रश्नों को हल करके स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था। किन्तु विचारकों में फिर भी कुछ शंकाएँ रह गई हैं, उन्हें मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

प्रगति निस्सन्देह केवल परिवर्तन नहीं है। प्रगति विकास में मिलती है। विकास का अर्थ स्पष्ट ही मनुष्य का कल्याण है। किसी भी व्यापकत्व की दुहाई देने वाला सिद्धान्त इसका विरोध नहीं कर सकता। पहले जहाँ वन थे, वहाँ अब सुन्दर नगर बने हुए हैं। पहले प्राणि-मात्र को वन में विचरण करने की स्वतन्त्रता थी। सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि भयानक जीव-जन्तु निरन्तर मनुष्य की जान को खतरे में रखते थे। अब मनुष्य ने उन सबको अपने पास से दूर खदेड़कर या नष्ट करके अपने जीवन को भयहीन बनाया है। यह जो जीवन को 'भयहीन' बनाने की क्रिया है, इसे 'प्रगति' ही कहना होगा, यद्यपि यह 'प्रगति' केवल मनुष्य की 'प्रगति' है, इसने हिंस्र पशुओं और जीवों की स्वतन्त्रता में व्याघात डाला है।

हमारे सारे दर्शन और जीवन के विचार, केवल इसी मूलाधार पर टिके हुए हैं और वह मूलाधार—मनुष्य का ही कल्याण है। हमारे सारे पुराने और मध्यकालीन धर्म भी इसी वस्तु-सत्य पर आश्रित हैं। अहिंसा का प्रचार करके जीव-मात्र की रक्षा करने वाला जैन धर्म भी अपने सिद्धान्त को केवल श्रावकों पर ही लागू करता है, संसार के साधारण गृहस्थों पर उसे लागू नहीं करता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि व्यापक पारलौकिक दृष्टि से देखा जाय तो यह 'प्रगति' मूलतः मनुष्य का 'जीवित बने रहने का स्वार्थ' ही है, और कुछ नहीं। परन्तु बड़े-से-बड़ा, पारलौकिक सिद्धान्तों को मानने वाला भी, इस स्पष्ट सत्य से इन्कार नहीं कर सकता कि मनुष्य के 'स्वार्थ' के बिना काम भी नहीं चल सकता। महाभारत में भी यह प्रश्न उठाया गया है। अहिंसा के विषय में विचार करते समय यह सवाल उठाया गया है कि यदि पूर्णतः अहिंसा को माना जाय तो फिर मनुष्य का जीवन-निर्वाह किस प्रकार हो; क्योंकि पशु, पक्षी, और जीव-जन्तुओं की ही भाँति वनस्पति भी प्राणधारी है और उसे खाने वाला मनुष्य हिंसा ही करता है। महाभारतकार ने अन्त में इसकी सुलझन यों प्रस्तुत की है—

मनुष्य को ईश्वर ने सर्वश्रेष्ठ बनाया है। यदि मनुष्य जीवित नहीं रहेगा, तो ईश्वर की एक श्रेष्ठ कृति नष्ट हो जायगी। ईश्वर ने ही यह भोजन संसार में नियत किया है। अतः जीवित रहने के लिए इतनी हिंसा तो नितान्त ही आवश्यक है।

महाभारतकार का यह स्पष्टीकरण वास्तव में मनुष्य का स्वार्थ ही है।

मनुष्य का स्वार्थ अन्य प्राणियों की भाँति अपनी जीवन-रक्षा में है। इस जीवन को, मनुष्य ने पहले हिंस्र पशुओं से बचाया था। कालान्तर में सामाजिक जीवन में रहते हुए उसने अपने सत् के, सुन्दर के, शिव के जितने दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं, वह मनुष्य के जीवन को सुन्दरतर बनाने के लिए ही प्रस्तुत किये हैं। पहले, मनुष्य अपने समाज की विषमशील परिस्थिति को भाग्य पर लागू करते थे, क्योंकि वे उनका कारण नहीं समझ पाते थे। अपनी 'हिन्दी-साहित्य की धार्मिक और सामाजिक पूर्वपीठिका' में दार्शनिक जनक के विषय में विस्तार से लिख चुका हूँ, जिसने इस संसार के दुःख से दुखी होकर संसार का त्याग कर दिया था, परन्तु बाद में कोई मार्ग नहीं पाने पर, फिर राज्य सँभाला था और अपने को सब सुख-दुःख के प्रति उदासीन बना लिया था। उच्चराजन्य वर्ग का व्यक्ति होने पर भी, क्षत्रिय-स्वार्थ में बद्ध जनक ने संसार का कल्याण करने का यत्न किया था। परन्तु समाज का विकास नहीं जानने के कारण राजा जनक मार्ग नहीं खोज सका। इस कथा को मैंने यहाँ दो कारणों से दुहराया।

एक तो इसलिए कि मैं व्यक्ति को समाज का अंग मानता हूँ, और व्यक्ति का स्वार्थ सदैव उसकी समाज-व्यवस्था पर निहित होता है, यह मेरे सामने अत्यन्त स्पष्ट है।

दूसरे इसलिए कि व्यक्ति समाज से अभिन्न होने के कारण मशीन नहीं हो जाता, वह चेतन रहता है, यह मेरी दृष्टि में अत्यन्त स्पष्ट है। व्यक्ति का समाजीकरण उसका हनन नहीं है, उसके निरन्तर होते रहने वाले विकास का पर्याय है।

जब यह सत्य हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है तब हम निस्संकोच कह सकते हैं कि प्रगति मूलतः मनुष्य के सामाजिक कल्याण के दृष्टिकोण का नाम है, जो केवल परिवर्तन में नहीं हो जाती जैसा कि हेगेल मानता था, वरन् उस विकास में होती है जो एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति में पहुँचने पर मनुष्य के जन-समाज को अधिक सुन्दर या समृद्ध, या स्वतन्त्र इत्यादि बनाती है।

यहाँ विकास की मोटे तौर पर होने वाली कड़ियों को दुहरा लेना आवश्यक है। यहाँ हम मार्क्स की व्याख्या देते हैं।

पहले आदिम साम्यवाद था। समूह का एकत्र होकर रहना, शिकार मिल-बाँटकर खाना, व्यक्तिगत सम्पत्ति का न होना, सामूहिक यौन-सम्बन्ध होना, सामूहिक गीत गाना इत्यादि ऐसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथ्य प्रायः ही संसार की जातियों के आदिम रूपों में मिलने वाले सत्य हैं। उस समय द्वेष इसीलिए नहीं था कि जलने की आवश्यकता नहीं थी। चोरी नहीं थी, क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। देखने को यह समय, यह व्यवस्था बहुत ही स्वप्न-भरी और मनोहारी लगती है। परन्तु इस परिस्थिति में मनुष्य प्रकृति के अन्य पशुओं की भाँति ही था। धीरे-धीरे 'आग' का जन्म हुआ अर्थात् मनुष्य ने 'आग' पर काबू पा लिया। अब समाज का विकास हुआ। अब मनुष्य की शक्ति बढ़ने लगी।

क़बीले एक दूसरे से लड़ने लगे। हारने वाले को गुलाम बनाया जाने लगा। देखा जाय तो जिस व्यवस्था ने मनुष्य को गुलाम बनाया, वह बहुत बुरी होनी चाहिए, परन्तु समाज के विकास के क्रम में दास-प्रथा एक समय उपयोगी सिद्ध हुई, क्योंकि अब मनुष्य के समाज ने 'प्रगति' की। प्रगति !! वह कैसे ?

वह इस प्रकार कि उत्पादन के साधनों पर उसका पहले से अधिक अधिकार हुआ, समाज ने अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाईं। जिस समय समाज में दास-प्रथा का विकास हो चुका, उसकी 'प्रगति' समाप्त हो गई, समाज में 'सामन्तीय व्यवस्था' ने पदार्पण किया। भारत में यह परिस्थिति, यह परिवर्तन-क्रम महाभारत-युद्ध के बाद से प्रारम्भ हुआ और चाणक्य तक पूर्ण हुआ, यहाँ धीरे-धीरे विकास हुआ। पश्चिम में स्पार्टाकस दास के सशस्त्र-विद्रोह के भी प्रमाण मिलते हैं, जो असफल हो गया था।

सामन्तीय व्यवस्था में 'दास' 'भूमिबद्ध किसान' बना, और समाज में जहाँ पहले से अधिक समृद्धि आई, मनुष्य को 'मनुष्यत्व' के नाम पर अधिक सम्मान भी दिया गया। उसके बाद पूँजीवादी व्यवस्था ने पदार्पण किया और जहाँ समाज और भी अधिक समृद्ध हुआ, मनुष्य के 'मनुष्यत्व' को और भी अधिक स्वतन्त्रता देने की घोषणा हुई वहाँ 'शोषण' सामंतीय शोषण की तुलना में 'अधिक हृदयहीन' हो गया।

इस शोषण के अन्त में समाजवादी व्यवस्था ने अपना सिर उठाया, जिसकी अपनी विशेष परिस्थितियों में रूस और चीन ने अपने-अपने देशों में स्थापना की। मैं उनमें नहीं हूँ कि मनुष्य की किसी भी परिस्थिति को उसकी युगसापेक्षता से अलग करके देखूँ और उसे शाश्वत मान लूँ। रूस और चीन में अभूतपूर्व उन्नति हुई है किन्तु उसके साथ ही व्यक्तित्व पर प्रतिबन्ध भी दिखाई दिये हैं। किन्तु वह देश-विशेषों की विकासशील परिस्थितियाँ हैं और वे न तो सार्वभौम हैं, न वे मूल सिद्धान्त के ऊपर ही प्रहार हैं, वे तो उस सिद्धान्त को लागू करने के उन देशों के अपने तरीके हैं। यहाँ हम यह कहना ही आवश्यक समझते हैं कि मूलतः मनुष्य की प्रगति समाज का कल्याण है, केवल व्यक्ति का नहीं; और प्रगति वास्तव में वही है जो व्यक्ति की भी स्वतन्त्रता को मानती है, और व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी समाज की स्वतन्त्रता की ही भाँति उसके विकास में निरन्तर बढ़ती है। यदि इनमें से एक भी दबता है, तो वहाँ कुछ गड़बड़ ज़रूर है और वह गड़बड़ ही समाज और व्यक्ति के सामरस्य में बाधा उपस्थित करती है और वही प्रगति को रोकने वाली वस्तु है।

अतः हमारे सामने यह स्पष्ट है कि आदर्श व्यवस्था वह है जहाँ समाज में शोषण नहीं है और व्यक्ति अपना विकास करने के लिए स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र का अर्थ यह नहीं कि वह निरंकुश है। परन्तु घुटा हुआ, दमित नहीं है। इन दोनों का संतुलन कठिन है यह तो खैर स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है ही, किन्तु कठिन होने के कारण ही न तो हम व्यक्ति को समाज से अलग करके देख सकते हैं, न समाज को ही व्यक्तित्व का विनाश करते देखकर ठीक कह सकते हैं।

व्यक्ति और समाज के इस पारस्परिक सम्बन्ध का विकास प्रत्येक देश की विचार-धारा से प्रभावित मिलता है। हम यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि भारतीय चिन्तन में वैष्णव मत ने जो मानवतावादी विचार-धारा शताब्दियों से फैलाई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है और इसीलिए भारतीय विचारक समाज और व्यक्ति के अन्योन्याश्रय के प्रति अधिक जागरूक रहे।

: २ :

अत्यन्त दुरूह, अपरिभाष्य और कठिन शब्द कहकर कुछ विचारक 'मानवतावाद' को व्यर्थ कहते हैं। उनका कहना है कि आज तक बर्बर-से-बर्बर व्यक्ति भी 'मनुष्यत्व' का विरोधी नहीं रहा है और अपनी राय में 'अच्छा' ही समझकर करता रहा है। फिर इसी 'मनुष्य के कल्याण' के लिए विभिन्न विरोधी किन्तु महान् कवि भी मिलते हैं, जैसे तुलसी और कबीर। इनके अतिरिक्त कुछ कवियों ने केवल 'सौन्दर्य' का ही वर्णन किया है और वे कल्याण-अकल्याण के झगड़े में नहीं पड़े जैसे 'बिहारी' आदि। अतः 'मानवतावाद', 'कल्याण', 'बहुजनहिताय' आदि 'लघु' हैं, व्यर्थ हैं, अपरिभाष्य हैं। और यह मान लेते हैं कि व्यक्ति एक धारा—एक गढ़ी हुई समाज-विकास की विचार-धारा के अन्तर्गत हैं—मशीनवत् हैं और परतन्त्र हैं, जब कि 'स्वेच्छा' बहुत बड़ी शक्ति है और 'स्वेच्छाकृत साहित्य' ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह व्यक्ति के विकास का परिणाम है और साहित्य 'व्यक्ति' द्वारा ही बनता है।

हम इन्हीं आक्षेपों का उत्तर देते हैं।

पहली बात तो यह है कि कोई भी संसार की परिभाषा अपने-आपमें पूर्ण नहीं है, वह एक से अधिक मनुष्य की विशेष शब्दावली में बँधी स्वीकृति है। गणित में भी 'बिंदु' वह है जिसकी कि न लम्बाई है न चौड़ाई, किन्तु पेंसिल से निशान लगाये 'बिंदु' को हमें बिंदु कहकर इसलिए मानना पड़ता है कि उसके बिना काम नहीं चलता। हमारी स्वीकृतियों के सत्य 'सापेक्ष' हैं, पूर्ण नहीं, प्रगतिशील हैं, अन्त नहीं। अतः न हम 'सत्य', 'स्वेच्छा' 'सौन्दर्य, और 'शिव' की ही ऐसी परिभाषा दे सकते हैं, न 'मानवतावाद', 'कल्याण' और 'बहुजनहिताय' की; जैसी कि भावना के क्षेत्र में माँगी जाती है। हम तो केवल एक ही मर्यादा से इनको जाँच सकते हैं—और वह इसी आधार को मानती है कि 'वह एक से अधिक मनुष्य की विशेष शब्दावली में बँधी स्वीकृति है।'

हम 'लघुत्व' की बात करते हुए कहते हैं कि वास्तव में हम 'जीवन' का तात्पर्य नहीं जानते।

यह सृष्टि विराट् है, गहन है, अपरिमेय है और स्वयंजात है, न हम आकाश के विराट् विस्तार को जानते हैं, यह भी नहीं जानते कि सूर्य का गतिपथ क्या है, कैसा है, परन्तु इस छोटी-सी पृथ्वी पर हम रहते हैं और महाभारतकार के शब्दों में—हम इस मार्ग का आदि और अन्त नहीं जानते, केवल मध्य जानते हैं। इस सृष्टि में कोई 'जीवित रहने की इच्छा' के अतिरिक्त 'आत्म-हत्या' को रोक नहीं सकता। हम आत्म-हत्या करने के लिए स्वतन्त्र हैं। पर करते नहीं। क्यों? आत्मा को मानना, न मानना अलग वस्तु है, परन्तु सब जीवित रहना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

REFERENCE BOOK

चाहते हैं और वह भी तब जब कि मृत्यु निश्चित है और उसका समय अनिश्चित है ! इसी को दार्शनिक युधिष्ठिर संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य कहा करते थे। फिर यह 'जिजीविषा' क्यों है ? 'क्यों ?' का कोई उत्तर नहीं, वही 'जिजीविषा' है, इसीके लिए मनुष्य ने कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र, विभिन्न वाद, काव्य-साहित्य और न जाने क्या-क्या बनाये हैं। इसीको लेकर हमें भी चलना होगा, जिसके अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं है।

: ३ :

यह 'जिजीविषा' मनुष्य के विकास के साथ अपने सुन्दरतर रूप में अभिव्यक्त हुई है और 'एक की जिजीविषा' ही 'बहुजन जिजीविषा' के उदात्त रूपों में प्रकट हुई है, इसीका सुसंस्कृत रूप 'मानवतावाद' है। बर्बर-से-बर्बर अपने-आप तो नहीं कहता कि वह मनुष्य-विरोधी है, अंग्रेज भी हिन्दुस्तान पर इसीलिए राज्य करते थे कि भारतीयों को सभ्य बना सकें, परन्तु मैंने पहले स्पष्ट किया है कि इसका मानमूल्य हम 'बहुजनहित', 'कल्याण' की कसौटी पर करते हैं और यही 'मानवतावाद' की कसौटी है। इसी मानवतावाद के विकास को समाज के विकास के अतिरिक्त और देखा ही नहीं जा सकता। समाज के भीतर विभिन्न वर्ग होते आये हैं और जब तुलसी, कबीर और बिहारी का प्रश्न आता है तब हमें स्पष्ट ही समाज के उत्पीड़क और उत्पीड़ितों के तत्कालीन रूपों को देखना पड़ता है और उस संघर्ष में हमें यह देखना पड़ता है कि किसका कार्य किसके पक्ष में अधिक था। उदाहरण के लिए कबीर ने उत्पीडक हिन्दू-मुस्लिम-धर्म का विरोध करके निम्नवर्ग अर्थात् 'बहु जनहित' की रक्षा की। तुलसी इस क्षेत्र में उत्पीड़कों के अधिक साथ वे यद्यपि वे भी उतना कठोर व्यवहार दलितों के साथ नहीं चाहते थे। किन्तु तुलसी ने 'कल्याण' 'बहु जनहित' और 'मानवतावाद' की रक्षा की थी 'मुस्लिम साम्राज्य' के विरुद्ध स्वर उठाकर, क्योंकि 'मुस्लिम साम्राज्य' तब अत्याचार करता था। यदि हम पूरी परि-स्थिति को नहीं देखेंगे तो सदैव ही हमें गड़बड़ मिलेगी। बिहारी ने यद्यपि 'सौन्दर्य' की बागडोर पकड़ी और उच्च वर्गों का साथ दिया, परन्तु उसने जिन चित्रों का सृजन किया वे प्रेम और आनन्द का भी द्योतन करते थे, अतः वह स्थायी महत्त्व प्राप्त कर सके ! किन्तु बिहारी में क्योंकि 'सामाजिक तथ्य' कम है, बिहारी उतने बड़े कवि भी नहीं हुए, न माने जाते हैं, जितने कि तुलसी और कबीर थे। और वैष्णव-चिन्तन से प्रभावित जिस 'राधाकृष्ण-युगल' को बिहारी ने चित्रित किया है, उस आराधना के मूल में ही 'समन्वय' का दृष्टिकोण था, जो यदि स्पष्ट नहीं था, तो वहाँ भी अन्तर्निहित ही था। अब अन्तिम बात है कि व्यक्ति की स्वेच्छा समाज से अलग होती है और व्यक्ति जब साहित्य बनाता है तब समाज से अलग हो जाता है। यह दोनों ही तथ्य अनर्गल हैं। न कभी व्यक्ति 'स्वेच्छा' को समाज से अलग कर सका है, न व्यक्ति समाज से अलग होकर साहित्य रच सका है। 'समाज से अलग' न होने का तात्पर्य है कि वह समाज का ही वर्णन करता है, समाज के लिए ही करता है। 'स्वेच्छा' 'निरंकुशता' से अलग है। 'निरंकुशता' अन्यों के अधिकारों पर चोट करती है। 'स्वेच्छा' अपनी सामाजिक 'अति' के रूप में निरंकुशता है। 'स्वेच्छा' का वास्तविक अर्थ होना चाहिए—'व्यक्ति की प्रतिभा का विकास और उसकी शक्ति', वह होनी चाहिए और आदर्श समाज यही है जिसमें उसका विकास हो सके और अधिक-से-अधिक हो सके।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस प्रकार एक पिता के तीन पुत्र हों और उन्हें सर्वांग शिक्षण की सुविधा हो, तब वे अपनी प्रतिभा के अनुकूल विकास करें, किन्तु किसी को भी एक-दूसरे को दबाने का अधिकार न हो, वही आदर्श परिस्थिति है। इसी स्थिति को व्यापक रूप देने से 'मानवतावाद' का जन्म होता है; जो 'बहुजनहित' और 'कल्याण' पर आधारित है। हमारा सारा ज्ञान 'सापेक्ष' है और इसीलिए हमारा 'मानवतावाद' का दृष्टिकोण भी 'सापेक्ष' है, मनुष्य-कृत है, मनुष्य-हित है, और मनुष्य के ही भविष्य के लिए है। जिस प्रकार जंगली शेर को मनुष्य 'पिंजड़े' में बन्द करके मनुष्यता का कल्याण करता है और बर्बर सिंह की 'स्वेच्छा' को स्वीकार न करके अपने कल्याण को ही श्रेष्ठ कहता है, उसी प्रकार साहित्य भी अपने उदात्त रूप में व्यक्ति की 'स्वेच्छा' को बन्दी करके 'बहुजनहित' के 'लघु' स्वार्थ को ही 'स्तुत्य' कहता है, क्योंकि उसकी यह 'लघुता' ही उसके सारे 'अस्तित्व' की 'एक-मात्र महानता' है, जिसके परे की 'व्यापकता' का कोई मूल्य नहीं है। 'बर्बर दास-प्रथा' से निकलकर सामन्तीय उत्कर्ष ने अपने प्रगति काल में जब 'आत्मा को समान' और 'व्यक्ति को दासत्व से मुक्त' किया था तब सार्वभौम 'रति' को साहित्य का 'मूल' कहा था। जब हम 'सामन्त काल' से आगे आये हैं और 'पूँजीवाद' के शोषण को हटाकर 'नये समाज' की नींव रख रहे हैं, तब हम 'रति' को व्यक्ति की ही परिसीमा में रखकर नहीं देखते, उसकी जिजीविषा' को समाज के समकक्ष, सापेक्ष रख कर देखते हैं और व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध देखकर उसकी 'रति' नामक 'जिजीविषा' को 'मानवतावाद' का नाम देते हैं और यही 'मानवतावाद' साहित्य का स्थायी मूल्य है ऐसा निर्विवाद मानते हैं, क्योंकि यह 'मानवतावाद' मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का पर्याय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर नगेन्द्र

हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र (सम्भावनाएँ)

हिन्दी-आलोचना-शास्त्र !—यह विषय जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही विषम भी। इस समस्त शब्द को सुनकर मेरे मन में चार प्रश्न अनायास ही उठ खड़े होते हैं : (१) क्या भाषा के आधार पर आलोचना-शास्त्र की परिकल्पना तर्क-संगत है ? (२) क्या हिन्दी-आलोचना-शास्त्र-जैसा कोई स्वतन्त्र विधान विद्यमान है ? (३) यदि विद्यमान है तो उसका विकास किस प्रकार किया जा सकता है ? और (४) क्या स्वतन्त्र भारत में, जब प्रादेशिक भावना की दीवारों को तोड़कर भारतीय चेतना का उदय हो रहा है, इस प्रकार का प्रयत्न आवश्यक तथा उपयोगी होगा ! प्रस्तुत विषय का विवेचन मैं इन्हीं चार प्रश्नों के आधार पर करूँगा।

पहला प्रश्न है : क्या भाषा के आधार पर आलोचना-शास्त्र की परिकल्पना तर्क-संगत है ? मेरा अनुमान है कि आलोचना-शास्त्र से अभिप्राय शायद साहित्यालोचन की सिद्धान्त-संहिता का है, जिसे अंग्रेजी में 'प्रिंसिपल्स ऑफ़-लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' कहते हैं और प्राचीन भारतीय वाङ्मय में जिसके साहित्य-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि अनेक नाम थे। मेरा विचार है कि काव्य शब्द को सृजनात्मक साहित्य का वाचक मानकर हिन्दी में हमें काव्य-शास्त्र शब्द को इस अर्थ में रूढ़ कर देना चाहिए। काव्य-शास्त्र वस्तुतः काव्य-सम्बन्धी तथ्यों अथवा नियमों का आकलन-मात्र नहीं है—वह काव्य का दर्शन है अर्थात् काव्य के माध्यम से व्यक्त मानव-सत्य का अनुसन्धान एवं उपलब्धि है। सत्य का अनुसन्धान और उपलब्धि क्या भाषानुसार खण्डित किये जा सकते हैं ? यह शंका मेरे मन में, और मैं समझता हूँ आप में से अनेक के मन में, उठ सकती है ? तो क्या बंगला-काव्य-शास्त्र, असमिया-काव्य-शास्त्र, उर्दू-काव्य-शास्त्र, मराठी-काव्य-शास्त्र और इसी प्रकार हिन्दी काव्य-शस्त्र का संस्कृत या भारतीय-काव्य-शास्त्र से स्वतन्त्र तथा परस्पर-भिन्न अस्तित्व है ? इस प्रश्न की पहली प्रतिक्रिया तो नकारात्मक ही होती है—लगता है कि तब तो दर्शन को भी भाषावार विभक्त करना पड़ेगा : हिन्दी-दर्शन, उड़िया-दर्शन, कन्नड़-दर्शन ? सामान्यतः दिक्कालावच्छिन्न सत्य का, अनुसन्धान की सुविधा के लिए, पूर्व और पश्चिम, या अधिक-से-अधिक प्रजाति या राष्ट्र के आधार पर पृथक् अध्ययन कर लीजिए, परन्तु एक ही राष्ट्र की समानमातृका भाषाओं में उसे बाँटना तो नितान्त अनुचित होगा। किन्तु यह बात नहीं है। दर्शन, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया है, सत्य की उपलब्धि-मात्र नहीं है, उसका अनुसन्धान भी तो है—यों कहना चाहिए कि अनुसन्धान ही अधिक है, क्योंकि उपलब्धि के उपरान्त तो वाणी मौन हो जाती है; अनुसन्धान की प्रक्रिया सर्वथा दिक्कालावच्छिन्न नहीं हो सकती; क्योंकि अनुसन्धाता की अपनी शक्ति, सीमा तथा परिस्थिति का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सत्य की उपलब्धि तो सामान्य रहती है और रहेगी, किन्तु उस उपलब्धि के लिए अनुसन्धान की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया विशिष्ट ही होती है। इसी विशिष्टता के आधार पर दर्शन अथवा काव्य-दर्शन के विशिष्ट रूप की परिकल्पना करना तर्कहीन नहीं है। संस्कृत और अंग्रेजी से हिन्दी का अपना स्वतन्त्र काव्य है, अतः उसके माध्यम से सत्य के अनुसन्धान की प्रक्रिया भी स्वतन्त्र हो सकती है—दूसरे शब्दों में हिन्दी का अपना स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र हो सकता है।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि क्या हिन्दी में इस प्रकार का अपना कोई स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र विद्यमान है? हिन्दी में काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का अभाव नहीं है। रीति-काल में पूरी दो शताब्दियों तक निरन्तर रीति-ग्रन्थों की रचना होती रही और सहस्रावधि ग्रन्थ प्रकाश में आये—आधुनिक युग में भी लगभग अर्ध-शताब्दी से इस क्षेत्र में अनवरत कार्य हो रहा है। जिसके फलस्वरूप वर्तमान काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ भी कम संख्या में उपलब्ध नहीं हैं। रीति-युग में जहाँ केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, श्रीपति, सोमनाथ, दास और प्रतापसाहि-जैसे सर्वांग-विवेचक आचार्य हुए, वहाँ आधुनिक युग में भी पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक अनेक उद्‌भट विद्वानों ने इस अंग की श्रीवृद्धि की है; और आज भी, मेरी धारणा है कि हिन्दी-साहित्य का सबसे पुष्ट अंग आलोचना ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कदाचित् यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है। परन्तु प्रश्न परिमाण का नहीं है, गुण का भी नहीं है—प्रश्न यह है कि क्या इस ग्रन्थ-समुदाय पर आधारित हिन्दी-काव्य-शास्त्र का संस्कृत और वर्तमान युग में अंग्रेजी अथवा अधिक-से-अधिक यूरोपीय काव्य-शास्त्र से, स्वतन्त्र अस्तित्व है? इस प्रश्न के उत्तर में सहसा 'हाँ' कहना कठिन है, क्योंकि रीति-युग का विवेचन दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ और भानुदत्त आदि का ही उपजीवी है। तुलनात्मक अध्ययन से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि हिन्दी के रीतिकारों ने परम्परागत काव्य-शास्त्र के विकास में भी कोई विशेष योग-दान नहीं किया, स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र के निर्माण का तो प्रश्न ही क्या? अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण इस बात के साक्षी हैं कि हिन्दी के रीति-ग्रन्थों में यदि कहीं तथाकथित स्वतन्त्र विवेचन दृष्टिगत भी होता है तो वह या तो किसी अप्रचलित संस्कृत-ग्रन्थ में ही मिल जाता है, या अपने-आपमें नगण्य सिद्ध हो जाता है, या हिन्दी-रीतिकार की भ्रान्ति का परिणाम-मात्र होता है। वर्तमान काव्य-शास्त्र-ग्रन्थों में अनेक आचार्य हिन्दी के उदाहरण तक देने में असमर्थ रहे हैं। उनके लक्षण आदि तो संस्कृत से उद्धृत हैं ही, उदाहरण भी संस्कृत उदाहरणों के ही अनुवाद हैं। ऐसी स्थिति में हमारे साहित्य में ऐसा क्या है जिसे हम हिन्दी का अपना काव्य-शास्त्र कह सकें?—इसमें सन्देह नहीं कि इस आलोचना में बहुत-कुछ तथ्य है, परन्तु दृष्टिकोण में थोड़ा-सा परिवर्तन कर देने से चित्र इतना विकृत नहीं रह जायगा। वास्तव में हिन्दी-रीति-शास्त्र का मूल्यांकन करते हुए आज भी हम संस्कृत-काव्य-शास्त्र के मानदण्डों का प्रयोग करते हैं—यह भी उसी भूल की पुनरावृत्ति है जो हमारे प्रायः सभी प्राचीन तथा अनेक नवीन रीतिकारों ने की है: अर्थात् लक्ष्य और लक्षण की असंगति। संस्कृत में लक्ष्य-काव्य और लक्षण-ग्रन्थों में पूर्ण सामंजस्य था: भामह, वामन, आनन्दवर्धन तथा कुन्तक आदि ने सिद्धान्त-विवेचन का आधार उपलब्ध काव्य को ही बनाया था। उन्होंने चाहे निगमन शैली का अवलम्बन किया हो या आगमन शैली का, परन्तु संस्कृत-काव्य का आधार कहीं नहीं छोड़ा—इसीलिए उनके लक्षण और लक्ष्य के बीच प्रत्यक्ष तथा जीवन्त सम्पर्क आद्यन्त बना रहा; जिसने उनके काव्य-शास्त्र को रूढ़ि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जड़ नहीं होने दिया। हिन्दी का रीतिकार इसी जीवन्त सम्बन्ध-सूत्र को नहीं पकड़ पाया : परिणाम यह हुआ कि वह प्राचीन लक्षणों का अनुवाद करके उनकी सिद्धि के लिए नये उदाहरण रचता रहा। इस प्रकार सारा क्रम ही उलट गया—आवश्यक यह था कि वह हिन्दी में उपलब्ध लक्ष्य-काव्य के आधार पर निगमन शैली से लक्षण-रचना करता या हिन्दी-काव्य के आधार पर संस्कृत-सिद्धान्तों का परीक्षण एवं पुनराख्यान करता, परन्तु वह लक्षण को सिद्ध करने के लिए लक्ष्य की रचना करने लगा। आज हम फिर इसी दृष्टि से हिन्दी-रीति-साहित्य का मूल्यांकन करके उसी मूल की आवृत्ति कर रहे हैं—परिणाम यह होता है कि उसमें जो थोड़ा-बहुत अपना है वह भी संस्कृत-काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कसने से उपेक्षित या तिरस्कृत हो जाता है और हमें लगता है कि हमारे पास कुछ नहीं है।

परन्तु स्थिति इतनी दयनीय नहीं है। हिन्दी के प्राचीन तथा नवीन हिन्दी-काव्य में—और काव्य-शास्त्र में भी इतनी सामग्री निश्चय ही विद्यमान है कि उसके आधार पर हिन्दी के अपने विशिष्ट काव्य-शास्त्र के अस्तित्व की परिकल्पना असंगत नहीं कही जा सकती : कम-से-कम हिन्दी के पास इतना मूलधन अवश्य विद्यमान है कि उसके आधार पर एक अच्छे काव्य-शास्त्र का निर्माण किया जा सकता है जो संस्कृत तथा अंग्रेजी का उपजीवी न होकर हिन्दी की अपनी सम्पत्ति होगी। मैं कुछ उदाहरण देकर अपनी स्थापना को पुष्ट करता हूँ। पहले लक्षण-ग्रन्थों को ही लीजिए—इसमें सन्देह नहीं कि हमारे अधिकांश लक्षण ग्रन्थ संस्कृत-अलंकार-शास्त्र या कवि-शिक्षा-ग्रन्थों के ही उपजीवी हैं, परन्तु उनमें ऐसी पर्याप्त सामग्री है जो नई है : उदाहरण के लिए रस अथवा शृंगार रस के सार्वभौम महत्त्व की प्रतिष्ठा जैसी हिन्दी में है, वैसी संस्कृति में नहीं है। संस्कृत का मान्य सिद्धान्त, समग्रतः ध्वनि ही रहा है : आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि को सर्वप्रभुत्वसम्पन्न सत्ता से मण्डित कर दिया था और रस, अलंकार आदि उसीके अधीनस्थ हो गए थे। हिन्दी रीति-शास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त रस ही हुआ : रीति-युग में शृङ्गार रस की ऐसी सहस्रधारा प्रवाहित हुई कि ध्वनि, अलंकार आदि उसमें निमग्न हो गए—यहाँ शृङ्गारवाद के रूप में एक पृथक् सम्प्रदाय ही उठ खड़ा हुआ। आप कहेंगे कि शृङ्गार के रसराजत्व के सूत्र भी तो संस्कृत से ही प्राप्त हुए थे—परन्तु सूत्र तो सभी के कहीं-न-कहीं से प्राप्त होते ही हैं, महत्त्व उस स्वतन्त्र और व्यापक रूप-आकार का है, जो शृङ्गार ने हिन्दी-काव्य-शास्त्र में धारण कर लिया था। वास्तव में हिन्दी के आचार्य की दृष्टि ही बदल गई थी—और इसका एक अद्भुत प्रमाण यह है कि महाराज रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के कोटि-क्रम का विधान किया है; यह ध्वनि के लिए सबसे बड़ी चुनौती और रस की सार्वभौम प्रभुता का अन्तिम प्रमाण था। देव ने अनेक प्रकार से रस का प्रबल पृष्ठपोषण और ध्वनि का पूर्ण तिरस्कार किया। यहाँ तक कि उन्होंने व्यंजना को रस-कुटिलता के कारण अधम ही कह दिया। अलंकार के क्षेत्र में अतिशय तथा वक्रता आदि के स्थान पर हिन्दी में सादृश्यमूलक उपमादि की प्रतिष्ठा हुई, गुणों में माधुर्य की (चिन्तामणि आदि ने उसे काव्य का सर्वस्व माना है) और शब्दालंकारों में अनुप्रास की। यह सब शृङ्गार रस की ही महिमा थी जिसका चमत्कार नायिका-भेद के क्षेत्र में भी अधिक प्रकाशित हुआ—शुक्ल जी-जैसे शास्त्रनिष्ठ आलोचक को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी में नायिका-भेद का विधान कहीं अधिक समृद्ध एवं सर्वांगपूर्ण है।—हिन्दी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्द-शास्त्र तो प्रायः स्वतन्त्र रूप में विकसित हुआ ही है—दास आदि ने तुक की विवेचना करके एक स्वतन्त्र परिपाटी का शिलान्यास किया। इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; परन्तु उनके लिए इस समय न अवकाश है, और न आवश्यकता ही। आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी-रीति-शास्त्र का मूल्यांकन पूर्णतया संस्कृत के आधार पर ही न होकर स्वतन्त्र बुद्धि से भी किया जाय। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि हिन्दी के रीतिकारों की त्रुटियों और भ्रान्तियों को भी प्रमाण मान लिया जाय। हमारा रीति-शास्त्र संस्कृत पर आश्रित रहा है, अतएव संस्कृत-काव्य-शास्त्र के प्रकाश में उसका अध्ययन होना तो ठीक ही है और ऐसा अनेक विद्वान् कर भी चुके हैं। किन्तु मेरा निवेदन केवल यही है—उसके साथ-साथ स्वतन्त्र दृष्टि से भी हिन्दी-रीति-शास्त्र का पर्यालोचन अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि हमको यह नहीं भूल जाना चाहिए कि हिन्दी के रीतिकार एक सर्वथा भिन्न युग तथा भिन्न साहित्य के प्रतिनिधि थे। संस्कृत की ऋणी होने पर भी उनकी काव्य-चेतना स्वतन्त्र थी। इस प्रसंग में मुझे अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि-आलोचक ड्राइडन की एक प्रसिद्ध उक्ति का अनायास ही स्मरण हो जाता है। वे लिखते हैं—'हमें हर जगह यह दुहाई नहीं देनी चाहिए कि अरस्तू का मत भिन्न था। आज यदि अरस्तू होता तो वह भी अपना मत बदल देता।' काव्य-शास्त्र का यह ज्वलंत सत्य है, इसकी उपेक्षा कर देने से हिन्दी में जो कुछ स्वतन्त्र है, वह भी उपेक्षित हो जाता है।

रीति-विवेचन के अतिरिक्त हिन्दी के प्राचीन काव्य में भी इतनी प्रभूत सामग्री है कि उसके आधार पर अपने स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र का निर्माण अत्यन्त सफलता पूर्वक किया जा सकता है। आरम्भ से ही हिन्दी की अपनी विशिष्ट काव्य-चेतना रही है, जो स्वतन्त्र काव्य-रूपों में अभिव्यक्त होती आई है—जैसे रासो-काव्य का अपना स्वतन्त्र स्वरूप है; जिसे आप संस्कृत के महाकाव्य तथा खण्डकाव्य के लक्षणों में नहीं बाँध सकते, आल्ह खण्ड-जैसे वीर-गीतों का भी अस्तित्व पृथक् ही है। हिन्दी का सन्त-काव्य, काव्य की मूल चेतना और अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से, संस्कृत-काव्य-शास्त्र के लक्षणों में नहीं आता। इसी युग के प्रेमाख्यानक-काव्यों की परम्परा को शास्त्रीय प्रबन्ध-काव्य की कसौटी पर आँकना उचित नहीं है। भक्ति-युग में गीति और प्रबन्ध के अपूर्व समन्वय से जो एक नवीन किन्तु अत्यन्त प्रबल काव्य-रूप आविर्भूत हुआ उसको आप न संस्कृत-रूढ़ मुक्तक की परिभाषा में बाँध सकते हैं, न प्रबन्ध की, और न पाश्चात्य गीति-काव्य की। इसी प्रकार रीति-काल में सवैया तथा घनाक्षरी में जो अद्भुत् रस-व्यंजना हुई वह न संस्कृत के मुक्तक की परिधि में आती है और न अंगरेज़ी के गीत की : उसमें मुक्तक की अपेक्षा कहीं अधिक आत्म-तत्त्व और गीत की अपेक्षा कहीं अधिक वस्तु-तत्त्व विद्यमान रहता है। इन सभी अभिव्यंजना-रूपों का अध्ययन संस्कृत के लक्षणों अथवा सर्वथा भिन्न देश-काल में विकसित यूरोपीय काव्य-शास्त्र की परिभाषाओं के द्वारा करने के स्थान पर हिन्दी की प्रकृति और स्वरूप—हिन्दी की अपनी विकासोन्मुखी काव्य-चेतना तथा उसके सहज माध्यम काव्य-रूपों के विश्लेषण द्वारा कदाचित् अधिक सफल हो सकेगा। काव्य-शास्त्र के उस चिरन्तन सिद्धान्त के अनुसार यहाँ भी आलोचक को अपनी आलोचना-दृष्टि आलोच्य में से ही प्राप्त करनी होगी—और इसमें इन कवियों की अपनी उक्तियाँ, जो आत्म-निरीक्षण के क्षणों में स्वतः उद्गीथ हो गई हैं, आपका पथ-प्रदर्शन करेंगी। तुलसी और घनानन्द-जैसे कवियों में इस प्रकार का आत्मा-लोचन पर्याप्त मात्रा में मिलेगा : आप कल्पना कीजिए कि रीति के उस रूढ़ि-ग्रस्त युग में घना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
८४
दि ३७आ
अं-२४
079560

079560

नन्द में आत्म-तत्त्व के पोषक इस प्रकार के अनेक उद्धरण सहज ही मिल जाते हैं :

लोग तो लागि कवित्त बनावैं पै मोहि तो मेरे कवित्त बनावत !

तुलसीदास अपने मंगलाचरण में ही वाणी और विनायक का विचित्र संयोग करके अपनी कल्याणमयी सौन्दर्य-भावना की व्यंजना कर देते हैं।

हिन्दी के आधुनिक काव्य-शास्त्र तथा काव्य के विषय में तो और भी अधिक क्षेत्र है। मैं यह मानता हूँ कि आरम्भ में जो रीति-ग्रन्थ लिखे गए उनमें स्वतन्त्र दृष्टि का प्रायः अभाव है—आधार चाहे भारतीय काव्य-शास्त्र रहा हो या पाश्चात्य। परन्तु यह भी अनुपयोगी नहीं था, भारतीय दृष्टिकोण को समझने के लिए सर्वश्री अर्जुनदास केडिया, जगन्नाथप्रसाद 'भानु' और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के ग्रन्थों की उपादेयता अतर्क्य है, इसी प्रकार 'साहित्यालोचन' आदि ने पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त करने में बड़ी सहायता की है और इस दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व आज भी नगण्य नहीं है। परन्तु हिन्दी-काव्य-शास्त्र का स्वतन्त्र रूप इनमें न मिलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि की समीक्षा में ही मिलता है। इधर आधुनिक काव्य और उससे सम्बद्ध अनेक प्रतिभाशाली कवियों की भूमिकाओं में हिन्दी-काव्य-शास्त्र के विकास के लिए अत्यन्त पुष्ट आधार मिलता है। छायावाद में पन्त आदि सक्षम कलाकारों ने जिस नवीन सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष किया है वह हिन्दी की अपनी विभूति है, जो बंगला और अंगरेजी की रोमानी छाया से स्वतन्त्र है। कला की अन्तश्चेतना और बाह्य अभिव्यंजना दोनों के विकास में उसका अपना विशिष्ट योगदान है, जिसका उचित मूल्यांकन अभी होना है। 'यशोधरा' और 'द्वापर'—'तुलसीदास', 'बापू' और 'कुरुक्षेत्र'—और इन सबकी मुकुट-मणि—'कामायनी'—आधुनिक हिन्दी-काव्य की अनेक अनुपम कृतियाँ हैं : आप उन्हें संस्कृत या अंगरेजी के किस काव्य-रूप के अन्तर्गत लक्षण-बद्ध करेंगे ? गद्य में भी इसी प्रकार विस्तृत क्षेत्र है : शुक्लजी के या सियारामशरण के निबन्धों को, अथवा महादेवी के रेखा-चित्रों को आप बलात् 'ऐसे' की किस परिभाषा में बाँध सकेंगे ? प्रसाद के नाटकों के साथ भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-विधान के आरोप के कारण कितना अन्याय होता रहा है ? मैंने अनेक साहित्य-मर्मज्ञों को यह कहते सुना है कि 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास नहीं है, वह उपन्यास और जीवनी के बीच की कोई वस्तु है। यहाँ कदाचित् आपके या किसी के मन में एक भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है और वह यह कि कहीं मैं इन ग्रन्थों को आदर्श साहित्य-रूप मान लेने की सिफ़ारिश तो नहीं कर रहा हूँ। न ही मैं इनके दोषों की उपेक्षा नहीं करना चाहता—और न इन्हें परिपूर्ण ही मानकर चलता हूँ। मेरा मन्तव्य केवल यही है कि हिन्दी-आलोचना-शास्त्र का विकास हिन्दी के आलोच्य साहित्य से निरपेक्ष होकर नहीं होना चाहिए। उसके निर्माण और विकास के लिए परिपुष्ट आधार विद्यमान है : आज उसके सम्यक् उपयोग की आवश्यकता है। यह उपयोग किस प्रकार हो सकता है ? इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि हिन्दी-साहित्य की परम्परा को आधार मानकर भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों के सामंजस्यपूर्ण पुनराख्यान के द्वारा यह महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध हो सकता है। इसका दिशा-निर्देश आचार्य शुक्ल और कवि प्रसाद के विवेचन में मिल जाता है : शुक्लजी ने भारतीय सिद्धान्तों का पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के अनुसार विवेचन-व्याख्यान किया है और प्रसादजी ने पाश्चात्य सिद्धान्तों का भारतीय चिन्ता-पद्धति के अनुसार।

इस प्रकार आरम्भ में मैंने जो चार प्रश्न उठाये थे- उनमें से तीन का उत्तर मैं अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतानुसार दे चुका। अब चौथा प्रश्न शेष रह जाता है। उसका उत्तर देकर मैं इस वक्तव्य का उपसंहार करता हूँ। आज जब प्रादेशिक भावनाएँ भारतीय चेतना में संश्लिष्ट हो रही हैं: इस प्रकार का प्रयत्न क्या आवश्यक तथा उपयोगी होगा? इस प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने के उपरान्त हिन्दी-साहित्य तथा भाषा दोनों का भारतीय आधार पर विकास होना आवश्यक है, परन्तु हिन्दी के विकास के लिए वे ही नियम लागू होने चाहिएँ जो मनोविज्ञान आदि में व्यक्तित्व के विकास के लिए निर्धारित हैं। व्यक्तित्व के विकास के लिए वातावरण में उपलब्ध सभी तत्त्वों का उचित उपयोग आवश्यक होता है, परन्तु आधार व्यक्तित्व की मूल-प्रवृत्तियाँ ही रहती हैं। इसी प्रकार हिन्दी भाषा एवं साहित्य का विकास संस्कृत तथा द्रविड़ भाषाओं में निहित भारतीय परम्पराओं तथा पाश्चात्य चिन्ता-धाराओं के पोषक तत्त्वों द्वारा होना सर्वथा श्रेयस्कर है; किन्तु उसका आधारभूत व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहना चाहिए: इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के संश्लिष्ट व्यक्तित्व का विकास ही श्रेयस्कर है। व्यक्तित्व खोकर विकास कैसा! संस्कृत-काव्य-शास्त्र का भाण्डार अत्यन्त विभूति-सम्पन्न है, इसमें कौन सन्देह कर सकता है—भरत से लेकर जगन्नाथ तक प्रसरित यह समृद्ध परम्परा हमारी अमूल्य थाती है: उसका उचित अध्ययन अभी नहीं हुआ है। उधर प्लैटो से लेकर क्रोचे तक विस्तृत चिन्ता-धारा भी हमें विदेशी शोषण की क्षति-पूर्ति में मिली है, उसका भी हमारा ज्ञान बड़ा कच्चा है। इन अभावों की पूर्ति के लिए हिन्दी के मेधावी आलोचकों के सामुदायिक प्रयत्न की अपेक्षा है: और उनके लिए यह कार्य किसी प्रकार दुष्कर नहीं है, क्योंकि यदि आप आत्म-श्लाघा न मानें तो मैं एक बार फिर निवेदन कर दूँ कि हिन्दी का आलोचना-साहित्य आज कदाचित् उसका सबसे पुष्ट अंग है। इस प्रकार हिन्दी के स्वतन्त्र आलोचना-शास्त्र का सम्यक् विकास किया जा सकेगा जिसका मूल आधार होगा, हिन्दी के माध्यम से काव्य के चिरन्तन सत्यों का अनुसन्धान, जो भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों की समृद्ध परम्पराओं से पोषण प्राप्त करेगा, परन्तु उनकी व्याख्या या अनुवाद-मात्र होकर नहीं रह जायगा।

●

डॉक्टर भगीरथ मिश्र

हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र (आवश्यकता)

हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में आज हमारे सामने कई प्रश्न हैं और समीक्षा के विकास के पथ पर आगे बढ़ने के पूर्व, हमें इनके उत्तर प्राप्त करने हैं; अन्यथा, न तो काव्य-शास्त्र या समीक्षा-शास्त्र का ही कोई निश्चित रूप बन पायगा, जिसमें हमारी कोई विशिष्ट देन हो सके और न उसके विकास के मार्गों में ही कोई सामंजस्य सम्भव हो सकेगा। प्रश्न ये हैं—(१) हमें आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय काव्य-समीक्षा के सिद्धान्तों का क्या और कैसे उपयोग करना चाहिए? (२) हम पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों से क्या और कैसे ग्रहण कर सकते हैं? (३) क्या हिन्दी का कोई अपना निजी समीक्षा-शास्त्र हो सकता है? यदि हाँ, तो उसका विकास, किस प्रकार किया जा सकता है? ये तीन प्रमुख प्रश्न हैं, जिन पर हमें विचार करना है। इन्हीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सम्बन्धित और भी छोटे-मोटे प्रश्न हो सकते हैं जिनमें से अधिकांश का समाधान, इन्हींके समाधान के साथ हो सकता है।

पहले प्रश्न का पूरा विस्तार इस प्रकार होगा। क्या आज की समीक्षा के लिए प्राचीन भारतीय समीक्षा-पद्धतियाँ आवश्यक हैं? यदि आवश्यक हैं तो किस अंश तक हम उनका उपयोग कर सकते हैं? उनका उपयोग समीक्षा के आधुनिक रूप को कहाँ तक प्रगति और विकास देने में समर्थ होगा और उसके द्वारा कहाँ तक नवीन रचनाओं की प्रेरणा मिल सकेगी, साथ ही उनका यथार्थ मूल्यांकन हो पायगा? मैं समझता हूँ कि ये प्रश्न अधिकांश आलोचकों और लेखकों के मन में उठते होंगे और इनके भिन्न-भिन्न उत्तर भी हमारे सामने आते हैं। कुछ लोग इन प्राचीन पद्धतियों को आज के लिए बिलकुल निकम्मी समझते हैं और उनको, किसी रूप में भी आधुनिक आलोचना-पद्धति के लिए उपयोगी नहीं मानते। कुछ लोग, दूसरी ओर इन्हींको कसौटी मानकर आधुनिक रचनाओं को कसते हैं और उनके आधार पर खरी न उतरने वाली कृतियों को देखकर निराश होते हैं। मेरी समझ में ये दोनों ही दृष्टियाँ एकांगी हैं। जिस समय ये सिद्धान्त बने थे, तब से हमारे दृष्टिकोण और संस्कारों में बहुत कुछ विकास और परिवर्तन हुआ है, अतः उन सिद्धान्तों को यथावत् आधार मानकर हम अपना काम नहीं चला सकते। प्रमुख प्राचीन काव्य-सिद्धान्त, अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, अनुमिति और औचित्य हैं। इन सबकी कसौटी पर कसकर भी, हम ऐसा अनुभव करते हैं जैसे हमने किसी रचना का पूर्ण महत्त्व और प्रभाव स्पष्ट नहीं कर पाया। इन सिद्धान्तों पर कसने से आचार्य-वाक्य प्रमाण ठहरते हैं, पर कवि की अपनी मौलिकता को हम प्रकट नहीं कर पाते। संस्कृत-साहित्य में प्राप्त काव्य में समस्त लक्षणों और तत्त्वों को सामने रखकर भी काव्य की व्यापक, गम्भीर महत्ता हृदयगंम नहीं कर पाते जो कि उसी साहित्य की ही, कवि और काव्य-प्रशस्तियों में प्रकट है। अतः निश्चित है कि हमें आज की दृष्टि से नये सिद्धान्त स्थिर करने चाहिएँ, जो काव्य और साहित्य के समग्र महत्त्व को प्रकट कर सकें।

परन्तु, एक बात का ध्यान हमें रखना है। संस्कृत-साहित्य के अनेक काव्य-सिद्धान्त, सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्त्व रखते हैं, अतः हम उनका पूर्णतया त्याग नहीं कर सकते। उनका उपयोग हमें नवीन, विकसित रूप में करना चाहिए। इस दृष्टि से अलंकार, रस और ध्वनि-सिद्धान्त आज भी हमारे लिए उपादेय हैं। आज के कवियों ने अपने प्रयोगों में अलंकारों का विकास किया है। अलंकारों के नवीन प्रयोगों और उनके भेद-प्रभेदों के विकास को आज की कविता में अध्ययन करके, यह निश्चित किया जा सकता है कि अलंकार कविता में अनिवार्य हैं या नहीं। पूर्ववर्ती अलंकारों का आज किस प्रकार विकास हुआ है, यह अध्ययन की वस्तु है। अलंकार के आधार पर जो काव्य-सौन्दर्य स्पष्ट होगा, वह अन्य आधारों पर नहीं। रस की दृष्टि से भी आज की रचनाओं में नवीन भावों की अभिव्यक्ति और पूर्वनिर्दिष्ट भावों की विवृति हुई है; देश-प्रेम, मानव-प्रेम धीरे-धीरे स्थायी भाव-से बनते जा रहे हैं, नये भाव भी अभिव्यक्त हुए हैं; जिन्हें पुराने लक्षण-बद्ध भावों के क्षेत्र में बन्द नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त रस भावानुभूति की प्रक्रिया पर भी आधुनिक मनोविज्ञान-प्रबुद्ध दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार शब्द-शक्तियों और ध्वनि-सिद्धान्त के क्षेत्र में भी सुन्दर प्रयोगों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होगा। ये सिद्धान्त इतने व्यापक हैं कि इन पर किसी भी भाषा के काव्य को परखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है।

बहुत-कुछ इसी प्रकार की बातें हम दूसरे प्रश्न के उत्तर में भी कह सकते हैं। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय आलोचना-पद्धति के कुछ रूपों को आज भी हम उपादेय ठहराते हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य आलोचना के भी कुछ रूप हमारे लिए नवीन और आवश्यक हैं। ऐतिहासिक आलोचना और व्याख्यात्मक आलोचना इनमें प्रमुख हैं। ऐतिहासिक आलोचना के आधार पर ही हम किसी कृति का युग की पृष्ठभूमि में मूल्यांकन कर सकते हैं। जो कृति आज महत्त्वपूर्ण है सौ वर्ष बाद आवश्यक नहीं कि उसका महत्त्व उतना ही बना रहे। अतः कवि और उसकी कृति के साथ न्याय करने के लिए ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति आवश्यक है। व्याख्यात्मक आलोचना और भी अधिक उपादेय है। हम व्याख्यात्मक आलोचना के आधार पर, किसी भी कवि के निजी विशिष्ट काव्यादर्श को स्पष्ट कर सकते हैं। ऐसे ही किसी युग-विशेष की प्रवृत्तियों के विश्लेषण से युग की विशिष्ट काव्य-चेतना को समझकर उस युग के काव्यादर्शों को ढूँढा जा सकता है।

प्रश्न यह उठता है कि वैयक्तिक काव्यादर्शों और युग-विशेष के काव्यादर्शों की क्या आवश्यकता है? उसकी आवश्यकता अनेक दृष्टियों से है। जिस प्रकार हमारी सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक और उपकरण युगानुकूल बदलते रहते हैं, कुछ मूलभूत बातें और तत्त्व आती-जाती हैं और कुछ बातें बीच में कुछ समय तक उपेक्षित रहकर फिर नवोदित होती हैं, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी नवीन तत्त्वों का समावेश और प्राचीन तत्त्वों का तिरोभाव और नवोदय होता रहता है और इस प्रकार काव्यादर्श का विकास भी देखा जा सकता है, साथ ही इसके आधार पर नये सिद्धान्तों को भी खोजा जा सकता है। यदि इस प्रकार कवि के वैयक्तिक तथा युग के विशिष्ट प्रयोगों को प्रत्यक्ष न किया जाय, तो काव्य और उनके शास्त्र दोनों का ही विकास रुक जाता है। अतः व्याख्यात्मक समीक्षा-पद्धति हमारे बड़े काम की है।

काव्य और साहित्य व्यक्ति की सृष्टि और समाज की वस्तु हैं। अतएव व्यक्ति और समाज का ज्ञान प्रस्तुत करने वाले अनेक शास्त्र, काव्य में लागू होते हैं। वरन्, हम कह सकते हैं समाज और व्यक्ति के यथार्थ जीवन को सँजोये रखने वाली वस्तु काव्य ही है। ऐसी दशा में अनेक शास्त्रों के आधार पर भी काव्य की समीक्षा और उसका अध्ययन किया जा सकता है। जैसे मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र की दृष्टि से तथा समाजवादी कसौटी पर काव्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। परन्तु यह आलोचना की कोई नई प्रणाली नहीं, वरन् शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति के ही ये विविध रूप हैं। काव्य को जैसे हम काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों की कसौटी पर कस सकते हैं, वैसे ही समाज-शास्त्रीय या मनोशास्त्रीय कसौटी पर। यह शास्त्रीय या निर्णयात्मक आलोचना का विस्तार है।

वैयक्तिक काव्यादर्शों का विकास पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में खूब देखने को मिलता है, परन्तु उनका उपयोग व्यापक काव्य-सिद्धान्तों के निर्माण में उतना नहीं किया गया। वैयक्तिक काव्यादर्शों के अध्ययन का प्रयत्न हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र के भीतर बहुत कम हुआ है। जब तक समस्त हिन्दी-काव्य के क्षेत्र से वैयक्तिक और युग के काव्यादर्शों का वास्तविक अध्ययन न किया जाय, तब तक हिन्दी-काव्य के आधार पर किसी नवीन सिद्धान्त का विकास हो सकता है या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हिन्दी-समीक्षा के अन्तर्गत जो प्रयत्न रीति-काल या मध्य-युग में हुआ है, उसमें हिन्दी-काव्य के वास्तविक स्वरूप और निजी प्रतिभा का विश्लेषण बिलकुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हुआ। इतना ही नहीं संस्कृत-काव्य-शास्त्र का आधार ग्रहण करके काव्य-रचना की प्रवृत्ति ने, बड़े-बड़े प्रतिभाशाली कवियों की प्रतिभा को भी स्वतन्त्र मार्ग में पूर्ण प्रकाश करने का अवसर नहीं दिया, फिर भी हम चन्द वरदायी, कबीर, विद्यापति, तुलसी, सूर, सेनापति, बिहारी, देव, घनानन्द, ठाकुर, पद्माकर, हरिश्चन्द्र आदि की रचनाओं में इनके निजी काव्यादर्शों को ढूँढ सकते हैं और उसके आधार पर ही हम उनकी विशेषताओं को स्पष्ट कर सकते हैं।

हिन्दी-कवियों की धारणा द्वारा काव्य का जो स्वरूप स्पष्ट होता है उसे संस्कृत-आचार्यों की परिभाषाओं द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** या **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** अथवा **'शब्दार्थौ सहितं काव्यम्'** आदि में काव्य का महत्त्वपूर्ण व्यापक स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। तभी कबीर कहते हैं **'कवि कवीने कविता मूये'** और गोस्वामी तुलसीदास जी कवित-विवेक का दावा नहीं करते और यही कहते हैं कि **'सत्य कहौं लिखि कागद कोरे'**। इसी परम्परा में आकर हमारे आधुनिक कवि भी **'जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है'**, कहते हैं। ये सभी धारणाएँ हमें काव्य के स्वरूप की फिर से परीक्षा करने के लिए प्रेरित करती हैं। जयशंकर प्रसाद तो **'सत्य को अपने मूलचारुत्व'** में ग्रहण करना ही काव्य मानते हैं। काव्य के इस स्वरूप को लेकर आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। यदि हम यह समझ लें कि भौतिक तथ्यों का अनुसन्धान और उद्घाटन जिस प्रकार वैज्ञानिक करता है, कवि भी उसी प्रकार हमारे मानसिक और आध्यात्मिक तथ्यों का उद्घाटन करता है, तो हम काव्य का यथार्थ मूल्य समझ सकते हैं। एक के लिए आँसू हाइड्रोजन और आक्सीजन का सम्मिश्रण है, तो दूसरे के लिए **'मस्तक में स्मृति रूप में छाई घनीभूत पीड़ा का, दुर्दिन में आँखों के द्वारा प्रकट रूप है'**। दोनों ही सत्य के रूप हैं।

मेरा अपना विश्वास तो कुछ ऐसा ही है कि साहित्य की समीक्षा का शास्त्र काव्य और साहित्य के इसी प्रकार के स्वरूप को स्पष्ट करे और काव्य और साहित्य के माध्यम से सत्य के उस पक्ष का विकास करने में सहायता प्रदान करे, जो वैज्ञानिक के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है, जो सुरुचि और सौन्दर्य को भी महत्त्व देता है और उसका एक अंग मानता है और जिसके आधार पर कवि के उद्गार हैं **'सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है'** (Beauty is truth, truth is beauty) जिसमें **'सत्यं शिवं सुन्दरं'** में भेद नहीं; वे एक ही वस्तु के विभिन्न पक्ष हैं।

मेरा आग्रह यह कदापि नहीं कि हिन्दी-समीक्षा-शास्त्र, अन्य समीक्षा-शास्त्रों से कोई नितान्त भिन्न हो सकता है और हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी के अलग-अलग समीक्षा-शास्त्र होने चाहिएँ। समीक्षा के व्यापक सिद्धान्त तो सभी साहित्यों पर लागू होंगे, परन्तु हिन्दी-कवियों और उनकी रचनाओं के द्वारा अभिव्यक्त स्वरूप को लेकर साहित्य-समीक्षा की एक नई और अब तक प्राप्त ज्ञान के आधार पर अधिक सम्पन्न कसौटी तैयार की जा सकती है। ध्वनि-सिद्धान्त के समान, काव्य का कोई और व्यापक तथा आज की चेतना और धारणा को अपनाकर विकसित होने वाला काव्य-सिद्धान्त ढूँढा जा सकता है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि इसके ढूँढे जाने पर हमारे प्राचीन या आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्त व्यर्थ हो जायँगे या उनका महत्त्व कम हो जायगा। मेरा उद्देश्य यही है कि हमें काव्य के सिद्धान्तों का विकास करना चाहिए जैसा कि बराबर होता आया है। आज उसका फिर अवसर हम अनुभव करते हैं, क्योंकि कवि और पाठक काव्य के समुचित मूल्यांकन के लिए अब तक प्राप्त और प्रचलित किसी एक परिपाटी से सन्तुष्ट नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर की पंक्तियों में मैंने यह भी सुझाने का प्रयत्न किया है कि मेरी दृष्टि से इसकी कार्य-प्रणाली क्या है ! आशा है विद्वान् लोग इस विषय पर अपने विचार और कार्य से हिन्दी-संसार को अवगत करेंगे ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य-
-संसार

न्द्र यादव

हिन्दी के सामाजिक कथा-नायकों का विकास[1]

ाल

ाँ वल् ज्याँ' को जिन हाथों ने गढ़ा है, सचमुच वे बहुत कुशल और महान् कलाकार हाथ हैं ; एक ऐसे समर्थ कलाकार के मस्तिष्क की प्रतिभा उसमें बोलती है जो भारत की क्षा सामाजिक रूप से अधिक विकसित परिस्थितियों में जी रहा था। ह्यू गो की शब्द-बहुलता अवान्तर प्रसंगों के प्रति अनुरक्ति भी उस चरित्र की अदम्य जीवनी-शक्ति को छीन नहीं सकी आखिर 'पूज्य-विशप' को गढ़ने वाली सारी कलात्मक गरिमा पर वह 'महान् अपराधी' स्वयं धिकार कर बैठा। उसकी हर टक्कर का एक ही दूसरा चरित्र मेरी निगाह में आता है वह भूतनाथ'। वस्तुतः कितने आश्चर्य की बात है कि सामन्तवादी खण्डहरों की इस एक-मात्र ी को हिन्दी के बड़े-बड़े दिग्गजों ने अत्यन्त उपेक्षा और तुच्छता की दृष्टि से देखा है और ो के नीचे कराहते व्यक्ति की तरह यह गदाधरसिंह हर साहित्य के इतिहास-लेखक की ओर ना-भरी दृष्टियों से देखता रहा है। फिर भी भूतनाथ इतना निरीह नहीं है, भरसक वह सर्व-मान् है, वह 'अय्यार' है। जिन परिस्थितियों ने 'ज्याँ वल् ज्याँ' को अपराधी, नास्तिक लुटेरा बना दिया है, लगभग वैसी ही परिस्थितियों ने गदाधरसिंह को 'भूतनाथ' अय्यार य्यार का अर्थ अरबी में है—बहुत चलने वाला। शायद इसीसे 'चलता हुआ' बना है।) न में की गई 'एक भूल' उसे खा गई और यह 'अय्यार' हिन्दी के नवीनतम उपन्यासों में बदल-बदलकर आता रहा।

भूतनाथ साधारण पात्र नहीं है। सामन्तवाद के बड़े-बड़े आदर्श राजा-महाराजाओं, -प्रेमिकाओं और युद्ध-द्वन्द्वों के बीच में (पन्द्रहवें भाग में) जिस पात्र के लिए स्वयं ग्रन्थकार यह कहना पड़ा हो कि "इस उपन्यास-भर में जैसा भूतनाथ का अद्भुत रहस्य है, वैसा किसी नहीं।" और स्त्रियों के लिए युद्ध करने वाले पतनशील सामन्तवाद की अट्ठाईस भागों की ाओं के घटाटोप से मनु की तरह जो पात्र उभरकर आता है और अन्त में जो स्वयं लेखक इतना विवश कर देता है कि वह उसकी स्वतन्त्र आत्म-कथा ही लिखे—वह है मध्यवर्ग का क भूतनाथ। दुष्ट और महात्माओं के 'सपाट' चरित्रों के बीच यही एक आदमी है जिसे वह जाना पड़ा है, जो यह कभी नहीं चाहता था। उस समय का यह पहला पात्र है जिसके र द्वन्द्व है, कचोट है।

'चन्द्रकान्ता सन्तति' साधारण पाठक के लिए चाहे जो हो, लेकिन उपन्यास के माध्यम युग का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए तत्कालीन समाज का ऐसा विशाल, किन्तु ज़रा

[1] इस लेख के उपशीर्षकों का उन्हीं नामों के उपन्यासों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्र दर्पण है, तिलस्म है कि जिसकी चाबी मिलते ही सब दरवाजे अपने-आप खुलते हैं। यह तिलस्म न 'तिलस्मे होशरुबा' से लिया गया है और न 'दास्ताने अमीर हम क्योंकि दोनों के कथानकों की तर्ज में जमीन-आसमान का फ़र्क है। इन दोनों पुस्तकों में नक एक निहायत ही अनिश्चित गति से आगे बढ़ता है और तिलस्म वहाँ दैवी शक्तियों चालित होता है। अय्यारों की भी अपनी मेधा, सूझ या चातुर्य काम नहीं करते, मुसीबत में उनकी मदद को आते हैं। 'होशरुबा' का तो उर्दू अनुवाद ही 'चन्द्रकान्ता' के बाद 'उमरू अय्यार' चाहे शाहे लन्धौर के जाल में हों या 'जोहराए मिस्री' के; 'हजरत ख्वा उसकी मदद को आ जाते हैं। इसके ठीक विपरीत चन्द्रकान्ता के कथानक को आगे-पी का ताना-बाना बुनकर दैवी अतिरंजनाओं से बचाते हुए जो तर्क-संगत गढ़ाव दिया गया पाठक की बुद्धि और उत्सुकता को आदि से अन्त तक जकड़े रहता है। उसमें समाज वैज्ञानिक युग की पूर्व सूचनाओं के आधार पर, ऊपर से असम्भव लगने वाले इन तिल बिलकुल वैज्ञानिक मशीनरी द्वारा ही सम्भावित-संचालित दिखाने का प्रयत्न ही नहीं बल्कि बाद के परिशिष्ट में उसको और भी दलीलों से मान्य ठहराने की कोशिश की है तक कि हम (इक्कीसवें भाग) में सिनेमा देखते हैं, बिजली के बाजे सुनते हैं और स बिजली की तरह चमककर करैण्ट से अचेत कर डालने वाले खंजर तो पूरे कथानक में किये हुए हैं। बड़े-बड़े पहिए, चर्खियाँ, पेच और बटन ये सब उगते पूँजीवाद की छा तो क्या हैं? हाँ, भारतीय गौरव उस सबको विदेशी देन कहकर स्वीकार करने को तैयार और ''ये चीजें तो हमारे यहाँ भी थीं'' की भावना से ऐतिहासिकता का जामा पहना प्रस्तुत करता था। इसका सबसे अच्छा उदाहरण 'आश्चर्य वृत्तान्त' है। यही दम्भ आ ऐतिहासिक ऐश्वर्यों से पूर्ण उपन्यास लिखने को प्रेरित करता है। तो उस समय का तिलस् में और कुछ नहीं वैज्ञानिक विकास और आविष्कारों में चमत्कृत वस्तुसत्य की अनिवा (क्योंकि तत्कालीन समाज उन सबसे सुनकर ही परिचित हुआ था, जीवन में अनुभव ही कर रहा था) तथा पतनशील सामन्ती विचार-धारा के मानसिक द्वन्द्व और खिंचाव बिम्ब है। यही कारण है कि जैसे-जैसे सामन्ती विकास छूटता जाता है, तिलस्म शुद्ध विकास बनता जाता है—'स्वर्ण रेखा', 'सुफेद शैतान', 'रक्त मण्डल' और 'लाल पंजा' विकास-चिह्न हैं। यों लेखक के 'अनजान'! में ही एक समाज-सत्य से उद्भूत 'चन सन्तति' के तिलस्म का कल्पनारूपक आगे जाकर दो धाराओं में उड़ता दिखाई देता है शुद्ध सामन्तकालीन कथाएँ और दूसरी शुद्ध अय्यारी, तिलस्मी या जासूसी कहानियाँ। सत्य दोनों से लुप्त होता चला जाता है और बाद के इस ढेर में 'भूतनाथ' का कहीं प चलता, केवल उसकी लाश लटकती रहती है।[1] यह उसके अज्ञातवास का काल है लेकि भग 'चौदह वर्ष' के बाद अचानक 'सेवा सदन' के प्रारम्भिक पृष्ठों में ही दारोग़ा कृष्णच उसके परिवार के रूप में प्रकट होकर यह एकदम पूरे साहित्यिक-संसार को चौंका देता है वह ऐसा वेश भी रख सकता है इसकी किसी को कल्पना भी नहीं थी।

मध्यवर्गीय व्यक्ति या भूतनाथ के विकास पर आने से पहले इसके पूर्वरूप की रे स्पष्ट कर दी जायँ।

१. भूतनाथ उपन्यास का अन्त।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के हिन्दी-लेखकों की एक चीज़ देखकर वास्तव में आश्चर्य बिना नहीं रहता—वह है समाज के प्रति उनकी ईमानदारी, उसकी समस्याओं का चित्रण निदान खोजने की अकुलाहट। चाहे वे उपन्यासकार श्रीनिवासदास हों या निबन्धकार नारायण मिश्र; नाटककार भारतेन्दु हों या पत्रकार बालमुकुन्द गुप्त सभी के सामने तत्कालीन आएँ हैं और वे उनको हल करते हैं।

खुले आम १८५७ में समाज-व्यवस्था में परिवर्तन के परिणामस्वरूप लोगों के सामने ई समस्याएँ, व्यक्ति और परिस्थितियाँ आ रही थीं, संस्कारबद्ध हृदय द्वारा इन नई स्थितियों को स्पष्ट स्वीकार नहीं किया जा सकता था; अतः ऐतिहासिक परम्पराओं से जोड़ काटकर उन्हें ग्राह्य और अग्राह्य बनाया-बताया जा रहा था। वह निरीक्षण-परीक्षण जहाँ को अपने वर्तमान रूप के प्रति जागरूक बनाकर राष्ट्रीय चेतना बना रहा था, वहीं संस्कृति-त्य की परम्पराओं की रक्षा के लिए आर्यसमाजी तथा अन्य सुधारवादी आन्दोलनों के रूप जाग रहा था। पुराने को किस तरह ढाला जाय कि नये के अनुकूल तो वह बने ही—नये मक-दमक, शक्ति और सामर्थ्य के सामने भी हेय न ठहरे यही एक 'स्पिरिट' उस समय के ग पूरे साहित्य में आई है। देवरानियों—जिठानियों की लड़ाई को समाप्त करके एक आदर्श थ की स्थापना (भाग्यवती—श्रद्धाराम फिल्लौरी), नई रोशनी की स्त्रियों की भर्त्सना करके र्श भारतीय नारी के रूप की महिमा (स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी—लज्जाराम)[1] या युवकों के लिए आदर्श चरित्र की अवतारणा (नूतन ब्रह्मचारी—बालकृष्ण भट्ट) या फिर ऐतिहासिक ऐश्वर्य में अपनी तत्कालीन वस्तुस्थिति को भूल जाने वाले उपन्यास ही मय मिलेंगे। ऐतिहासिक उपन्यासों (या रचनाओं) के तो प्रेमचन्द्र के काफी बाद तक दो ही दृष्टिकोण दिखाई देते हैं—एक तो प्राचीन गौरव की विशद विरुदावली, दूसरा वर्तमान दुरवस्था के कारण और निदान की खोज। राष्ट्रीयता की परिभाषा चूँकि तब तक हीं चुकी थी, इसलिए तत्कालीन विदेशी शोषण इत्यादि को प्राचीन विदेशी आक्रमणकारियों तीकों द्वारा बताया जा रहा था, इसीलिए गुप्त-काल से लेकर मुग़ल-काल तक इनका 'कैन-था।

पूँजीवादी व्यवस्था आने से जो एक नया वर्ग—मध्य वर्ग—प्रकाश में आ रहा था, ी रूप-रेखाएँ स्पष्ट होती जा रही थीं। इस वर्ग के दो छोर थे—देशी व्यापारी और बाबू

[1] 'आदर्श दम्पति' की भूमिका में मेहताजी ने लिखा है—**"यद्यपि उपन्यास आजकल बिलकुल कल्पित और ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर लिखे जाते हैं और इसलिए इनकी कथा कोई प्रमाणभूत नहीं मानी जाती है, परन्तु मैं मानता हूँ और बड़े-बड़े विद्वान् मानते हैं कि उपन्यास समाज का चित्र है और आज उपन्यास की जो कथा कल्पित मानी जाती है, वही समय पड़ने पर इतिहास बन जाती है। इसलिए उपन्यास ऐसा बनना चाहिए जिससे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो—उन्हें पढ़ने से पाठकों के चरित्र सुधरें और वे दुराचार से छूटकर सदाचार में प्रवृत्त हों।"**

ऐसी ही बात बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान एक सुजान' के अन्त में लिखी है—"अन्त में हम अपने पढ़ने वालों को सूचित करते हैं कि आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हो तो हमारे इस उपन्यास को पढ़कर हम आशा करते हैं सुजान बनें।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग। इस वर्ग के दोनों ही प्रतिनिधि हमारे कथा-साहित्य में हैं। नवाबों और राजा
स्थान अब समाज में सेठ लोग ले रहे थे और मुसाहिबों तथा हाली मवालियों का
क्लर्क या मुन्शी लोग।

यह सेठ किस तरह बिगड़ जाते हैं—इस पर तत्कालीन सामाजिक स्थिति का
सुन्दर चित्रण करते हुए तीन प्रमुख उपन्यास हमारे सामने हैं—लज्जाराम मेहता का
रसिकलाल' बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान' और श्रीनिवासदास का '
गुरु'। बम्बई, लखनऊ और दिल्ली के व्यापारी क्रमशः इनके नायक हैं। रसिकलाल
वेश्या की मदद से सोहनलाल को बिगाड़ता है, लेकिन माधवदास उसका तथा उसकी
उद्धार करता है—यह ढाँचा तीनों ही उपन्यासों का कहा जा सकता है। लेकिन सबसे
बोलते पात्र हैं—लाला श्रीनिवासदास के। 'हिन्दी के इस पहले उपन्यास में कथानक,
कथन, चरित्र-चित्रण, शैली, देश-काल और उद्देश्य आदि सभी के प्रति जो सावधानी औ
लता है उसे देखकर तो सचमुच ऐसा लगता है कि बँगला आदि के अनुवादों ने हिन्दी-उ
के स्वाभाविक अंकुर को कुचल दिया। दोनों सेठों के मुक़ाबिले सेठ मदनलाल अधिक
जागता मनुष्य है और सचमुच हर दृष्टि से 'सेवा सदन' तक इस उपन्यास-कला की को
नहीं मिलती। ध्यान रखना चाहिए कि उठती हुई महाजनी सभ्यता तब अपने प्रगतिशी
में थी—कुछ-कुछ पतन के चिह्न उसमें जरूर दृष्टिगोचर होते जा रहे थे। प्रथम महायुद्ध
में जब अपनी मृत्यु का पहला उद्घोष उसने किया तो उसका 'रोल' बिलकुल बदल गया
कभी वह 'ज्ञानशंकर' के रूप में, कभी 'जॉन सेवक' के वेश में और कभी 'रायसाहब' की
में अपनी असली सूरतें दिखाने लगा। इन तीनों उपन्यासों में भी सेठों का बिगड़ना साम
सत्य है और उनका सुधार लेखकों की आदर्शवादी कल्पना का आग्रह। उस युग में
लाला श्रीनिवासदास विदेशों में धन जाने की बात को अपने उपन्यास में वाद-विवाद
देते हैं तो उनकी सत्य की पकड़ की तारीफ़ किये बिना नहीं रहा जाता।

दूसरा वर्ग है शहरी बाबू वर्ग और उसका प्रतिनिधि है—भुवनेश्वर मिश्र का
झगड़ूलाल (घराऊ घटना)। गृहस्थी की, पड़ौस की घटनाहीन बात और केवल एक
का रोजमर्रा का चित्रण भी उपन्यास का विषय हो सकता है उसको उस समय शायद कोई
भी नहीं पाता था। खास तौर से ऐसे विषय के रूप में जिसका उद्देश्य कोई सामाजिक उपदेश
नहीं था। लेकिन क्या युवक गृहस्थ की मनोभावनाएँ और क्या वस्तु-चित्रण सभी में 'स्केच'
के मूल बीज हमें 'घराऊ घटना' में मिल जाते है। बहुत सीधी शैली, बड़ी सादी बात और
रोचक कहानी। 'घराऊ घटना' उस समय की अकेली रचना है जो प्रथम पुरुष में (बाद के
नाथ' को छोड़कर) लिखी गई है। आज भी झगड़ूलाल के साथ उसकी बीवी की बात
गहनों के लिए पैंतरे या पड़ोसी नौकर की झड़प उस समाज का सफलतम चित्र दे देते हैं।
जाने 'गबन' का प्रेरणा-स्रोत यही हो।

व्यक्ति बन रहे थे—वस्तुसत्य उभर रहा था और सबके ऊपर समस्याओं का ऐसा
था कि कुछ सुनाई नहीं देता था। व्यक्ति, वस्तु-सत्य और समस्याएँ सब अलग-अलग थे
एक ऐसे कलाकार की कलम का माध्यम पाने के लिए ये सब छटपटा रहे थे, जो एक साथ
को मिलाकर युग-सत्य को साहस से रख सके। व्याकुलता थी और समाधान नहीं था—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जल्दी उसका कोई उपचार भी नहीं था इसलिए अनुवाद स्थानापन्न बने हुए थे।

'चन्द्रकान्ता' के लेखक की सफलता यह थी कि उसने बहुत काफी कूड़ा-करकट छानकर एक ऐसे पात्र को खोज निकाला था जो दो समाज-व्यवस्थाओं की सन्धि से झाँककर प्रयत्नपूर्वक अपना सिर उठा रहा था और आने वाली समस्याओं को अपने में समोकर साक्षात् प्रश्न-चिह्न बना समाज-द्रष्टा उपन्यासकार के सामने जा खड़ा हुआ था—"बताओ मैं कौन हूँ, इस समाज में क्या मेरा स्थान है और क्या मेरा भविष्य है?"

मध्यवर्ग का प्रतीक भूतनाथ दो प्रवृत्तियों का द्वन्द्व है। वह किन्हीं विशेष परिस्थितियों का शिकार है और किन्हीं विशेष परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह की आग उसे एक चुस्त-चालाक अय्यार के रूप में चलाये रख रही है। 'विद्रोह' उस युग के यौवन की आवाज थी—और यह विद्रोह व्यक्तिगत हो यह उसकी सीमा। किन विशेष परिस्थितियों का किस-किस रूप में 'हड्डियों का ढाँचा' यह 'भूतनाथ' शिकार है, इसे चारों ओर से सोचने का उसके नये निर्माताओं को समय नहीं था। उन्होंने उसके केवल विद्रोह के आवेग को पकड़ा और 'रक्त मण्डल', 'लाल पंजा' इत्यादि आये।[1]

व्यक्तिगत विद्रोह अपने सक्रिय रूप में जो थोड़ा-बहुत आ पाया है वह इन्हीं उपन्यासों में मिलता है अन्यथा बाद के क्रान्तिकारियों के नाम पर लाये जाने वाले सारे नायक निष्क्रियताजन्य फ्रस्ट्रेशन ही प्रस्तुत करते हैं।

टेढ़े-मेढ़े रास्ते

दोनों महायुद्धों के बीच का हिन्दी-उपन्यास वास्तव में नायक के लिहाज से व्यक्ति के अंकन और अध्ययन तथा व्यक्तित्व के निर्माण और गठन के ह्रास और विकास की कहानी है। व्यक्तित्व युगानुरूप विकास करता जाता है और 'व्यक्ति' संकुचित होकर समाज से कटता जाता है।

व्यक्ति को महत्त्व देने की भावना, या मानवतावादी दृष्टिकोण राजनीति के क्षेत्र में रूसो और वॉल्टेयर और साहित्य और कला के क्षेत्र में गेटे और ह्यूगो की देन थी। रूसो का यह वाक्य "मनुष्य जब पैदा होता है तो उस पर कोई बन्धन नहीं होता" या वॉल्टेयर की यह उक्ति, "तुम जो कुछ कहते हो मैं उसका डटकर विरोध करता हूँ लेकिन यह मरते दम तक मानूँगा कि तुम्हें अपनी बात कहने का अधिकार है" व्यक्ति की महत्ता की वैतालिका है, और यही भावनाएँ टाल्सटॉय, रस्किन या क्रापटकिन और अन्य क्रान्तिकारियों द्वारा भारतीय राजनीति में विभिन्न रूपों में आ रही थीं। इसकी दो धाराएँ तत्कालीन समाज में बहुत अधिक स्पष्ट हैं: हर व्यक्ति स्वतन्त्र है वह गुलाम नहीं रह सकता, के व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता के प्रयत्नों के रूप में तथा हर व्यक्ति मूलतः मानव है, उसे प्यार करो, उसके अधिकारों को मत छीनो और उसकी आत्मा पर छाये कलुष को उससे अलग करके देखो कि क्रिश्चियन-भारतीय दृष्टिकोण के रूप में। इन दोनों ने ही भारतीय समाज-चेतना को आगे विकसित किया (अपना ऐतिहासिक 'रोल' पूरा कर चुकने के बाद व्यक्तिवाद किस तरह एक अव्यावहारिक और प्रदर्शिनी की वस्तु बन जाता है इसके दो मजेदार चरम उदाहरण हमारे ही सामने हैं—जो इन दोनों धाराओं के प्रतिनिधि हैं—एक पैग़म्बर और एक डिक्टेटर—गांधी और हिटलर—या साहित्य में बर्नार्ड शॉ। "मैं ही ठीक हूँ"

१. द्रष्टव्य: 'आलोचना' के उपन्यास-अंक में नरोत्तम नागर का लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और "मैं ठीक हूँ क्योंकि मेरे पीछे भगवान् है या मेरी आत्मा कहती है" दोनों वाक्यों में व्यक्तिवादी आग्रह एक ही है। यही कारण है कि भौतिक अस्तित्व की समाप्ति के बाद इनकी देन का अव्यावहारिक भाग एकदम समाप्त हो गया।)

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और मानव-मुक्ति की यह दोनों धाराएँ भारत के दो सीमान्तों से उठीं—कलकत्ता और पोरबन्दर। एक का शिक्षण और परिवर्धन-क्षेत्र बर्मा, रंगून, बंगाल आदि रहे—दूसरी का पश्चिमी तटों से लेकर अफ्रीका तक। दूसरी की उपयोगिता समझने के लिए पहली को ही पहले समझ लिया जाय।

औपनिवेशिक व्यवस्था व्यक्ति और समाज के बीच की खाई को हमेशा और चौड़ा करती जाती है और दोनों ही एक-दूसरे को अपरिचित या प्रायः शत्रुता की दृष्टि से देखते हैं। व्यक्ति का ध्वस्त आत्म-विश्वास 'अहं' बनता जाता है और विकासमान समाज की धारा में वह 'द्वीप' की तरह कटकर ठूँठ-सा खड़ा रहता है। सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा या प्राप्ति के प्रयत्न में जब वह लड़ते-लड़ते हार जाता है तो समाज से सहानुभूति चाहता है, सान्त्वना और समर्थन माँगता है; लेकिन चूँकि अपने पूरे युद्ध के दौरान में उसने समाज की इच्छा जानने की कभी कोशिश नहीं की थी इसलिए इनमें से उसे कुछ नहीं मिलता तो रुद्ध-विक्षोभ सिर्फ दो ही तीन दिशाओं में फूटता है। अपने 'अहं' को ही सर्वोपरि मानता हुआ वह विक्षिप्त की तरह हर वस्तु को निरर्थक[1] समझे और हर व्यवस्था के प्रति आस्था खो बैठे, अनारकिस्ट और निहलिस्ट हो जाय और समाज से तरह-तरह से अपनी उपेक्षा का बदला ले; तथा स्वयं अपने पतन की महानता को घोषित करे, पुरातनवादी हो जाय और प्रकृति या अध्यात्म की ओर भाग खड़ा हो या फिर सीधे ही ग़म ग़लत करने के लिए शराब पिये। क्रान्तिकारियों के व्यक्तिगत विद्रोह के इतिहास में इन सभी परिस्थितियों के उदाहरण हमें उपलब्ध हैं यह व्यक्ति-विद्रोह समाज-विद्रोह की ओर किस तरह विकसित होता है इसका काफ़ी अच्छा विवेचन है यशपाल का 'सिंहावलोकन'। व्यक्ति पराजय की यह प्रतिक्रियाएँ हमें हिन्दी-काव्य और कहानी के छायावादी विकास में, तथा इन्हीं प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित उपन्यासों में मिलती हैं।

"पराजित व्यक्ति के महिमा गीत" शरद्-साहित्य की ओर हिन्दी के उपन्यासकार (जो तत्कालीन युवक-वर्ग का ही एक प्रतिनिधि था) का झुकाव स्वयं उसकी इसी पराजित मनोवृत्ति

---

1. "When a man considers his own 'ego' to be the 'sole reality' then he can find no objective connection, 'rational' in the sense of being determined by definite laws, between his 'ego' on the one hand and the external world on the other. The external world must appear to him as either altogether unreal or as real only in part—in so far, namely, as its existence is based on the only true reality, that is to say on the 'ego'". "If, however, some-one who is not philosophically inclined comes to consider his own 'ego' to be the sole reality, he will certainly not bother to ask himself how this 'ego' created the external world......On the contrary, the world will appear to him a realm of 'meaningless chance".

—'कला और सामाजिक जीवन', प्लैख़नोव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का द्योतक है। महत्त्व की बात यह नहीं है कि शराब और जहर किसने किसलिए सुलभ किये, महत्त्व की बात यह है कि अपनी किन परिस्थितियों में व्यक्ति इनकी ओर उन्मुख हुआ ? तीस साल बाद की सामाजिक स्थिति में रहने वाले लोगों को 'दोस्तायव्स्की' उतनी अन्ध-उत्कटता से क्यों नहीं आकर्षित करा सका ? एकदम सीधा न होते हुए भी काफ़ी अंशों तक सही जवाब यह है कि हिन्दी-भाषी 'सचेत व्यक्ति' की मानसिकता ही उस समय उस स्थिति से गुज़र रही थी कि बंगाल ही क्या शरत् यदि तमिलनाड में होते तो वह उन्हें वहाँ से ही खोज निकालता। हिन्दी-उपन्यासकारों को यह श्रेय जरूर है कि उन्होंने शरत् के 'व्यक्तिवादी दर्शन' को ठीक वहीं से पकड़कर चरम पर पहुँचा दिया जहाँ से शरत् ने उसे छोड़ा था—उसने उसे पीछे से नहीं पकड़ा। सतही तौर से देखने पर हिन्दी-उपन्यास के तृतीय और चतुर्थ दशक (बीसवीं शताब्दी के) के ऐसे पात्र शरत् की नकल लगते हैं ; लेकिन श्री इलाचन्द्र जोशी की इतनी बात मान लेने में कोई हर्ज नहीं कि वे उनका अगला विकास हैं। वह 'कु' है या 'सु' इसे अभी छोड़ दें।

प्रायः शरत् के सभी पुरुष—प्रमुख - पात्रों का ध्यान आते ही मेरी कल्पना में एक ऐसे ज़िद्दी बच्चे की तसवीर आ जाती है जिसे उसका प्राप्य नहीं मिला हो और इसलिए रूठ-मचल-कर वह चौखट से अपना सिर फोड़-फोड़कर अपने गुस्से का इजहार करता और दर्शकों की सहानुभूति प्राप्त करता है। उस स्थिति में उसे जो भी दिया जाता है उसे तो तोड़-फोड़ देता है और दिखाता यह है कि देखो मैं ऐसी बहादुरी से अपना सिर फोड़ सकता हूँ। शरत् की कला का सारा कमाल वेदना की इस कुशल विवृति में ही है। 'डुएल' उपन्यास में चैखव के लायस्की को देखकर हम सोचते हैं; देखो कितना अच्छा आदमी है लेकिन कैसी परिस्थितियों में पड़ गया है; बेचारा कुछ कर भी नहीं सकता। तब हमें उसकी कमज़ोरियों से भी सहानुभूति होती है। व्यक्ति की विवशताओं के साथ वहाँ परिस्थितियाँ भी सामने हैं, लेकिन शरत् के सामने परिस्थितियाँ या सामाजिक स्थिति उतनी महत्त्व नहीं रखतीं। तत्कालीन हिन्दी-उपन्यासकार ने परिस्थितियों को भी शरत् की अपेक्षा अधिक ईमानदारी से रखा है। 'कुण्डली चक्र' का अजित, लायस्की की तरह हमारी स्वस्थ सहानुभूति का पात्र है। वहाँ समाज और व्यक्ति का द्वन्द्व है—पराजित व्यक्ति की अपने प्रति ही नहीं समाज के प्रति भी प्रतिक्रिया है।

"तुम नश्वर हो जग नश्वर है बस मैं हूँ केवल एक अमर" के गायक भगवतीचरण वर्मा के रमेश और बीजगुप्त समाज द्वारा स्वीकृत हर सिद्धान्त को झूठा साबित कर देते हैं।—पाप-पुण्य के सिद्धान्त को, नैतिकता अनैतिकता-के सिद्धान्त को। शरत् में न तो उतनी तलखी है, न शक्ति। उनके पात्र बड़े कमजोर और दो विरोधी आलोचकों—डॉ० रामविलास शर्मा तथा श्री इलाचन्द्र जोशी—के शब्दों में निकम्मे, परोपजीवी, नपुंसक और हद दर्जे के आत्मकामी हैं। रमेश ललकारकर कह सकता है कि तुम्हारे समाज की नपी-तुली साफ़-सुथरी नारी सुधा से वेश्या सरोज लाख दर्जे अच्छी है। असली वेश्या सरोज नहीं सुधा है—या तुम्हारे बने-बनाये साधु कुमारगिरि से अय्याश बीजगुप्त अधिक मानव है। इस तरह साहसपूर्वक प्राचीन और नवीन दोनों समाज-मान्यताओं को ठुकरा देने की शक्ति तो श्री भगवतीचरण वर्मा के पात्रों में है लेकिन स्वयं किसी जीवन-दर्शन के अभाव में वे टेढ़े-मेढ़े रास्तों में भटकते हैं। दिशाहीन जोश के परिणाम में इस प्रकार सभी कुछ को झुटला देने का 'दर्शन' प्राकृतिक ही है। इस दिग्भ्रान्ति की स्थिति में उनके शरणस्थल हैं वृद्ध ताल्लुकेदार रमानाथ तिवारी के चरणकमल ! (दुःख है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताल्लुक़ेदारी कांग्रेस सरकार ने ख़त्म कर दी) और यां उनकी कला, जो एक सशक्त असन्तोष के लेकर चली थी, छाती में छुरा भोंककर अपने जीवन का आख़िरी दाँव लगा बैठी। प्लेखनोव के यह पंक्तियाँ वर्माजी तथा उन-जैसे अन्य व्यक्तिवादी उपन्यासकारों की कितनी अच्छी तसवीर देती हैं "The tendency of artists, and of those who have a lively interest in art, towards art for art's sake, arises when they are in hopeless disaccord with the social environment in which they live."

जैसे मैंने अभी ऊपर कहा, सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि मराठी और बंगला की तरह 'क्रान्तिकारी व्यक्ति' को हम प्रगतिशील ऐतिहासिक भूमिका में नहीं पाते। 'रंगभूमि' के सूरदास के रूप में मानवतावादी व्यक्ति तो अपनी ऐतिहासिक भूमिका और पराजय को स्वीकार करता है[1] लेकिन ये क्रान्तिकारी या अन्य व्यक्ति विद्रोह के उपासक उपन्यास के नायक तभी बनते हैं जब वे विभिन्न कुण्ठाओं और विकृतियों के शिकार बन चुके होते हैं। हमारे नायकों में उनका प्रगतिशील 'रोल' नहीं है। "चारों ओर भय और विपद् के वातावरण से आकर्षक बने बायरनिक हीरो, मध्यवर्गीय क्रान्ति के उपासक" डॉ० सव्यसाची को भी तो शरत् ने तभी पकड़ा है जब कवि शशि को मध्यवर्ग के गीत गाने की वकालत करके भी वे अपने सारे प्रयत्नों के अन्त में सिंगापुर चल खड़े होते हैं। 'गोरा' तब भी अधिक प्रगतिशील है। ख़ैर शरत् ने तो सव्यसाची को वहीं छोड़ दिया लेकिन उनकी पराजय के अवसाद और विषादयुक्त कुण्ठाओं तथा विद्रोह की शब्दावली को हिन्दी के दो नायकों ने अपनाया—हरिप्रसन्न और शेखर।

इन या ऐसे सभी नायकों को समझने के लिए सबसे अच्छा पात्र है 'नदी के द्वीप' का भुवन। हिन्दी के अधिकांश आलोचकों ने माना है कि 'शेखर' ही 'भुवन' है, बस उसके विद्रोह और क्रान्ति के 'नख-रद' टूट गए हैं। रह गया है बाक़ी केवल उसका 'अहं', जिस पर पूरा ढाँचा है। शेखर के वे सिद्धान्त क्या और कैसे हैं इसे थोड़ी देर के लिए स्थगित करके भी कहा जा सकता है कि 'सिद्धान्त-हीन' शेखर ही भुवन है और इसी निष्कर्ष पर पाठक चौंकता है कि शेखर के क्रान्ति और विद्रोह थे क्या, कि उन सबको तिलांजलि देकर उसे एकदम भुवन बन जाना पड़ा?—क्या वे सचमुच इतने ऊपरी थे। शेखर और भुवन क्यों एक हैं इसे ज़रा और भी गहराई से समझने की ज़रूरत है।

सुमित्रा और भारती का आदर डॉ० सव्यसाची के प्रति पाठक को श्रद्धावनत कर सकता है लेकिन रेखा और गौरा का आदर भुवन को पाठक के सामने आदरणीय नहीं बना पाता, क्योंकि डॉ० देवराज के शब्दों में "हमें यह महसूस नहीं होता कि भुवन के विचारों और संकल्पों का उत्तर विशेष ऊँचा है। वह एक ख़ास शिक्षित-वर्ग के चिन्ता के धरातल से ऊँचे उठते नहीं दीखता। कहीं भी भुवन के विचारों अथवा संकल्पों में ऐसी शक्ति नहीं है कि विचारवान पाठक को बहा ले जाय।" फिर भी अपने सम्पर्क में आने वाली स्त्रियों से वह उसी व्यवहार की आकांक्षा रखता है जो 'शेखर' ने रखी थी। वह नारी को शेखर की तरह ही एक ऐसी सान मानता है जिस पर उसका जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज़ होता रहे। जिस पर मँज-मँजकर वह कुछ बने कि संसार के सामने खड़ा होने में लज्जित न हो—चाहे उसके बनने में स्वयं उसी के हाथों से वह टूट भी जाय। शरत् की आलोचना करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने एक

१. मन्मथनाथ गुप्त का लेख, 'नई धारा', जून १९५३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगह लिखा है कि अपनी असामर्थ्य और नपुंसकता छिपाने तथा उत्तरदायित्व से बचने के लिए वह बार-बार राजलक्ष्मी को छोड़-छोड़कर भागता है और कहता यही है कि "राजलक्ष्मी के लिए ही मुझे राजलक्ष्मी को छोड़कर जाना होगा। इसमें अब जरा भी आनाकानी करने से काम नहीं चलेगा" इस पर डॉ० शर्मा का व्यंग्य है कि "यही प्रेम का वह सूक्ष्म विज्ञान है जो पुरुष को नारी के निकट लाता है और फिर नारीत्व को निखारने के लिए उसे दूर ढकेल देता है।" प्रेम के इस 'सूक्ष्म विज्ञान' का भुवन और शेखर दोनों को बड़ा अच्छा अभ्यास है और कुशल लेखक ने भुवन को इस प्रकार के किसी आरोप से बचाने के लिए स्वयं रेखा को ही 'त्यागपत्र' की मृणाल की तरह इतना समर्पणशील और समझदार बना दिया है कि प्रेम का ऐसा अनुभव देकर वह स्वयं हट जाय। इस ट्रम्प चाल को ज्यों-का-त्यों लागू करने का श्रेय 'संन्यासी' के नन्दकिशोर से लेकर धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' के चन्दर और अंचल के 'चढ़ती धूप' के मोहन, 'मरु प्रदीप' के विमल तक को है।

इतनी प्रभावोत्पादक कला, इतना सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और ऐसी सजी-सुथरी, सँवरी और सार्थक भाषा के बावजूद भी भुवन पाठक को कहीं भी बहा नहीं पाता—पाठक हमेशा ही 'द्रष्टा' रहता है 'भोक्ता' नहीं, इसका एक-मात्र कारण उसकी इतनी अधिक सार्वभौमिकता है कि वह कहीं का नहीं रहता, आखिर किसी भी देश का आदमी तो उसे अपना समझे! अपने वर्ग और संस्कारों से कटा एक भूत और भविष्यहीन 'द्वीप'—यह असाधारण (शुक्लजी के अनुसार) शील का व्यक्ति पाठक के लिए दर्शनीय ही बना रह सकता है—संवेदनीय नहीं। इसीलिए उसका कारणहीन 'दर्द' उसका अपना ही है, साधारणीकृत नहीं, अतः लगता है वह दर्द नहीं शौक अधिक है। चाहे वह कितना ही तीव्र, गहन और चूर-चूर कर देने वाला क्यों न हो।

यह दर्द और दुःख का सिद्धान्त शेखर, भुवन और उधर जैनेन्द्र के पात्रों या कहा जाय मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवादी सभी नायकों—में अजब घपलेबाज मनोविज्ञान का जन्मदाता है। 'दोस्तायव्स्की' के 'पेशेवर आत्मपीड़कों' (प्रोफ़ेशनल सफ़रर्स) का गोर्की ने खूब मजाक़ उड़ाया है। 'पीड़ा ही सत्य है या सत्य दर्शन का एक मात्र माध्यम है'—यह सिद्धान्त भगवान् बुद्ध के "सर्वं क्षणिकं क्षणिकं सर्वं दुःखं दुःखम्" का ही पश्चिमी संस्करण है। भुवन तो 'क्षण' और 'दुःख' दोनों के सिद्धान्त को मानता है। ऐसे नायकों ने यह कभी नहीं सोचा कि भगवान् बुद्ध की यह 'प्राप्ति' ऐतिहासिक सीमा थी—मूल थी वह करुणा और व्याकुलता जिसके वशीभूत होकर वे दुःख और कष्ट से संसार को मुक्ति देने के लिए घर से निकल पड़े थे।

शेखर कहता है "दुःख उसीकी आत्मा को शुद्ध करता है जो उसे दूर करने की कोशिश नहीं करता।"

और भुवन बोलता है "पीड़ा से दृष्टि मिलती है इसलिए आत्मपीड़न ही आत्मदर्शन का माध्यम है।" या "दुःख सबको माँजता है और चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु जिनको माँजता है उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"

एक आश्चर्य और है: पीड़ा से दृष्टि मिलने वाले नायकों के जीवन में स्त्री ही एक विचित्र—अत्यधिक महत्त्वपूर्ण—पार्ट अदा करती है। चाहे वे 'अज्ञेय' के शेखर और भुवन हों या दर्द में उतरकर सत्य पा जाने वाले धर्मवीर भारती के चन्दर और माणिकमुल्ला; वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिप्रसन्न और 'सुखदा' के हरीश हों या 'अंचल' के 'विमल चाँद भाई' या 'पथ की खोज' के चन्द्रनाथ आदि--प्रेम के परीक्षण की दृष्टि से इन सभी का दृष्टिकोण स्त्री के प्रति प्रयोगवादी, अधिकांश प्लेटोनिक, रहस्यपूर्ण अस्पष्ट और समग्रतः नॉर्मल नहीं होता--क्योंकि ये सभी उसके द्वारा जिन विचित्र ढंगों से दर्द लेते और 'दर्शन' पाते हैं--वह संसार के एक-मात्र दार्शनिक विवाद का मूल है। यह सभी दमित काम के कुण्ठित और कुञ्चित प्रतीक हैं और इस सम्बन्ध में जैनेन्द्रजी की आत्मस्वीकृति प्रायः सभी 'मनोवैज्ञानिक' समस्याओं को एक साथ हल कर देती है : "पीड़ा में ही परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्मपीड़न के ही साधन हैं और इसीलिए मैंने इनमें 'काम-वृत्ति' की प्रधानता रखी है, क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्मपीड़न का तीव्रतम रूप है।"

तो हिन्दी उपन्यासों में पीड़ा से आत्म-शुद्धि या आत्म-शुद्ध करने वाले नायकों की एक काफ़ी लम्बी पलटन है—शुरू-शुरू में भले ही इसका कारण सामाजिक परिस्थितियाँ रही हों पर बाद के लेखकों के लिए यह एक फ़ैशन हो गया और इस पीड़ा की 'पंचाग्नि' में अपनी आत्मा का उत्थान और विकास करने वाले ये हठयोगी नायक स्वयं 'काम की यातनाएँ' पाते और इन यातनाओं की कारणस्वरूप नारियों को भी यातनाएँ देकर बड़ी सुन्दर शब्दावलियों और आकर्षक वाक्यों से उन्हें सजाते और 'उदात्तीकरण' करते हैं। सबसे मजे की बात तो यह कि "विद्रोह के लिए विद्रोह करने वाले" बड़े-बड़े क्रान्तिकारी, बड़े-बड़े आविष्कारक, वैज्ञानिक, रिसर्चस्कॉलर, दार्शनिक, प्राफ़ेसर और कवि, नाना वेश, स्वभाव और उद्देश्य वाले पात्र इस जगह सब एक हैं।

काम-मनोविज्ञान की शब्दावली में हैवलॉक एलिस् के अनुसार यह आत्मपीड़न (मॉस्केइम) और आत्मपीड़न के लिए परपीड़न (सेडिज्म) बड़ी विकृत स्थिति का सूचक है। यहाँ हम अभी तक प्रायः बचाये गए श्री इलाचन्द्र जोशी के नायकों को भी गिने लेते हैं। 'परदे की रानी' का इन्द्रनाथ 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ, 'संन्यासी' का नन्दकिशोर और 'निर्वासित' का महीप इत्यादि सभी नायक विकट आत्महीनता की ग्रन्थि से ग्रस्त अपने सम्पर्क में आने वाली नारियों से बदला लिया करते हैं और काल्पनिक भ्रम या भ्रान्तिमूलक बातों की कल्पना करके अपने-आपको कष्ट देते और पाते हैं। लेकिन जोशीजी की कुछ बातें इन्हें शेष सभी 'मनोवैज्ञानिक' उपन्यासकारों के महानायकों से अलग कर देती हैं। पहली बात तो यह कि जोशीजी अपने पात्रों के प्रति इतने तटस्थ रह सके हैं कि उन्होंने विकृति को विकृति और रोग को रोग कहा है। यह दूसरी बात है कि वे शरत् के या उनके-जैसे निकम्मे आत्मकामी, दम्भी नायकों को ही अपनी 'लैब' में उठा लाते हों और चारों ओर से उसके खिड़की-दरवाजे बन्द करके उनका पोस्टमार्टम कर डालते, तथा उनकी रीडिंग पर मनोवैज्ञानिक लेख लिखने बैठ जाते हों। साथ ही उन्होंने अपने नायकों की कमजोरियों और विकृतियों को अन्य उपन्यासकारों की तरह नारियों से पुजवाया नहीं है, चूँकि उनके नायकों की सारी कुण्ठाओं की प्रतिक्रिया का शिकार नारी होती है; अतः ऐसी ही कोई 'तूफ़ानी मर्मांतक मनोविज्ञान की नारी' आकर उनको प्रभावित करती हुई क्रान्ति की मशाल हाथ में लेती है। प्रमुख बात इसमें न तो तूफ़ानी मनोविज्ञान है न वह क्रान्ति की मशाल (क्योंकि इस क्रिया में उनकी नारियों को ओवर एक्टिंग की आदत है जैसे 'निर्वासित' की शारदा, और 'मुक्तिपथ' की सुनन्दा। दोनों आज के युग में जॉन ऑफ़ आर्क और श्रद्धा का पार्ट अदा करती हैं) सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि आध्यात्मिक और आदर्श प्रेम के नाम पर उन्होंने नारी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मसम्मान को पुरुष की झूठी-सच्ची सनकों के सामने रिरियाते और पैरों में पड़ते नहीं दिखाया है। लेकिन जोशीजी में तीन बहुत बड़ी कमजोरियाँ हैं। जिनकी वजह से वे प्रायः सम्यक् रूप से समझे नहीं जाते रहे हैं। उनकी एक कहानी का पागल नायक दुनिया-भर के चीथड़े, कूड़ा-करकट इकट्ठा करके रात को चौराहे पर जलाया करता है और पूँजीपतियों को गालियाँ देकर अपने मन का गुबार निकालता है। गोर्की ने भी समाज के कूड़ा-करकट—अर्थात् आवारे, हत्यारे, आत्मकामी इत्यादि लोगों को दिखाया है लेकिन समाज की गति के नित्य सम्पर्क में रखकर ही; जब कि जोशीजी उन सबको अपने 'एयरटाइट', 'परीक्षण-कक्ष' में उठा लाते हैं। इस कूड़ा-करकटवादी दृष्टि से उन्होंने अपने आस-पास एक अजब शिवजी की बारात इकट्ठी कर ली है; दूसरे इन नायकों का मूल मनोविज्ञान तो जरूर समाज द्वारा निर्मित होता है लेकिन उठा लाने के बाद उसके कारणों की कथा स्वयं जोशीजी गढ़ते हैं, जो प्रायः ज्यामिति के किसी विशेष प्रमेय को सिद्ध कर डालने-जैसी बन जाती है। चैखव ने एक बार गोर्की से कहा था कि मनोविज्ञान का चित्रण बुरा नहीं है; लेकिन दिक्कत तब है जब लेखक अपने मनोविज्ञान को जीवित पात्रों से न लेकर स्वयं गढ़ने लगता है।" जोशीजी तो इस मनोविज्ञान को गढ़ने में प्रायः पृष्ठों की संख्या तक भूल जाते हैं और उनकी दिशा—दशा भी 'कॉडवैल' के शब्दों में "लेखक और रचना" ही रह जाती है, लेखक रचना और पाठक नहीं। जब लेखक और रचना केवल दो ही बिन्दु हों तो कला के लिए कला की रचना होती है। यहाँ वे अपने शेष सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के साथ हैं। जोशीजी की तीसरी कमी यह है कि विकृतियों और कुण्ठाओं को उन्होंने अभी बड़े शारीरिक और भौतिक स्तर पर ही खोज का विषय बनाया है उनकी आध्यात्मिक प्रतिक्रियाओं को वे 'फोकस' नहीं कर पाये। फिर भी प्रसन्नता है कि उपचेतना के स्तर-प्रस्तर तोड़कर विराट् विस्फोट कर डालने और किसी अनोखी गंगा को खोज निकालकर भगीरथ बन जाने का नशा उन पर से अब उतरता जा रहा है और उनके पात्र नार्मल होते जा रहे हैं।

दिक्कत उन आत्मपीड़क और परपीड़क अभिजात नायकों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में है, जो अपने को सबसे अलग समझकर विभिन्न आध्यात्मिक और दार्शनिक वाक्यों के दुशाले ओढ़-ओढ़कर आते हैं। भुवन और रेखा के लिए डॉ० देवराज लिखते हैं "उपन्यास में भुवन और रेखा जगह-जगह दूसरे कवियों के उद्धरण प्रयुक्त करते पाए जाते हैं जैसे वे स्वयं अपनी प्रेरणाओं से न जीते हुए विभिन्न कवियों के भाव-स्पन्दन में अपने खोखले जीवन को भरने की सामग्री खोज रहे हों।" यही बात उनके अपने चन्द्रनाथ के लिए भी सच है—वहाँ कविता की जगह दर्शन है।

इन सभी प्रेरणाहीन अद्वैती, हठयोगी, आदर्शप्रेमी क्रान्तिकारी नायकों का मानसिक धरातल आखिर किन सामान्य धातुओं का बना है, जरा और गहराई से देखिए।

ये सभी नायक शेष समाज से अलग एक विशेष बौद्धिक धरातल पर पहुँचे हुए व्यक्ति हैं जो जीवन की हर प्रकार की अनुभूतियों को बुद्धि द्वारा ही ग्रहण करते हैं। अन्य इन्द्रियों द्वारा नहीं। लगता ऐसा है कि ये हाड़-मांस के शरीर न होकर केवल बड़े-बड़े सिर-ही-सिर वायुमण्डल में तैर रहे हों। वे चेतना-मात्र रह गए हैं। जैसा मैंने पहले भी बताया क्रियात्मक जीवन के साथ उन्हें आप नहीं देखते, उन्हें देखते तब हैं जब वे उस जीवन से तटस्थ, असफल और निराश होकर (चाहे इसे वे स्वयं स्वीकार न करें) 'घर' भाग आए हों। इतना विद्रोही कर्मठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायक शेखर भी अपने जीवन को जीता नहीं एक रात में देखता है। चूँकि शरीर और उसका अनिवार्य गुण क्रिया नहीं, केवल मात्र चेतना ही यह लोग हैं (और वह भी फ्रायडियन काव्य चेतना) इसलिए शून्य अन्तरिक्ष में जिधर धुन उठ जाती है उधर ही भटक जाते हैं। इस बात से यह भी सिद्ध होता है कि इन सभी नायकों की सिद्धान्तहीनता और लक्ष्यहीनता का कारण भी इनकी अशरीरी चेतना और क्रियाहीनता ही है। इनका विद्रोह दुनिया की हर बात–सिद्धान्त, लक्ष्य, शरीर, क्रिया जीवन हर चीज को झुठलाने और निषेध करने में है, इसलिए इन्हें 'नेति-नेति' वाला अद्वैत दर्शन ही शान्ति दे पाता है।

आप उस स्थिति का सहानुभूतिपूर्वक अनुमान लगाइये जब क्रान्ति आप कर डालना चाहें लेकिन हाथ में आपके 'टूटी तलवारों की मूठ'[1] ही हो तब आप 'हैमलेट' की तरह अपनी निष्क्रियता को ही विभिन्न दार्शनिक सुन्दर लगने वाली सूक्तियों से नहीं भरेंगे तो क्या करेंगे? जब बात कहना चाहें और जबान न हो तो एक ही रास्ता आपके पास है कि 'मौन' की महिमा बखानिये।[2] दर्द आपकी छाती को फूँके दे रहा हो और उसके कारणों को आप दूर न कर सकें तो ला-मुहाला आप समझौता करके आखिर कब तक उस दर्द को प्यार नहीं करेंगे? बस दर्द को सीने से लगाइए और नई दृष्टि प्राप्त कीजिए। इसे झुठलाना ग़लत होगा कि पीड़ा मनुष्य को नई दृष्टि नहीं देती, लेकिन कैसे? सचमुच पीड़ा, दर्द और दबाव ही मनुष्य की प्रगति और प्रयत्नों के मूल हैं। श्रद्धा कहती है "विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान्" आविष्कार के मूल में अभाव की अनुभूति और आवश्यकता की पीड़ा ही तो है। एक पीड़ा है जो पीड़ा सहने वालों और उन जैसों को पीड़ा से छुड़ाती है, 'रियलाइज़' कराती है और प्रेरणा देती है कि वे उन कारणों को बदल डालें और दूसरी पीड़ा है जो घुटती है; स्वयं निष्क्रियता से उत्पन्न पराजय का अवसाद होती है और शेष रही-सही कार्य-शक्ति को क्षीण कर डालती है (इसे हैमलेट ने भी स्वीकार किया है) तथा व्यक्ति को तटस्थ दर्शक अर्थात् 'दार्शनिक' बना छोड़ती है। वह वाग्विलास करता और अपने-जैसे शौकिया दुःख सहने वालों को सान्त्वना देता है कि 'सहना' ही चरम सुख है। यही साहित्य और कला में 'व्यक्ति-वैचित्र्य' और असाधारण मनोविज्ञान का मूल है।

'अज्ञेय' जी को इस बात का श्रेय जरूर है—और कम नहीं है—कि भुवन के रूप में उन्होंने इस तरह के नायकों का एक चरम प्रतिनिधि पात्र प्रस्तुत कर दिया है। जैसा कि अपने 'अहं' को ही निरपेक्ष सत्य मानने वाले व्यक्तियों का वर्गीकरण करते हुए प्लेखनोव ने आगे बताया है कि "यदि ऐसा व्यक्ति किसी विशाल सामाजिक आन्दोलन से सहानुभूति करने भी लगे तो वह फ़ॉक की तरह यही विश्वास करेगा कि सामाजिक विकास का कोई नियम इसकी सफलता का आश्वासन नहीं दे सकता; और उसका भविष्य या तो 'मानवीय मूर्खताओं' के या उन्हीं की तरह के 'अर्थहीन ऐतिहासिक संयोगों' के हाथ में होगा।" सच बात तो यह है कि जाने या अनजाने—अपने अस्तित्व तक से विद्रोह करने वाले ये सभी मनोवैज्ञानिक नायक जीवन में विश्वास ही नहीं करते, क्योंकि जीवन कोई हवाई चीज तो है नहीं, व्यवहार में उसका कुछ रूप है—किसी स्थान और देश के अनुरूप उसका कोई आकार है—और देश की सीमाओं से वे बँधे

१. हम सबके हाथों में 'टूटी तलवारों की मूठ'—धर्मवीर भारती की एक कविता-पंक्ति।
२. अज्ञेय जी की 'हरी घास पर क्षण भर' में 'नयी व्यंजना' कविता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हैं, इसलिए इस तरह के नायकों में न तो अपनी कोई सांस्कृतिक परम्परा होती है और न राष्ट्रीय चेतना, और अपनी इस कमी को इनमें से कुछ नायक गाँधीवादी अहिंसा के लबादे के नीचे छिपाते हुए ऐसा प्रदर्शन करते हैं जैसे वे विश्व-बन्धुत्व की प्रच्छन्न या प्रकट भावनाओं—या 'कॉस्मोपोलिटनिज़्म' से बुरी तरह पीड़ित हैं। उनकी जो भी बात है वह सार्वभौमिक स्तर पर होती है, अतः ऐसे ही तत्त्वों के वे बने भी होते हैं। उनके लिए काल भी स्वयं निरपेक्ष है, जिस क्षण में वे हैं बस उसी का अस्तित्व है—न तोवह क्षण किसी पहले क्षण का परिणाम है, न किसी अगले क्षण का प्रारम्भ। कार्य-कारण की शृङ्खला वहाँ नहीं चलती। इस प्रकार सार्वभौमिक, सार्वकालिक नित्य तत्त्वों से बनी सूक्ष्म चेतना के अविच्छिन्न प्रवाह में 'द्वीप' की तरह उभर आई इनकी व्यक्ति-चेतना यदि किसी क्रिया में विश्वास करे भी तो उस क्रिया को आखिर कहाँ और क्यों करे ? इसीलिए इनके गुरु शंकर, शॉपेनहॉवर, अरविन्द, प्रूस्त और सार्त्र-जैसे लोग हैं।

बिना माध्यम के क्रिया की तड़पती हुई चेतना किस प्रकार महान् श्रद्धेय और मानवेतर होते हुए भी वहीं—उसी भौतिकता पर कैसे मँडराती और कष्ट पाती है यह तुलसी और केशव के 'प्रेत आख्यान' में बड़े सुन्दर ढंग से आया है। इन्हें मुक्ति देने का तरीका ही यह है कि इन्हें बैठाकर वह 'गाथा' सुनाई जाय, जिसमें एक्शन हो, क्रिया हो—शरीर हो।

तो 'काम-चेतना' को मूल मानने लेकिन सामाजिक व्यक्तिगत सीमाओं के कारण क्रिया को अस्वीकार कर देने वाले नायकों के साथ जो कठिनाई रही वह हिन्दी क्या दुनिया के सभी आध्यात्मिक प्रेम के अलमबरदारों की कहानी है। फिर एक बार कल्पना कीजिए ऐसे नायक की जिसके भीतर मचलती हुई काम-चेतना तो हो लेकिन अभिव्यक्ति के माध्यम कुण्ठित हों।

हिन्दी के चतुर आलोचक श्री धर्मवीर भारती ने 'प्रतीक' में विश्व-उपन्यास के नपुंसक नायकों पर एक लेख लिखा था और उसमें उन्होंने लेडी चैटर्लीज 'लवर' के कथानक को रूपक बनाकर दुनिया-भर के नायकों की सामाजिकता के कारण तो खोजे लेकिन हिन्दी-उपन्यासों के नायकों की बात करते हुए वे एकदम इस बात की शिकायत करने लगे कि हिन्दी में 'सव्यसाची'-जैसे 'धीरोदात्त' नायकों का अवतार क्यों नहीं हो रहा ? उसके कारणों की बात उन्होंने नहीं की तो समुचित नायकों के निदान की बात कहाँ से करते ?

भारत में पारिवारिक संघटन और विशेष-रूप से सामन्ती ध्वंसावशेष 'पर्दे' ने तत्कालीन सामाजिक या राजनीतिक परिवर्तन की प्रबल आवश्यकता में विश्वास रखने वाले युवक की मानसिक बनावट में बड़ी उलझनें और खाइयाँ पैदा की हैं। महाजनी व्यवस्था के परिणामस्वरूप जब पुरुष नौकरी, यात्रा, युद्ध या अन्य समाज-सुधार के कामों से जाय तो उसे जितने दिन बाहर रहना है, अकेले रहकर खाने-पीने, रहने-सहने, हर इच्छा को जहाँ तक हो दबाना-कम करना या ज्यों-त्यों (शायद समाज में वेश्या का यही उपयोग हो !) पूरा कर लेना है। क्योंकि सामन्ती-व्यवस्था की शिकार उसकी सहचरी नारी उसके साथ तभी जा सकती है जब परिवार का ढाँचा विकसित होता या टूटता है। बाहर हर 'फ्रंट' पर वह अकेला ही है। 'घर और बाहर' दोनों जगह दो व्यवस्थाएँ, दो दुनिया हैं। वह जागता-चलता-फिरता एक व्यवस्था में है सोता-खाता-पीता दूसरी में। लेकिन यह स्थिति अधिक सह्य नहीं है इसलिए अनिवार्य एक को अपनाने के लिए, या उसमें अपना स्थान बनाने के लिए उसे दूसरी के विरुद्ध लड़ना पड़ता है जिसकी तस्वीरें 'पारिवारिक कलह' के रूप में हमारे सामने हैं। लड़ना उसे बाहर भी पड़ता है, क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाहर की व्यवस्था औपनिवेशिक साम्राज्यवादी व्यवस्था है। और धीरे-धीरे लड़कर, उसने की व्यवस्था को जो ढीला किया था। उसमें नई आवश्यकतानुसार 'छूटें' पाई थीं वह लड़ाई रुक जाती, मन्द पड़ जाती या स्थगित कर दी जाती है और उसका सारा ध्यान बाहर ही केन्द्रि हो जाता है। बाहर अब भी प्रायः वह अकेला ही है। व्यक्ति समाज की इकाई जरूर है लेकि उसका क्रम व्यक्ति, परिवार और समाज है। पूरक प्रकृति के व्यक्तियों का सम्बन्ध परिवार बनात है, जिनसे समाज बनता है। साम्राज्यवादी व्यवस्था से लड़ते हुए—चाहे वह सत्याग्रही हों क्रान्तिकारी—व्यक्ति की आवश्यकता थी कि उसका परिवार भी पुनर्गठित हो, ताकि वह अकु ठित शक्ति से लड़ सके। लेकिन परिवार अपनी ही जगह रहा और नारी उसके साथ न आई। आई भी तो परिवार के नये आदर्श के रूप में नहीं; 'बहन जी' और 'देवी जी' बनक एक और—(कुछ रहस्यमय—) व्यक्ति के रूप में। वे लोग साथ रहते हुए भी अलग-अल व्यक्ति थे, क्यों यह उस युग की विवशता थी और उन्हें पुराने समाज से साथ रहने की स्वीकृ लेनी थी। संक्षेप में व्यक्ति ने परिवार के पुनर्गठन तथा अपनी आवश्यकताओं को उस समय त के लिए स्थागित कर दिया जब तक कि बाहर का युद्ध समाप्त न हो जाय। फलतः प्रकृति-विरु दिशा और कार्य ने शीघ्र ही उसे थका भी दिया और विकृतियाँ आनी शुरू हो गईं।

चाहे 'राजा राधिकारमण' के असहयोग-आन्दोलन के 'नारी और पुरुष' नेता हों य अन्य सारे 'क्रान्तिकारी', बाहर से हार-थककर जब वह घर आते थे तो इन्हें दूसरा ही नक्शा मिलता था। इस लम्बे दौरान में नारी उनके लिए अपरिचित और 'रहस्य' बन चुकी होती थी, और पुराने 'घर' (परिवार) में चूँकि असहयोग की धुन में उन्होंने उस घर में अपने लिए कोई 'स्थान' नहीं बनाया था इसलिए—केवल कुछ दरवाजे खुले थे—देवर भाई, या ट्यूट बनकर आने के दरवाजे। मन से इन सभी पुराने सम्बन्धों के प्रति नास्तिक होते हुए भी ऊपर से इन्हें आस्तिक होने का बाना धारण करना पड़ता था। इसलिए मूलतः यह सम्बन्ध, सम्बन्ध न होकर सम्बोधन-मात्र रह गए थे। सिद्धान्ततः तो यह लोग मानते थे कि नारी, नारी है और पुरुष-पुरुष, सारे पारिवारिक सम्बन्धों के परे यही एक सम्बन्ध है। कठिनाई यह थी कि विदेशों की तरह--(पढ़े-लिखे होने के कारण बौद्धिक रूप से जहाँ यह रहते)--स्त्री-मित्र और प्रेयसी बनकर खुले-आम स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध स्वीकृत नहीं किये जा सकते थे, और न स्वीकृत करा सकने का इन लोगों में साहस और समय था। अतः भाभी शुद्ध परम्परागत रूप में भाभी नहीं थी, गुरु, गुरु नहीं था और बहन, बहन नहीं थी; यहाँ तक कि सूक्ष्म दृष्टि से बुआ भी बुआ नहीं थी।—वे सभी प्रेयसियाँ भी थीं। इस विचित्र स्थिति को न तो यह नायक झुठला सकते थे न स्वीकार कर सकते थे--अतः 'फ्रस्ट्रेट' कर रहे थे। वे नारी की ओर 'तीव्र काम-चेतना' से भी आकर्षित होते थे और साथ ही उसे बहन इत्यादि की पवित्र गरिमा से भी मण्डित रखना चाहते थे। नारी इनके इस विचित्र मनोभाव को न तो हृदयंगम ही कर पाती थी और न उसका प्रतिदान। अतः यह सब उसे मानवी की तरह नहीं एक विचित्र पहेली और आधिभौतिक शक्ति की तरह देखते थे। आवृत स्थिति में उसके आस-पास मण्डराते थे और जब वह झुँझलाकर अनावृत हो जाती थी (और हिन्दी उपन्यासों में कई जगह उसे भौतिक रूप से यह कार्य करना पड़ा) तो आँख बन्द करके भाग खड़े होते थे। ये नायक इसके सिवा कर भी क्या सकते थे कि समाज मान्यताओं में कोई परिवर्तन न कर सकने वाली अपनी इस 'नपुंसकता' को आत्मा-आत्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से प्रेम करने के सुन्दर नामों से अभिव्यक्त करते और नारी को अपनी महानता के लिए 'कन्विंस' करते रहते ? डॉ० नगेन्द्र-जैसे आलोचक उनके साथ थे जो यह बताते कि 'प्रेयसीत्व' की शारीरिकता को 'बहनत्व' की 'आध्यात्मिक पवित्रता' में बदलने के लिए कितने डिग्री पीड़ा की आँच और कितने आत्मिक बल की जरूरत होती है।[1]

आत्मा-आत्मा के प्रेम ने सचमुच सारी मुश्किलें आसान कर दीं। व्यक्ति अपनी रोमाण्टिक प्राकृतिक भावना को भी पूरा करता चला जाय और किसी सामाजिक व्यवस्था को भी बदलने की जरूरत न हो—इससे अधिक आसानी और क्या होगी ? नारी कहीं रहे, उसका किसी से विवाह हो, पुरुष कहीं रहे उसकी कोई भी पत्नी हो ? दोनों अपनी बँधी-बँधाई परिवार-व्यवस्था में (जहाँ वे अपने को बिलकुल भी बाँध नहीं पाते थे) रहते हुए भी अपने आत्मा-आत्मा के प्रेम को कहीं-कहीं तो खुल्लमखुल्ला या प्रायः गुप-चुप चालू रख सकते हैं और प्रेम का आदर्श दुनिया के सामने रखते हैं। इस नपुंसकता के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण एक ओर सुनीता का पति श्रीकान्त (तथा उसकी अपटूडेट 'कार्बन कॉपियाँ') है, जो स्वयं हरिप्रसन्न (या लाल इत्यादि) को लाता और अवसर देता है और दूसरी ओर 'गुनाहों का देवता' का चन्दर है (तथा उसकी अगली-पिछली परम्परा के और लोग भी), जो सुधा को पवित्र प्रेम के नाम पर दूसरे से ब्याह देता या मरने छोड़ देता है (आत्म-पीड़न की चादर में यह वही ट्रम्प-चाल है जिससे शरत् के पात्रों ने अपनी नपुंसकता को छिपाया है)। नरोत्तम नागर[2] और विश्वम्भर मानव[3]-जैसे आलोचक यदि इस 'भाभी-पूजा' और 'बहनबाजी' पर झुँझला पड़ते हैं तो इसमें अस्वाभाविक क्या है ? आश्चर्य की बात है इस तरह के एक भी पवित्र निष्क्रिय प्रेम का उदाहरण—मजनूँ को छोड़कर—हमें न तो अपनी लोक-कथाओं में मिलता है और न प्राचीन साहित्य में। क्या सीता के लिए राम का प्रेम कम पवित्र और आत्मिक था, जिसके लिए राम ने पूरे मानव-इतिहास को मोड़ दिया ? सावित्री सत्यवान से कम प्रेम करती थी जिसके लिए वह साकार मृत्यु से जूझ गई थी ? फ़रहाद के लिए शीरीं कम पवित्र थी कि उसने एक रात में पहाड़ खोद डाला ?

इसी आध्यात्मिक प्रेम की 'पवित्रता' की प्रतिक्रिया है कि लारेन्स की तरह पहले 'उग्र', फिर कुशवाहा 'कान्त' के उपन्यास या 'घेरे के बाहर' तथा उर्दू के मण्टो और इस्मत चुग़ताई के व्यभिचार और बलात्कार के साहित्य से हिन्दी-उपन्यास भर रहा है। इसका कारण स्पर्जन ने दिया है, "एक विचित्र किन्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार आध्यात्मिकता के अतिरेक के बाद कामुकता का प्रारम्भ होता है।"

असल में किसी भी परिवर्तन से बचने और उत्तरदायित्व से भागने की 'महत्त्वाकांक्षा' ही इन नपुंसक (कार्य-क्षेत्र में असफल और नारी के सामने 'आध्यात्मिक प्रेमी' महान् नायकों को परिचालित करती है। इन उपन्यासों के लेखकों का बड़ा सुन्दर विश्लेषण जैक्सन ने निम्न पंक्तियों में किया है :

"Contrariwise, the artist, pulled two ways, may have a deep dislike of his time, but an even deeper fear of revolutionary alterna-

१. विचार और अनुभूति—'शेखर' एक दृष्टि।
२. 'चकल्लस' का 'देवर भाभी अंक'।
३. आलोचना में 'पथ की खोज' का रिव्यू।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

tive to things as they are. Such a writer may achieve an illusion of detatched impartiality by scattering his sarcasms over Right and Left at once".—(Old Friends To Keep.—Page 13)

यह है इन सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक व्यक्ति-नायकों के मानसिक गठन के सामाजिक करणों का विश्लेषण। अपेक्षाकृत इनमें सबसे अधिक सशक्त नायक शेखर है और सबसे अधिक निकम्मा हरिप्रसन्न तथा उसके अन्य अवतार (वे भगवान् के अवतारों की तरह शीघ्र ही बाहर की संख्या पूरी करेंगे !)। लगता ऐसा है कि यह उस युग के 'मूल नायक' के ही दो पक्षों से लिये गए दो 'क्लोजअप' हैं और मिलकर ही एक पूर्ण चित्र खड़ा करते हैं। फिर भी पुरुष पात्रों की अपेक्षा यह लोग नारी पात्रों का अधिक प्रभावोत्पादक कहीं-कहीं सफल चित्रण कर पाये हैं; क्योंकि उसे उन्होंने एक साथ पत्नी, प्रेयसी, बहन (इत्यादि) के तीनों आयामों (डाइमेंशन) तथा इनके मानसिक घात-प्रतिघातों—द्वन्द्वों के बीच में दिखाने की कोशिश की है। यह पुरुष-लेखकों का दृष्टिकोण है। तत्कालीन परिस्थिति को नारी-दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने वाली कोई प्रथम श्रेणी की महिला उपन्यास-लेखिका का सौभाग्य हिन्दी को है नहीं, फिर भी उषादेवी मित्रा की 'पपीहरा' (पिया) अपना विक्षोभ पुरुषों को कोड़े से पीटकर प्रकट करती है।

पथ की खोज

किसी स्वस्थ जीवन-दर्शन के अभाव में यह भावुक और भाववादी व्यक्तिनायक न तो मनुष्य के व्यक्तित्व की स्वतन्त्र और पूर्ण अभिव्यक्ति ही कर पाये[1] और एक्शन को झुठलाने के कारण[2] न कोई जीवन-दर्शन ही ऐसा दे पाये जो मानवता को नई राह दिखाता।[3] इनके स्रष्टा इनकी नपुंसकता को कितनी अच्छी तरह पहचानते थे कि इन सभी ने एक सिरे से अपने को अपने पात्रों के प्रति उत्तरदायी या उनका कर्ता होने की बात को ज़ोरदार ढंग से झुठलाया है। फ्लाबेयर की शब्दावली उधार लेकर जैनेन्द्रजी ने अपने नायकों में सब जगह होने और कहीं न होने की बात कही।[4] बाद में तो हरेक रचना की पाण्डुलिपियाँ उन्हें कभी किसी रोगिणी के पास या कभी किसी वकील की फाइलों में मिल गईं। इलियट की तरह 'अज्ञेय' जी ने कहा कि "जो कलाकार निर्माण करता है वह अनुभूति करने वाले कलाकार से भिन्न है—जितनी अधिक यह

१. In the absence of a world outlook, of an understanding of life no full and free expression of human personality is possible.
—रैल्फ फॉक्स

२. You can not show man complete unless you show him in action.
—फीलिंडग

३. तुलना कीजिए—"होरी में व्यक्तित्व है और वह उसका व्यक्तित्व भारतीय किसान के व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है। शेखर में व्यक्तित्व नहीं है, वह कोरा व्यक्तिवादी है अपना ही प्रतिनिधि है।

४. The author in his work must be like god in the universe, present every where and visible nowhere; art being a second nature the creator of This nature must act by similar methods"........................ इत्यादि—फ्लाबेयर के पत्र से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्नता होगी उतनी ही सफल कला-कृति होगी।'' इसी प्रकार श्री इलाचन्द्र जोशी ने अपने और अपने नायकों के साम्य पर शर्त ही लगा दी। यदि ऐसा हो तो वे अपने को कहानीकार ही मानना छोड़ देंगे। कला और जीवन के इस द्वैत पर इल्या एहरेनबुर्ग ने कहा है ''बुर्जुआ समाज में कला और जीवन के बीच में हमेशा ही एक खाई रही है'''जब कोई ऐसा अभिजात युवक किसी ग़रीब लड़की से शादी करना चाहता है'''या ऐसा ही कोई कार्य करता है तो उसका बाप चिढ़कर कहता है जीवन उपन्यास नहीं है।''—अर्थात् इन कलाकारों ने उपन्यास को जीवन से बिलकुल अलग कर दिया है।

इनके जवाब में आते हैं हिन्दी के दूसरी प्रकार के मध्यवर्गीय—लेकिन बौद्धिक ही—नायक जो क्रियाशील भी दिखाई देते हैं, जीवन में सिद्धान्त भी बोलते हैं और व्यक्तिगत समस्याओं को भी सुलझाना चाहते हैं—यह है यथार्थवादी रोमांटिक व्यक्ति: यशपाल के ('दादा कॉमरेड' के) हरीश, ('देशद्रोही' के) डॉ० खन्ना आदि, 'अंचल' के ('चढ़ती धूप' के) मोहन, 'नई इमारत' के) महमूद और अशात, ('उल्का' के) चाँद, तथा श्रीकृष्णदास के ('क्रान्ति दूत' के) विनय, मदन तथा ('अग्नि पथ' के) रमेश-प्रेम।

हिन्दी के दो प्रगतिशील आलोचकों—प्रकाशचन्द्र गुप्त और रामविलास शर्मा—को शिकायत यह है कि ये सभी नायक सन्तुलित नहीं हैं और इनके साथ ''ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है'' वाला मामला है। वे प्रायः ''राजनीति में रोमांस खोजने आते हैं।'' अपने जीवन के सिद्धान्तों को इन लोगों ने प्रायः साम्यवादी शब्दावली में व्यक्त किया है लेकिन नारी का—यौन-जीवन का—इनकी दृष्टि से क्या स्थान है, इनमें से कोई भी साफ़ नहीं है। इसलिए 'नैतिकता के मूल्य बदलने' के नाम पर प्रायः ही इन्होंने अश्लीलता के प्रति रुचि दिखाई है—या कहिये समझ की ग़लती क्रिया में अश्लीलता के रूप में आई है। यह प्रवृत्ति अपने चरम रूप में उर्दू के अधिकांश लेखकों में—मुख्य रूप से कृष्णचन्द्र में—अध्ययन योग्य है। श्री कृष्णदास ने तो 'क्रान्ति दूत' की भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है कि ''जिस प्रकार मरुस्थल में चलते-चलते पानी पीने की आवश्यकता होती है और पानी पिया ही जाता है, उसी प्रकार अपने क्रियात्मक जीवन में हमें स्त्री की आवश्यकता होती है।'' इस दृष्टिकोण में और सिपाहियों को लड़ते समय वेश्याएँ सप्लाई करने के दृष्टिकोण में क्या अन्तर है? वेश्या और सहचरी नारी होते हुए भी कहीं तो भिन्न हैं? यह ठीक है कि साम्यवाद सामन्ती नैतिकता के नियम नहीं मानता—लेकिन कोई नियम ही नहीं मानता, यह ग़लत है। उसके अपने नियम हैं और नियमहीन उच्छृङ्खलता से उसे गडमड करना उसके विकृत रूप को रखना है। एक गिलास से कई आदमियों द्वारा पानी पीने वाली यह वही ग़लत समझ है, जिसकी क्लाराज़ैटकिन को लिखे एक पत्र में, लेनिन ने भरपूर भर्त्सना की है। राजनीति और रोमांस दोनों में यह नायक मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद लेकर आये हैं और नारी के प्रति इनमें से कुछ का दृष्टिकोण तो इनके भाईबन्द निष्क्रिय व्यक्तिवादियों से बुरी तरह मेल खाता है। चाहे व्यक्तिगत क्रान्ति की भावुक विचार-धारा हो या अहिंसक क्रान्ति की आध्यात्मिक दलीलें—राजनीतिक प्रत्युत्तर तो इन सबका ये नायक काफ़ी अच्छा दे लेते हैं लेकिन स्वयं राजनीति में प्रायः वही ग़लती करते हैं, जिसे इधर संकीर्णतावादी ग़लतियाँ कहा गया है। इसे उस समय की राजनीतिक समझ कहकर टाला जा सकता है, जिसके लिए वे ही बेचारे अकेले दोषी नहीं हैं—उनके बड़े-बड़े 'आचार्य' भी यही सोचते थे। फिर भी यह प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो प्रायः उठता ही है कि क्यों यह लोग अपने-आपको प्रचार और राजनीतिक शब्दावली इतना अधिक बाँध लेते हैं कि दूसरे दिन वह पुरानी पड़ जाय या उसके लिए इस प्रकार की को सफ़ाई देनी पड़े। ऐसी ग़लती तब होती है जब राजनीति और कला में माँ-बेटी का सम्बन्ध जोड़ा जाता है—माँ बेटी को 'डिक्टेट' करती है। कला और राजनीति दोनों जुड़वाँ बहनें हैं उनका मूल एक ही है और वह है वह जीवन, जिस पर यह अपने को आधारित करती हैं। मू विचार-धारा रोग, निदान और उपचार सबमें एकमत एक राय होते हुए भी दोनों की भाषा औ शब्दावली अलग हैं और इन्हें सहायता के लिए भले ही—लेकिन बोझ लादने को नहीं—एक दूसरे की ओर देखते हुए भी अपने उसी आधार को देखना चाहिए जहाँ इनकी जड़ें हैं। जीव को सही यथार्थवादी दृष्टि से न देखना इन नायकों की मुख्य कमज़ोरी है।

यशपाल पर आरोप का यही कारण है कि उनके उपन्यासों की स्त्रियाँ आवश्यकता अधिक नायकों को चलाती हैं, श्री कृष्णदास की स्त्रियाँ बिलकुल ही निर्जीव हैं। 'अंचल' तारा आरती इत्यादि प्रारम्भ के उपन्यासों को छोड़कर—अपनी स्त्रियों का निर्माण समय-असम नायक के प्रति प्रेम-निवेदन करने को ही किया है। नायक को अन्धे होकर पूजना, प्रेम-निवेद करना और उस पर अक्षत-रोली चढ़ाना, पहले वर्ग के नायकों की विशेषता है, अतः 'अंचल' को भी बाद में हर लिहाज से हम उन्हीं नायकों की गिनती बढ़ाते हुए देखते हैं। वे 'उल्का' लेकर 'मरु प्रदीप' तक में अपने साथी शेष 'कवि-उपन्यासकारों' के साथ आ गए। रईस की लड़ और गरीब के लड़के द्वारा वर्ग-संघर्ष की खाई को पाटने का घिसा-पिटा मन्त्र लेकर आने वाले श्र कृष्णदास को तो बहुत पहले ही 'हैण्ड्-अप' करके भाग खड़ा होना पड़ा था। जीवन के विभि स्तरों का गहरा अनुभव, मानव-मनोविज्ञान की जानकारी एक स्वस्थ राजनीतिक दृष्टि और कला त्मक पृष्ठभूमि यशपाल को जरूर सही रास्ता खोज निकालने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहि करती रही है—जिस सबकी उनके साथियों में सख्त कमी थी। वे सही राह जाने के लिए मनु के इस वर्ग-विभाजित समाज में विभिन्न रूप देखते रहे हैं। इस प्रयोग के दौरान में जहाँ उनक कलात्मक शैली, भाषा की सामर्थ्य की तारीफ़ हुई है वहाँ उनके खन्ना और सोमा इत्यादि गालियाँ भी बहुत पड़ी हैं। खन्ना 'आजाद कथा' के आजाद साहब की तरह भारत से रूस त की स्त्रियों को 'फ़तह' कर आया, फिर भी उसकी राजनीतिक समझ चन्दा के आस-पास मँड राती रही, उसमें जरा भी अन्तर नहीं आया। उधर सोमा चैखव की डार्लिंग की तरह नये-न पुरुषों का आधार खोजती रही, लेकिन स्वयं उसकी आयु और रूप कुछ भी नहीं बदले। गाँ की 'बहू' से लेकर 'पहाड़िन' एक्ट्रेस तक वह निर्लिप्त ही है।

आज के समाज में मध्यवर्गीय प्रेम-रोमांस के विभिन्न स्वरूपों को समझने और सामाजि गत्यात्मकता में उसके स्थान के निरूपण करने का एक बहुत सराहनीय प्रयत्न 'अश्क' ने अप 'गर्म राख' के नायकों द्वारा किया है। यद्यपि 'स्पिरिट' और कुछ अंशों तक प्रयत्न सही होते हु भी वे प्रकृतिवाद से उसके स्वरूप को नहीं बचा पाये हैं और उसकी रक्षार्थ उन्हें हरीश को बना बनाया उतारना पड़ा है। फिर भी इन सभी की अपेक्षा वे आपने पात्रों के प्रति अधिक तटस् सहानुभूति बरत सके हैं और व्यक्तित्वहीन जगमोहन में उन्होंने आज के मध्यवर्गीय युवक नपुंसक उलझे प्रेम को अच्छी तरह पेश किया है। निश्चय ही 'सितारों के खेल' के पवित्र के लिए खिड़की से कूद पड़ने वाले नायक का यह अगला विकास है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्णतः इस तरह के नायक नारी के लिए मूल में पहले वर्ग के नायकों का ही दृष्टि-कोण भले ही रखते हों—और उनकी सेवा-आदर प्राप्त करने के लिए अक्सर बीमार पड़ जाया करते हों, लेकिन वे सही राह खोजने की तड़प से भरे हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। असल में इन उपन्यासकारों की ग़लती यह नहीं है जो डॉ० रामविलास शर्मा समझते हैं कि "वे पूँजीवादी कला और मार्क्सवादी राजनीति को मिलाते हैं।" बल्कि कमज़ोरी उनकी यह है कि पूँजीवादी कला से क्या लेना और मार्क्सवादी राजनीति से उसका कैसे मेल बैठाना है। इसका उचित अनुपात अभी यह लेखक नहीं पा सके हैं। इस सही अनुपात की प्राप्ति को माओत्से तुंग ने समाजवादी लेखक की सफलता ही माना है, क्योंकि शुद्ध कलाकारों[1] की बात तो कुछ कहनी नहीं होती इसलिए कला को माँजने की काफ़ी फ़ुरसत रहती है—इसलिए बात कहने के लिए इनकी मँजी कला ली जा सकती है।

बहती गंगा

चैखव, तुर्गनेव, टाल्सटाय और डिकेन्स की सबसे बड़ी विशेषता है, वस्तुस्थिति की उनकी पकड़ और तज्जन्य मानसिक संवेदनाओं का सामाजिक परिपार्श्व में ऐसा अंकन कि आगे आने वाले किसी भी मत के पाठक को तत्कालीन युग को समझने का उससे सच्चा और अच्छा माध्यम ही न मिले। उसका मतवाद भले ही उन्हें उपन्यासकार के 'निदान' से असहमत होने को विवश करे—उसे उनकी व्यक्तिगत या तत्कालीन सीमाएँ मानकर छोड़ा भी जा सकता है। सामाजिक सम्बन्धों में मानव-हृदय की यही समझ थी जिसने डिकेन्स को हर युग में हर देश के महान् लेखकों द्वारा पढ़े जाने का समर्थन प्राप्त कराया है और रॉबर्ट लिण्ड को चैखव के विषय में यह कहना पड़ा कि मानव-हृदय का इतना बड़ा जानकार इस नक्षत्र पर पैदा नहीं हुआ और स्तालिन को यह मानना पड़ा कि यदि तत्कालीन परिस्थितियों में रूसी हृदय को समझना है तो चैखव से बड़ा कोई कलाकार नहीं मिल सकता। यही नहीं मानव-चेतना के तीन छोरों को—टाल्सटाय, गोर्की और समरसैट मॉम को—समान निष्ठाभरी भाषा में उसे श्रद्धांजलि देनी पड़ी।

कुछ हद तक यह सही है कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न यौन-कुण्ठा—जिसके विषय में ऊपर काफ़ी कहा जा चुका है—उस समय के युवकों के एक वर्ग में सत्य थी—और प्रेमचन्द ने उसे प्रायः अपने किसी भी उपन्यास में प्रायः किसी भी रूप में स्थान नहीं दिया है। यह भी कह सकते हैं कि मानव-चेतना की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ किस तरह किन्हीं विशेष परिस्थितियों में प्रतिबाधित और रुद्ध होकर असामान्य मनोविज्ञान की सृष्टि करती हैं इसका एक भी चित्र हमें प्रेमचन्द में नहीं मिलता, इसलिए कुछ लोगों को उनमें 'मनोवैज्ञानिक गहराई' या चेतना के विभिन्न (विकृत) स्तरों के दर्शन नहीं होते। फिर भी स्तालिन ने जो बात चैखव के सम्बन्ध में लिखी है वही प्रायः प्रेमचन्द के विषय में भी कही जाती है। इसका कारण यह भी है कि प्रेमचन्द ने अपने सभी पात्रों को विकासमान घटना-क्रम में ही देखा है जिससे उनकी विकृ-

---

१. "Why we should admire a 'pure artist' more than a 'pure woman' is one of the mysteries of the age. Why not just an artist and a woman? They are both interesting and they both suffer, but not in order to be beautiful" —फ़ॉक्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तियाँ और कुण्ठाएँ प्रायः क्रिया के रूप में ही ढल गई हैं। उन्होंने उन्हें कहानी से अलग हटाकर स्थिर और विश्लिष्ट करके उनकी महीन-से-महीन रुद्धता का मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और परीक्षण नहीं किया और न ही हर अनुभूति को बौद्धिक स्तर पर ले जाकर उसका तटस्थ 'दर्शन' करते हुए भाषा और भावों की उलझन और गरिष्ठता में अपने को खोया है। उन्होंने 'अन्तराल' बनाकर अपने पात्रों को और भी अधिक आत्मालोचन और आत्म-ज्ञान की छूट भी नहीं दी और मेरी समझ में यह एक सही दृष्टिकोण था। मनोवैज्ञानिक गम्भीरता, चेतना के स्तर-प्रस्तरों का अनुसन्धान मानव-मन की कुण्ठा और विकृति को—सफल या असफल—यदि चाहे तो कौन-सा लेखक नहीं चित्रित कर सकता और किस स्वस्थ-से-स्वस्थ मनुष्य में इस तरह की गाँठें नहीं हैं? पवित्र-से-पवित्र पानी के एक छोटे-से बिन्दु में या दही और वनस्पतियों में कीटाणुओं की कितनी विराट् संख्या छिपी है इस बात के वैज्ञानिक सत्य से इन्कार करना मूर्खता होगी; लेकिन हर जगह व्यक्ति यही सब देखने बैठ जायगा तो उसका खाना-पीना, उटना-बैठना सब-कुछ हराम हो जायगा। प्रेमचन्द के दृष्टिकोण को सही या ग़लत कह देना अलग बात है लेकिन उसे उनकी कमज़ोरी मानना उचित नहीं है। प्रवृत्तियों और चेतना की किन अनिवार्य वृत्तियों को हम स्वीकार या नजरन्दाज कर सकते हैं, इसे हमें एक सामाजिक प्राणी की दृष्टि से ही सोचना होगा।

प्रेमचन्द की एक-मात्र सफलता यह थी कि उनकी कहानी उस बिन्दु से शुरू होती है, जिसे बहुत बाद तक भी लोगों ने—विशेषकर मध्यवर्गीय अभिजात आलोचकों और उपन्यासकारों ने—कोई महत्त्व नहीं दिया। वह था व्यक्ति और समाज का मिलन-बिन्दु अर्थात् परिवार। प्रेमचन्द कुछ वर्गों के चित्रण में बहुत अधिक सफल रहे हैं, कुछ के में कम, यह उनके अनुभव की अपनी सीमा थी लेकिन उनके उपन्यास का कोई भी प्रमुख पात्र कम-से-कम दो ऐसी विशेषताएँ रखता है जो उन्हें सामयिक तथा परवर्ती सभी-उपन्यासकारों से अलग कर देती हैं। या तो वह एक परिवारिक पृष्ठभूमि लेकर आता है या एक से अधिक सम्बन्धों में हम उसे चलते-फिरते देखते हैं—यहाँ तक कि उनका एक-मात्र अभिजात या आदर्श प्रेमी विनय भी केवल सोफ़िया के साथ ही मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों का 'प्लांचेट' नहीं है—उसके और भी सम्पर्क और सम्बन्ध हैं। इस कला के द्वारा वे अपने नायकों के किसी विशेष व्यक्तित्व पर कई तरह से या व्यक्तित्व के कई पक्षों पर एक साथ सधा और सीधा प्रकाश डालने में समर्थ हो सके हैं—वर्ना रायसाहब ज्ञानशंकर, अमरकान्त इत्यादि को परम्परागत रूप में ढला-ढलाया खलनायक न बनने देकर इतनी अधिक मानवीय तटस्थता से वे उनका चित्रण न कर पाते। मैं खलनायक इसलिए कह रहा हूँ कि आज के उपन्यासकार के लिए—जो किसी भी 'रैडी मेड' चीज में विश्वास नहीं करता, सबसे अधिक मुश्किल है खल नायक का निर्माण।[1] आज वह किसे सड़क पर खड़े होकर और किस आधार पर और क्यों कह दे कि तू खलनायक है? यही वह स्थान है जहाँ हिन्दी के सबसे बड़े कलाविद् 'अज्ञेय' तक 'फेल' हो गए हैं और जब उनका चन्द्रमाधव आता है तो ऐसा लगता है कि राजा शिवदत्त (चन्द्रकान्ता सन्तति) चले आ रहे हैं। केवल यही उद्देश्य न होने के कारण प्रेमचन्द अपने अन्तिम दो नायकों को छोड़कर भले ही उस विधि का सफलतापूर्वक उपयोग न कर पाए हों, लेकिन यह अन्तर्दृष्टि उन्होंने जरूर दी कि चाहे कितना ही अतलान्तक

१. 'पाँचू' के चित्रण में विशेष सफलता न मिलते हुए भी 'मोनाई' (खलनायक) के चित्रण 'महाकाल' में श्री अमृतलाल नागर को जो सफलता मिली है वह इसका अपवाद है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गूढ़-गम्भीर मनोविश्लेषणात्मक नायक हो तब तक न तो उसकी मानसिकता का सफल चित्रण ही हो सकता है और न उसे 'टाइप' ही बनाया जा सकता है जब तक कि उसे कई कोणों, क्रिया-परम्पराओं और सम्बन्धों के बीच में नहीं देखा जाता। इल्या एह्रेन बुर्ग ने इसे ही नई शब्दावली यों दी है—"१९वीं शताब्दी का उपन्यास मुख्य रूप से या तो व्यक्तियों या उन परिवारों को लेकर चलता है जिनमें लेखक अपने एक या अधिक नायकों के आस-पास चरित्रों को एकत्र कर देता था। आज का सामाजिक जीवन व्यक्ति के घरेलू जीवन का ही हिस्सा अधिक है। आज चाहे मनोवैज्ञानिक हो या अन्य, "ऐसे उपन्यास की कल्पना ही नहीं की जा सकती जिसमें नायक या नायकों के सम्पर्क में आने वाले विभिन्न व्यक्तियों का चित्रण न हो।"[1]

व्यक्ति को कई कोणों और पक्षों से दिखाना प्रायः उपन्यासकार को प्रकृतिवादी यथार्थ-वाद में उलझा देता है, जैसा कि कुछ अंशों में 'प्रसाद' के 'कंकाल' और 'तितली' में और बाद के रांगेय राघव में हुआ। सचेत उपन्यासकार परिस्थिति और समस्याओं में ही उलझा रह जाता है, न तो वह व्यक्ति बना पाता है और न इस दिशा में कोई आशाजनक प्रयास करता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण होते हुए भी अपरिहार्य घटनाओं और व्यक्तियों को छाँटने के विवेक के अभाव में प्रायः ही उपन्यासकार असन्तुलित होकर अवान्तर प्रसङ्गों के विस्तार में बहक जाते हैं। कुछ अंशों में 'अश्क' का 'गिरती दीवारें' इसका उदाहरण है।

यह चयन या छाँटने का काम तब बहुत आसान—कहना चाहिए तभी सम्भव होता है जब[2] लेखक अपने नायक के विषय में सभी कुछ जानता हो। इसके बिना न तो वह कहानी को ही चला सकता है और न व्यक्तित्व के खास-खास पक्षों को ही शक्तिशाली ढंग से रख सकता है। विशेष रूप से व्यक्तिवादी नायकों के स्रष्टा मूलतः जानते ही नहीं थे कि उनका कोई विशेष चरित्र किन सामाजिक या अन्य परिस्थितियों या प्रतिक्रियाओं के कारण ही वैसा बन गया है और उस स्थिति में केवल वही कर सकता है, जैसा करते हुए उन्होंने दिखाया है। वे कटे-छटे कलापूर्ण चरित्र के नाम पर जो कुछ देते थे वही अपने पात्रों के विषय में जानते थे या अपने चरित्रों को केवल इसी रूप में वे समझ भी पाये थे। उनकी पारिवारिक स्थिति, सगे-सम्बन्धी, जीविका का साधन, व्यक्तिगत रुचि आदि किसी भी पात्र की इस प्रकार की 'हिस्ट्री-शीट' से उपन्यासकार को कोई मतलब नहीं होता था इसलिए ये चरित्र बड़े एकाङ्गी लगते हैं, जैसे अंधेरे में घूम रहे हो। 'गोदान' का होरी इस दृष्टि से भारतीय कथा-साहित्य में बेजोड़ है और बाद के चरित्रों में तो इस तरह का एक ही प्रयत्न ध्यान में आ रहा है जिसे इतने अधिक सम्बन्धों और सम्पर्कों में रखने की कोशिश की गई—वह है विष्णु प्रभाकर की 'ढलती रात' का 'दर्शन-हीन' नायक कान्त। 'चेतन' सामाजिक परिस्थितियों के अङ्कन के लिए केवल एक ऐसा पारदर्शी माध्यम बन गया है कि व्यक्तित्व नहीं बन पाया। उसकी सफलता इस बात में है कि वह जीवन से कटे हुए यौन-कुण्ठा-ग्रस्त व्यक्तियों को एक सामाजिक पृष्ठभूमि में चित्रित करने का प्रयास है।

१. लेखक और उसका शिल्प।

२. "उपन्यास के लेखक को अपने पात्रों की बचपन से लेकर बुढ़ापे तक की जिन्दगी से परिचित रहना चाहिए। वह इन सबको चित्रित नहीं भी कर सकता, परन्तु अपनी रचना और दृष्टिकोण के अनुसार कुछ परिवर्तन करके उनमें से आवश्यक चीज़ें छाँट अवश्य लेता है।" इल्या एह्रेनबुर्ग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी कथा के लिए हम उसका उपयोग या चित्रण किसी भी रूप में और कितना ही करें नायक को हम तब तक सजीव और सम्पूर्ण नहीं बना सकते जब तक कि उसके व्यक्तित्व के दो पक्षों को हम बहुत अच्छी तरह न समझ लें। रैल्फ फॉक्स के अनुसार "हर मनुष्य के दो इतिहास होते हैं। जाति-पात्र (टाइप) के रूप में उस व्यक्ति का सामाजिक इतिहास होता है और एक व्यक्ति के रूप में उसका अपना व्यक्तिगत इतिहास होता है। इन दोनों ही इतिहासों में परस्पर चाहे कितना ही द्वन्द्व और संघर्ष क्यों न दिखाई दे, असल में है यह अविछिन्न ही। यह सही है कि व्यक्तिगत इतिहास अन्ततः सामाजिक इतिहास द्वारा ही निर्धारित होता है किन्तु इसका यह मतलब कभी नहीं है और न होना चाहिए कि कला में व्यक्तित्व के ऊपर सामाजिक जातीयता ही हावी हो जाय।" और यह सामाजिक इतिहास आज हमारे समाज में कितनी धाराओं में बँटा है तथा किस तरह विकास, गति और रूप प्राप्त करता हुआ व्यक्तिगत इतिहास या व्यक्तित्व का निर्माण करता है यही उपन्यासकार की अन्तर्दृष्टि की कसौटी है।

होरी और उसके केवल दो उत्तराधिकारी—अमृतलाल नागर का 'सेठ बाँकेमल' और नागार्जुन का 'बलचनमा'—अपने व्यक्तित्व में सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को इस तरह आत्मसात् करके साकार हो उठे हैं और इतने अधिक 'अपने व्यक्तित्व' के लोग बन गए हैं कि जहाँ हम उनमें एक युग अपनी सारी विशेषताओं के साथ देखते हैं, वहाँ वे बहुत ही साधारण लेकिन बेजोड़ आदमी भी हैं। यदि सामन्तवाद की समाप्ति[१] के साथ होरी की कहानी समाप्त होती है तो 'बाँकेमल' और 'बलचनमा' अपने पुराने संस्कारों के साथ नई सभ्यता का ऐसा गंगा-जमुनी समन्वय देते हैं कि दो अद्भुत व्यक्तित्व सामने आते हैं। बाँकेमल तो सचमुच ही अद्वितीय चरित्र है, जो हँसते-हँसते अपने युग की प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील दोनों धाराओं का दिग्दर्शन कराता है। वह पुराने का भक्त है। अपने समय से चिपका है। गाँव में जाता है तो पनिहारिनों से मजाक करने में या उनके साथ मजा लूटने में; बगीची में आशिक-माशूकी की शायरी करने में या अपने गाहकों की, यहाँ तक कि लाला मूलचन्द की भी जेब काटने से नहीं चूकता। लेकिन एक जगह वह परम क्रान्तिकारी है। मुसलमान बादशाह को हृदय से प्यार करता है। गरीबों की शादी के लिए छाती ठोककर लड़ने को तैयार हो जाता है। सबके ऊपर उसकी अपनी सनकें तो हैं ही। वर्णनात्मक शैली की सजीवता की दृष्टि से भारतीय साहित्य के बाहर भी ऐसा मस्त चरित्र मिलना मुश्किल है।

रतिनाथ और बलचनमा के रूप में ऐसा लगता है कि नागार्जुन ने प्रेमचन्द की विस्मृत कथा-परम्परा और होरी की वंशावली—अर्थात गोबर—को चित्रित किया है। लेकिन सामाजिक और सांस्कृतिक सत्यों को समोकर वह भी इतना सशक्त पात्र नहीं दे सके, जो बाँकेमल है। हालाँकि बाँकेमल अपने-आपमें उपन्यास का अधूरा ही पात्र है जिस तरह होरी का ढीला-ढाला प्रशान्त चरित्र बिना धनिया की तेजी और सड़क के नहीं निखर सकता था उसी तरह बाँकेमल तो केवल चौबे जी के चरित्र का पूरक है। वह उनकी कथाओं को ऐसी निष्ठा और लगन से

---

१. श्री शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है—"होरी के जीवन में अविराम संघर्ष है, लेकिन अकेला होते हुए भी होरी इस संघर्ष में अकेला नहीं है। होरी के गिरने पर समाज का पूरा ढाँचा गिरता दीखता है और उठने पर पूरा समाज उठता नज़र आता है।" 'प्रगतिवाद', 'कथा साहित्य की समस्याएँ'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बयान करता है जैसे 'संकोपांजा' के मुँह से हम 'डॉन क्विकजोट' के या 'खोजी साहब' के मुँह से 'मियाँ आजाद' के कारनामे सुन रहे हों, लेकिन उसने जिस ढंग, जिस लहजे और जिस लटके में इन सब का वर्णन किया है वह इनकी अपेक्षा अधिक उस समय का पूरा चित्र देने में सक्षम है।

सामन्ती व्यवस्था से व्यक्ति को मुक्ति दिलाने का काम तो मानवतावाद ने बड़ी सफलता-पूर्वक किया है लेकिन निरस्त्र और असमर्थ[1] होने के कारण स्वयं पूँजीवाद के सामने उसे हार स्वीकार करनी पड़ी। 'रंगभूमि' का 'सूरदास' पुराने संस्कारों, रूढ़ियों और क्षुद्रताओं में जकड़े लोगों को अपनी व्यक्तिगत सिद्धि और हार्दिक निश्छलता के प्रभाव से एक उद्देश्य के लिए संगठित तो कर सका, लेकिन वह 'अन्धा' था। उस संगठन का किस दिशा में और किस प्रकार उपयोग किया जाय, न वह जानता था न देखता था, इसलिए उमड़ते पूँजीवाद के थपेड़ों में निर्भयता पूर्वक एक ओर फेंक दिया गया। इस वैज्ञानिक सत्य के साथ प्रेमचन्द ने सूरदास की बातचीत, चाल-ढाल, रहन-सहन, व्यवहार, मान्यताओं और संस्कारों को जो व्यक्तिगत आकार दिया है वह व्यक्तित्व-निर्माण का एक अत्यन्त ही उत्कृष्ट और प्रभावशाली उदाहरण है। पूँजीवाद के मुकाबले में निरीह मानवतावाद को समर्थ करने का एक-मात्र श्रेय—या युगानुरूप मानवतावाद को ढालने का एक-मात्र श्रेय—मार्क्सवाद को है और इसकी अभिव्यक्ति मार्क्सवादी ग्रन्थों की वाक्यावली उद्धृत करने से नहीं, यहीं की धरती में वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टि से समाजवादी यथार्थ के चित्रण के रूप में होगी—इस दिशा की ओर प्रेमचन्द का दूसरा सधा, कलापूर्ण कदम था होरी। हालाँकि 'गोदान' में संघर्ष-जैसी कहीं कोई चीज नहीं है। होरी एक रूढ़िगत अभिलाषा—गोदान की अभिलाषा—को लेकर जीवन के अन्तिम दम तक अपनी सीमाओं, बुराइयों-भलाइयों के बीच उनसे जूझता, समझौता करता, जीवित रहने के लिए लड़ता चला जाता है और अन्त में अपने इस लड़ने की परम्परा को गोबर अर्थात् सर्वहारा वर्ग को दे जाता है। सच पूछा जाय तो उस परम्परा को उसी दृष्टि और गहराई से यथार्थ पृष्ठभूमि में अभी तक बढ़ाया ही नहीं गया केवल उस दिशा में कुछ प्रयोग हुए हैं और चूँकि वे प्रयोग हैं इसलिए काफी अपरिपक्व भी हैं।

(नया व्यक्ति अपने जीवित रहने के लिए पुरानी व्यवस्था से संगठित और समर्थ होकर लड़े, इस दिशा में सही—लेकिन बहुत अपरिपक्व केवल एक प्रयत्न देखने में आया है वह है यशपाल का 'पार्टी कामरेड'। उसमें यशपाल की एक-मात्र सफलता यह है कि वे भावरिया को एक व्यक्ति लड़ाकू बनाने में—कुछ लोगों का कहना है बड़े सस्ते ढंग से—सफल हो सके हैं। गीता को देखकर सस्ते रोमांस की जगह किसी और सशक्त प्रवृत्ति द्वारा वे यदि भावरिया के मानवतावाद का 'हृदय-परिवर्तन' दिखाकर समर्थ बना पाते तो शायद ज्यादा अच्छा होता। यों रोमांस

१. टालसटाय के अहिंसावाद के सिद्धान्त से पूरी तरह मुक्ति चैखव को 'शाख़ालिन' द्वीपों की यात्रा ने दिलाई, जहाँ उन दिनों अपराधी जाते हैं। वहाँ से 'सुवोरिन' को पत्र लिखा था "यदि अहिंसा के सिद्धान्त में ज़रा भी व्यावहारिकता और हृदय-परिवर्तन की सामर्थ्य होती तो इस स्थान से अधिक उपयुक्त स्थान उसके लिए कोई नहीं था। यहाँ मैंने सैकड़ों मनुष्यों को क्रूर अधिकारियों द्वारा गुलामों की तरह शान्त और निरीह पिटते देखा है और युग बीत गए हैं किसी अधिकारी का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहे उसका प्रारम्भ कितना ही विकृत क्यों न हो लेकिन मूल और अन्तिम परिणति में मानवता के सभी तत्त्वों से वंचित है ऐसा मैं नहीं मानता ।)

इन सभी प्रयोगों में 'गिरती दीवारें', 'बीज' और गंगाप्रसाद मिश्र के 'संघर्षों के बीच' से लेकर 'गंगा मैया', 'बहती गंगा' से 'प्रेत बोलते हैं' तक विकासमान समाज के वैज्ञानिक सत्य और उसकी समस्याओं-परम्पराओं इत्यादि को आज तक की स्थिति में छोटे-बड़े स्तर पर समझने का प्रयत्न तो जरूर ईमानदार है; लेकिन इनका भी इन-जैसे अन्य समकालीन सभी लेखकों की एक बहुत बड़ी कमजोरी है । वे विकासमान समाज का विश्लेषण, उसके विभिन्न रूपों का निरूपण तथा पिछली गति का चित्रण तो काफी सफल कर सके हैं लेकिन आज के बाद उसकी एक भी कड़ी का सही रूप नहीं दिखा पाये और उन्हें प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों की तरह 'आदर्श' की या तो एकदम अवतारणा करनी पड़ी है या अधिक तर्कसंगत होने के आग्रह में उन्हें उस कड़ी को वहीं छोड़ देने को विवश कर दिया है । दूसरी और बहुत बड़ी कमजोरी इन लोगों की यह रही है कि अभी तक ये लोग किसी ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर पाये जैसे पिछले युग के सूरदास, होरी, बाँकेमल और बलचनमा हैं । व्यक्ति केवल कुण्ठाओं, विकृतियों और मनोवैज्ञानिक गाँठों का अजायबघर ही नहीं एक बीतती संस्कृति का गवाह और उगती संस्कृति का परिवाहक भी है । वह संस्कृति और समाज के इतिहास की एक कड़ी है उसे एक गतिशील संस्कृति के सजीव, अकृत्रिम प्रतीक के रूप में ऐसी दृष्टि से देखना खुली और स्वस्थ दृष्टि का परिचायक है जिसमें उसका अपना व्यक्तित्व भी उभरे । होरी और बाँकेमल गाँव और शहर की मरणशील सभ्यता के ऐसे अध्ययन हैं जो जीते-जागते व्यक्तित्व वाले आदमी भी हैं और अपनी वस्तुसत्यता की पकड़ के लिए इतिहास के अमर नायक भी । यदि 'रथ के पहिये' (देवेन्द्र सत्यार्थी) एक जाति और 'बहती गंगा' (शिवप्रसाद मिश्र) एक नगर का अध्ययन है तो यशपाल एक 'घटना', 'गिरती दीवारें' (अश्क) एक वर्ग और 'प्रेत बोलते हैं' (राजेन्द्र यादव) एक घर का, लेकिन व्यक्ति इनमें कोई उभरकर नहीं आता ।

मैं मानता हूँ कि यथार्थवादी होते हुए भी यह इन रचनाओं के लेखकों का प्रकृतिवादी रुझान हो सकता है कि न तो वे समाज-विकास की अगली कड़ी दे पाते हैं और न कोई व्यक्तित्व लेकिन इनके प्रयोगों की ईमानदारी के बारे में सन्देह करना गलत होगा । अगली कड़ी देने के नाम पर इनमें से वह जल्दबाजी बहुत कम लोगों ने की है जो 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के लेखक धर्मवीर भारती कर बैठे हैं । उन्होंने कहीं सुना कि "मार्क्सवाद उपन्यासकार को एक ऐसी दृष्टि से सम्पन्न कर देता है कि वह वर्तमान को भविष्य की दृष्टि से देख सके" बस सारे मार्क्सवाद को समझकर 'सातवें घोड़े के रूप' में बिना लिङ्क मिलाये हुए डोरे में बँधा 'भविष्य' उन्होंने रंगमंच पर ला उतारा । मार्क्सवादी दृष्टि का यह विशेषण—"मुक्तदायिनी लेकिन ज़रा खतरनाक" उन्होंने नहीं पढ़ा । इस खतरे का दूसरा उदाहरण व्यक्तित्व-निर्माण के नाम पर 'गर्म राख' का हरीश है ।

फिर व्यक्ति का निर्माण इतनी आसानी से नहीं हो सकता । सूरदास और होरी प्रेमचन्द के कितने लम्बे प्रयोगों की कड़ी के परिणाम हैं, यह देखने पर पूरी बात समझ में आ जाती है । 'सेवा सदन' से लेकर 'कर्मभूमि' तक समस्याएँ-ही-समस्याएँ हैं । उन समस्याओं को लेकर आने वाले कुछ पात्र हैं, जो उन्हें प्रस्तुत करने के ढंग के कारण ही आपस में भिन्न हैं, व्यक्तित्व है ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। कम-से-कम उस अर्थ में नहीं हैं जिसमें ये पिछले दो नायक हैं। दूसरे प्रेमचन्द के युग से आज व्यक्तित्व का निर्माण करना ज्यादा कठिन काम इसलिए भी है कि प्रेमचन्द जिस युग में जी रहे थे और जी चुके थे दोनों व्यवस्थाएँ उनके सामने थीं। 'नये' में वे रहते थे और 'पुराने' को खूब अच्छी तरह जानते थे। आज के उपन्यासकार को इतना ही जानना काफी नहीं है 'एक' अनिवार्य अनागत की छाया भी उसकी छाती पर मँडराती है—यदि वह केवल होरी-जैसे पात्र को चित्रित करके छोड़ देता है तो यह उसका निराशावादी दृष्टिकोण ही माना जायगा उससे माँग की जायगी कि अगले आदमी का चित्र दे जो इस निराशावाद के खिलाफ लड़ रहा है। होरी-जैसा पात्र भी अङ्कित न कर पाने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि उस 'अगले आदमी' की आवश्यकता खुद लेखक कम उत्कटता से नहीं अनुभव करता। यहाँ तक कि वह इस इच्छा को अलग भी नहीं कर सकता और समझता भी नहीं है, क्योंकि इस 'अगले आदमी' की तस्वीर अभी इतनी धुँधली और अस्पष्ट है कि उसकी रेखाएँ अभी पकड़ में नहीं आतीं और उनके बिना तस्वीर पूरी नहीं होती। फिर भी व्यक्तित्व-निर्माण के माहिर श्री अमृतलाल नागर तथा अन्य लेखकों के 'बूँद और समुद्र'-जैसे प्रयोग अभी जारी हैं और देखें कौन है जो बिहारी की नायिका की तरह नित्य परिवर्तनशील उसकी 'छवि' को 'लिख' पाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

हिन्दी का भावी रूप

हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोणों से विचार हो सकता है—(१) यह रूप क्या होना चाहिए और (२) इस रूप के क्या होने की सम्भावना है ?

जहाँ तक क्या होना चाहिए का प्रश्न है, भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं के लोगों की भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ हैं। आजकल सबसे अधिक प्रचलित विचार-धारा यह है कि हिन्दी के भावी रूप में भारतवर्ष की समस्त चौदह प्रधान भाषाओं की शब्दावली और कदाचित् व्याकरण के रूपों का मिश्रण होना चाहिए। जब तक ऐसा न होगा तब तक हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में देश के भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी भागों में स्वीकृत नहीं हो सकेगी—प्रादेशिक साहित्यिक भाषा चाहे वह बनी रहे। यह तो अभी निश्चय नहीं किया जा सका है कि किस अनुपात से यह मिश्रण हो; किन्तु यह सिद्धान्त अकाट्य मान लिया गया है कि मिश्रण अवश्य होना चाहिए। फलस्वरूप हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली निर्माण करने वाली उपसमितियों में यदि अन्य भाषा-भाषी सदस्य होते हैं तो वे कभी-कभी अपनी भाषाओं के कुछ शब्द सुझा देते हैं और लेन-देन तथा समझौते की भावना से इन्हें स्वीकृत कर लिया जाता है।

इसी सिद्धान्त से सम्बन्धित एक विचार-धारा यह है कि हिन्दी भाषा का रूप इस दृष्टिकोण से सरल किया जाना चाहिए जिससे कि वह भारत के भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों को सीखने में कठिनाइयाँ न उपस्थित करे। उदाहरण के लिए इस प्रकार तर्क दिया जाता है कि भारतवर्ष की बंगाली आदि पूर्वी भाषाओं में लिङ्ग-भेद के कारण व्याकरण-सम्बन्धी रूपों में विभिन्नता नहीं होती, फलस्वरूप इन भाषा-भाषियों के सुभीते के लिए हिन्दी भाषा से लिङ्ग-भेद हटा देना चाहिए। जैसे हिन्दी के विशेष स्त्रीलिंग रूप जैसे 'जाती, खाती, पढ़ती' आदि अनावश्यक हैं। इनके स्थान पर 'जाता, खाता, पढ़ता' आदि रूपों का ही प्रयोग सर्वत्र होना चाहिए। जिस तरह हिन्दी में 'राम जाता है' कहते हैं, वैसे ही 'सीता जाता है, रेल जाता है, लड़की जाता है' आदि प्रयोग चलाने चाहिएँ।

हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए, इस सम्बन्ध में दूसरी विचार-धारा हिन्दुस्तानी का पक्ष लेने वाले वर्ग की है। ये लोग अब भी इस विचार के हैं कि हिन्दी की ध्वनियाँ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दावली तथा व्याकरण उर्दू के काफ़ी निकट लाया जाना चाहिए और उर्दू-भाषा-भाषियों की सुविधा को ध्यान में रखकर इनमें आवश्यक परिवर्तन होने चाहिएँ, जिससे उर्दू के जानकारों को हिन्दी सीखने में कठिनाई न पड़े और यदि सम्भव हो सके तो खड़ी बोली की हिन्दी और उर्दू शैलियाँ एक हिन्दुस्तानी शैली में घुल-मिल जा सकें। इसी विचार-धारा के परिणामस्वरूप हिन्दी के लिए देवनागरी लिपि के साथ उर्दू लिपि को, जो उद्‌गम की दृष्टि से अरबी लिपि है, सीखने पर बल दिया जाता है।

हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में तीसरी विचार-धारा संस्कृत की ओर झुकने वाले विद्वानों की है। इनकी धारणा है कि वास्तव में संस्कृत को भारत की राष्ट्रभाषा होना चाहिए। प्राचीन काल में बहुत समय तक यह भारतवर्ष की अन्तर्प्रादेशिक और राजभाषा रही भी है और आज भी यह देश के समस्त हिन्दुओं की धर्म और दर्शन की प्रधान भाषा है। किन्तु यदि संस्कृत राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकी है तो हिन्दी को इतना संस्कृत गर्भित कर देना चाहिए कि वह संस्कृतमय हो जाय। इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में संस्कृत को हिन्दी-पाठ्य-क्रम का अंग बनाया जा रहा है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, बंगला, मराठी या गुजराती आदि अन्य भारतीय भाषाओं के पाठ्य-क्रमों में संस्कृत को इस प्रकार का असाधारण स्थान नहीं दिया जा रहा है।

पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में यथासम्भव संस्कृत-तत्सम शब्दों अथवा संस्कृत-व्याकरण के आधार पर गढ़े हुए शब्दों को यह वर्ग अच्छा समझता है। इस सम्बन्ध में यह तर्क भी उपस्थित किया जाता है कि ऐसी सांस्कृतिक शब्दावली से युक्त होने पर हिन्दी का रूप भारत के अन्य साहित्यिक भाषा-भाषियों के लिए सरल पड़ेगा, क्योंकि तेलुगु, मराठी, बंगला आदि भाषाओं में भी संस्कृत-तत्सम शब्दावली का व्यवहार स्वतन्त्रता से होता है। उदाहरण के लिए संस्कृत-तत्सम रूप 'क्षेत्र' अन्य भाषा-भाषियों के लिए अधिक सुबोध हो सकेगा 'क्षेत्र' का तद्‌भव हिन्दी रूप 'खेत' केवल हिन्दी-भाषी-प्रदेश तक ही सीमित है।

हिन्दी के भावी रूप की कल्पना के सम्बन्ध में चौथी और अन्तिम विचार-धारा अंग्रेजी पढ़े भारतीयों की है, जिन्होंने अंग्रेजी शासन-काल में अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा पाई थी। क्योंकि उस समय शिक्षा-क्रम में भारतीय भाषाओं को उचित स्थान प्राप्त नहीं था, अतः ये लोग अपनी-अपनी भाषाओं के ज्ञान से प्रायः वंचित हैं। इस वर्ग का सच्चा विश्वास तो प्रायः यह है कि यदि अंग्रेजी ही शासन, शिक्षा तथा न्याय आदि के क्षेत्र में चलती रहती तो अच्छा होता, क्योंकि भारतीय भाषाएँ कभी भी अंग्रेजी के स्तर तक पहुँच सकेंगी, इसमें उन्हें सन्देह है—जो हो, उनके अनुसार निकट भविष्य में तो नहीं पहुँच सकती। किन्तु यदि हिन्दी को चलाना ही है तो कम-से-कम समस्त पारिभाषिक शब्दावली तो अंग्रेजी की ज्यों-की-त्यों ले ही लेनी चाहिए। इस शब्दावली को अंग्रेजी-शब्दावली न कहकर अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली नाम दे दिया गया है। इस बात का भी इधर प्रयत्न हो रहा है कि माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में अंग्रेजी को फिर से लौटाया जाय।

इस प्रकार हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए, इस सम्बन्ध में चार भिन्न विचार-धाराएँ अपने देश में चल रही हैं, जिन्हें संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि—(१) हिन्दी का भावी रूप भारत की समस्त भाषाओं की खिचड़ी से बनना चाहिए, (२) हिन्दी को उर्दू के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकट लाने के लिए इसे हिन्दुस्तानी बनाना चाहिए, (३) हिन्दी संस्कृत-गर्भित होनी चाहिए और (४) हिन्दी भाषा और अंग्रेजी शब्दावली के मिश्रण से 'हिन्दुस्तानी' के वजन पर हिन्दी का नया रूप इंगलिस्तानी बनना चाहिए।

वास्तव में जो समझने की बात है वह यह नहीं है कि हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए, बल्कि क्या होने की सम्भावना है ? संसार में हजारों भाषाएँ हैं और उनका हजारों वर्षों का इतिहास हमारे सामने है। भाषाओं के इन इतिहासों की जानकारी के आधार पर भाषा-विज्ञान के पण्डित वर्तमान भाषाओं के भविष्य के सम्बन्ध में लगभग निश्चय के साथ वैज्ञानिक परिणामों पर पहुँच सकते हैं।

इस सम्बन्ध में पहली बात जो समझने की है वह यह है कि यद्यपि भाषा निरन्तर परिवर्तन शील है किन्तु इसमें परिवर्तन यकायक नहीं होते हैं, और न कृत्रिम ढंग से सहसा किये जा सकते हैं। भाषा-विज्ञान का यह चिर-परिचित नियम हिन्दी-भाषा पर भी लागू होगा। उदाहरण के लिए खड़ी बोली हिन्दी की साहित्यिक शैली, जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से विकसित हुई, गत ७०-८० वर्षों में ही काफी प्रौढ़ हो गई है और भविष्य में यह प्रौढ़ता आगे बढ़ेगी, यह निश्चित है। किन्तु विकास की यह प्रक्रिया स्वाभाविक ढंग से धीरे-धीरे हुई है और भविष्य में भी ऐसे ही होगी। भाषा-शैली के रूप के सम्बन्ध में हम कानून बनाकर उसमें सहसा उलट-पलट नहीं कर सकते। यदि हम चाहें कि हमारा १० वर्ष का बच्चा ६ महीने में ही १६ वर्ष का बड़ा लड़का हो जाय तो यह हमारे बस की बात नहीं है। अधिक-से-अधिक हम उसके स्वाभाविक बढ़ने में कुछ साधक अथवा बाधक हो सकते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि हिन्दी की वर्तमान शैली को आमूल रूप से परिवर्तित किया जाना संभव नहीं है। हाँ, उसे प्रौढ़ और विकसित करने में सहायता पहुँचाई जा सकती है।

दूसरी बात जो समझने की है वह यह है कि भाषा में विकास आवश्यकताओं के अनुरूप होता है। मध्यकाल तथा अंग्रेजी शासन-काल में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का प्रयोग ललित साहित्य की रचना के लिए तो हुआ, किन्तु शासन अथवा ज्ञान-विज्ञान की आवश्यकताओं के लिए उनकी उपेक्षा की गई। सुलतानों तथा मुगलों के शासन-काल में राज-भाषा फारसी थी। ज्ञान-विज्ञान की विशेष चर्चा हमें मध्यकाल के भारत में दिखलाई ही नहीं पड़ती। अंग्रेजी शासन-काल में राज-भाषा अंग्रेजी हो गई और ज्ञान-विज्ञान तथा शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी ही थी। अतः इस काल में भी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को इन क्षेत्रों में विकसित होने का अवसर नहीं मिला। भविष्य में हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं को शासन, ज्ञान-विज्ञान तथा शिक्षा के क्षेत्रों में जितना शीघ्र और अधिक अवसर दिया जायगा उतनी ही तीव्र गति से ये भाषाएँ अपना स्वरूप स्थिर कर सकेंगी। इन क्षेत्रों के लिए भारतीय भाषाओं के प्रति सच्चे अनुराग और विश्वास की आवश्यकता है जो भारतीय भाषाओं की शिक्षा के अभाव के कारण हम अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों में साधारणतया पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता।

यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा को सम्पन्न करने का कोई राज-मार्ग नहीं है। जिस क्षेत्र के लिए उसे सम्पन्न करना है उस क्षेत्र में उसका निरन्तर प्रयोग करना ही उसका एक-मात्र साधन है। फलस्वरूप हम अंग्रेजी का सहारा शासन तथा शिक्षा के क्षेत्रों में जितने दिन अधिक लेते रहेंगे उतना ही अधिक समय हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के पुष्ट होने में लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाएँ सम्पन्न हो जायँ तब अंग्रेजी हटाई जाय—यह तर्क वैज्ञानिक नहीं है। हमें हिन्दी का प्रयोग उन क्षेत्रों में तेजी से बढ़ाना होगा और स्तर गिरने की आशंका रहते हुए भी अंग्रेजी को अधिकाधिक स्थान-च्युत करना होगा। शासन तथा शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हिन्दी का शीघ्र और समुचित विकास इसी प्रकार हो सकेगा।

तीसरी बात जो समझने की है वह यह है कि भाषाएँ शब्दों के कृत्रिम ढंग से गढ़ने के द्वारा सम्पन्न नहीं की जा सकतीं। इधर कुछ वर्षों से हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का कार्य अनेक संस्थाओं के द्वारा किया जा रहा है। ऐसा समझा जाता है कि क्योंकि हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान की शब्दावली की कमी है, अतः पहले बैठकर शब्द गढ़ लिए जायँ और तब इन विषयों के साहित्य का निर्माण किया जाय। वास्तव में ठीक शब्द की कसौटी उसके सफल प्रयोग में होती है और भाव को प्रकट करने के प्रयत्न में ही ठीक शब्द सूझ पड़ता है। अतः साहित्य-निर्माण के फलस्वरूप शब्द-निर्माण होता है; शब्द-निर्माण के उपरान्त साहित्य-निर्माण नहीं होता। पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के बाद हमें एक बार फिर ज्ञान-विज्ञान के साहित्य-निर्माण के समय इन शब्दों की परीक्षा करनी पड़ेगी और इन कृत्रिम कोषों के शब्दों को बदलना पड़ेगा अथवा इनमें आमूल परिवर्तन करने होंगे। शब्दों का स्तर हमारे लेखकों और विद्वानों तथा पाठकों और विद्यार्थियों के अनुरूप ही हो सकता है। परिवर्तन-काल में इन पारिभाषिक शब्दों तथा उपयोगी साहित्य के सम्बन्ध में एक नीति बरतनी पड़ेगी तथा उसके उपरान्त कदाचित् नीति में परिवर्तन करना पड़ेगा। अतः पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में सम्भावना यह है कि इसमें दो बार परिवर्तन होगा। वर्तमान समय में अंग्रेजी शब्दावली का सहारा हमें अधिक लेना होगा, किन्तु नई पीढ़ियों के साथ यह प्रभाव कम होता जायगा। जैसे-जैसे हमारी शिक्षा का वातावरण सच्चे अर्थ में भारतीय बनता जायगा वैसे-वैसे हमारी भाषाओं के वातावरण में भी भारतीयता बढ़ती जायगी। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को स्वाभाविक स्थिति तक पहुँचाने में हमें कम-से-कम ५० से १०० वर्ष तक लग सकते हैं। लेकिन इस बीच हमें काम तो चलाना ही है और अपनी भाषाओं को आगे भी बढ़ाना है। भाषा का प्रवाह एक दिन को भी रोका नहीं जा सकता।

अतः संक्षेप में हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में सम्भावनाओं का वैज्ञानिक निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है, (१) हिन्दी भाषा का भावी शैली में कोई आमूल कृत्रिम परिवर्तन सम्भव नहीं है। इस प्रकार के प्रयास शैली को पथ-भ्रष्ट ही करेंगे, उसकी वास्तविक सहायता नहीं कर सकते। (२) हिन्दी के भावी रूप का निर्माण उसके भिन्न क्षेत्रों में अधिकाधिक प्रयोग पर निर्भर है। इन प्रयोगों के अवसरों को हम जितना अधिक बढ़ायँगे उतनी ही शीघ्रता से हिन्दी भाषा और साहित्य के अधिक पुष्ट होने की सम्भावना है। (३) हिन्दी के भावी रूप का निर्माण हिन्दी में ललित साहित्य तथा ज्ञान-विज्ञान के विषयों का लेखक करेगा—न प्रचारक कर सकते हैं, और न कोष-निर्माता। अतः जैसे-जैसे साहित्य के सृजन और उपयोग के लिए हम अधिक अवसर देंगे और इसके लिए साधन जुटा सकेंगे वैसे-ही-वैसे यह कार्य सुकर होता जायगा।

हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में मतभेद तथा तर्क-वितर्क चलते ही रहेंगे, किन्तु उसका स्थायी निर्माण एक-एक ईंट रखकर हिन्दी के भिन्न-भिन्न विषयों के लेखक चुपचाप कर रहे हैं। दीवारें कुछ उठ जाने पर सर्वसाधारण को भी दिखलाई पड़ने लगेगा कि भवन विशाल और भव्य बन रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

हिन्दी का भावी रू

हिन्दी अर्थात् पछाहीं खड़ी बोली हिन्दी इस समय एक अनपेक्षित अवस्था में आ पहुँची है
सौ बरस पहले खड़ी बोली हिन्दी एक अनादृत और उपेक्षित भाषा थी। इसमें साहित्य-सर्जन
उस समय केवल अर्धशताब्दी व्यापी ही थी, पर इसके पीछे, इसकी पटभूमिका या आधार-स्वरू
उत्तर भारत की विभिन्न प्रान्तिक बोलियों में लिखा हुआ साहित्य समग्र रूप से विद्यमान था। खड़
बोली हिन्दी का मुसलमानी रूप उर्दू ही का, बोलबाला था······जिन प्रान्तों को लेकर आधु
निक 'हिन्दी-संसार' बना है, उनमें विद्यालयों में······अँग्रेजी सिखाने के लिए प्रतिष्ठित हा
स्कूलों में भी,·······छात्र लोग, क्या हिन्दू क्या मुसलमान, ज़्यादातर उर्दू ही सीखते थे। अ
यह परिस्थिति बिलकुल बदल गई है। हिन्दी अर्थात् नागरी लिपि में लिखित शुद्ध संस्कृत
शैली की हिन्दी, कम-से-कम वैधानिक रूप में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान
मध्य भारत, हिमाचल प्रदेश तथा आंशिक रूप से पूर्वी पंजाब की प्रान्तिक भाषा मानी गई औ
उपरन्तु हिन्दी को अखिल भारतीय सरकारी भाषा की मर्यादा भी मिली है। हिन्दी अपने घ
पछाँहे के भूभाग में अब रानी बनी है, पड़ोस के कुछ प्रान्तों में भी इसका राज फैला है, बिहार
मध्य भारत, मध्य-प्रदेश, राजस्थान, उत्तराखण्ड, हिमाचल प्रदेश, पूर्वी पंजाब, इस स्थानों के निवा
सियों ने हिन्दी को शिक्षा, साहित्य तथा बाहरी जीवन की यथासम्भव एक-मात्र भाषा ही बना लिय
है; और यों ये सब स्थान या प्रान्त एक विशाल 'हिन्दी-संसार' के अन्तर्भुक्त हो गए हैं। भीतर
एक छोटे वृत्त के चारों तरफ एक बृहत्तर वृत्त अब सुप्रतिष्ठित हो गया है। भीतरी और बाहर
इन दोनों वृत्तों के अलावा और दो बृहत्तर वृत्त आकर, अब हिन्दी के क्षेत्र को और भी व्यापक
और भी बृहत् बना दिया है। हिन्दी-संसार को घिरकर भारत का आर्यभाषी संसार भी है
जिसने और उसे घिरकर, तमाम आर्य संसार के बाहर, जो द्राविड़ निषाद किरात संसार है उस
भी, अब हिन्दी को भारतीय राष्ट्रभाषा के तौर पर मान लिया है। अब इन कारणों से हिन्दी की
परिस्थिति विशेष रूप से व्यापक और साथ-ही-साथ जटिल हो गई है। इस व्यापकता औ
जटिलता के साथ हिन्दी के भावी रूप का एक गहरा सम्बन्ध है। हिन्दी आज चतुर्मुख रूप में
दिखाई देती है। (१) जिनकी मातृभाषा या घरेलू भाषा खड़ी बोली हिन्दी ही है, ऐसे लोग
संख्या में बहुत ही कम होंगे,·······उर्दू बोलने वालों को लेकर इनकी संख्या डेढ़ या दो करोड़
से अधिक नहीं होगी, पर पछाँही हिन्दी बोलियाँ जैसे ब्रज भाषा, कन्नौजी, बुन्देली, बाँगरू
जाटू और मेरठ रुहेलखण्ड और 'पूर्वी पंजाब' की ठेठ पछाँही हिन्दी ये खड़ी बोली से इतन
निकट सम्बन्ध रखती हैं, कि इनके बोलने वालों को हम खड़ी बोली हिन्दी जिनकी मातृभाषा है
उनमें गिन सकते हैं और इस हिसाब से लगभग पाँच करोड़ मनुष्यों को हम हिन्दी-संसार के
पछाँही हिन्दी घराने बोल सकते हैं। इनके लिए हिन्दी का एक खास रूप है, ये हिन्दी को
विरासत या पितृ-पितामहों से प्राप्त रिक्थ की तौर पर प्राप्त भाषा-सी बोलते हैं। (The well
of Hindi undefited) इन ही की मौखिक भाषा में विद्यमान है, इनके मौखिक भाषा के
आधार पर हिन्दी का व्याकरण और प्रयोग, शब्द और वाक्यरीति ये सब बने हैं। हिन्दी यदि
केवल इनमें सीमित रहती, तो इसके भावी रूप पर विचार करने की कोई खास जरूरत नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती। (२) बाहरी वृत्ति के 'हिन्दी संसार' वाले, घर में राजस्थानी और मालवी बोलियाँ, पंजाबी, गढ़वाली, कुमाऊँनी तथा अन्य पहाड़ी बोलियाँ, कोसली बोलियाँ यानी अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि दूसरी भाषाएँ बोल लेते हैं। इनके बारे में इतनी दिक्कत खड़ी बोली हिन्दी के लिए नहीं है·······वे तो खड़ी बोली हिन्दी जैसी पछाँहें में चालू है उसे मान चुके हैं,······सीखकर उसके प्रयोग में इनकी ओर से जो भूलें भ्रान्ति, जो प्रादेशिकपन अनिवार्य होंगे, उनका असर कुछ-न-कुछ खड़ी बोली हिन्दी पर पड़ेगा ही। पर उससे हिन्दी पर कुछ आशंकाजनक खतरा नहीं पहुँचेगा, शुद्ध हिन्दी ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। पर परोक्ष भाव से इन प्रान्तिक बोलियों का प्रभाव कुछ-न-कुछ हिन्दी पर पड़ेगा। जैसा इस युग के पूर्व हुआ भी है। अब राष्ट्रभाषा बनने के कारण हिन्दी, केवल हिन्दी-संसार में सीमित नहीं रहकर, दूसरी आर्य भाषाओं के बोलने वालों के, तथा द्रविड़ादि अनार्य भाषियों के भी प्रभाव में आने वाली है। आधुनिक जगत् की शिक्षा और संस्कृति में राष्ट्रनैतिक तथा अर्थनैतिक प्रगति में अंश ग्रहण कर, पृथिवी की अन्यतम श्रेष्ठ और संस्कृतिवाही भाषा बनने का दायित्व हिन्दी पर आज आ गया है। इसलिए हिन्दी का, न केवल शब्द-सम्भार बढ़ाना होगा······यह तो स्वीकृत हो गया है कि यथासम्भव संस्कृत से ही इसे शब्द-सम्भार लाना चाहिए, ताकि हिन्दी अखिल भारत की जनता द्वारा ग्रहण योग्य हो, उपरन्तु हिन्दी की वाक्य-रीति और भाव-प्रकाश-भंगी को और भी मार्जित, परिष्कृत और सुविचारानुसारी होना पड़ेगा। भावी काल की हिन्दी को, इन सब विषयों में, अब की हिन्दी से, कुछ-न-कुछ परिवर्तित होना ही होगा। बंगाली, असमिया लोग, उड़िया लोग, आन्ध्र, कंनडिग, तमिल, मलयाली, मराठे, गुजराती, नेपाली, ये सब मैथिल मगहिया, भोजपुरिया, गढ़वाली, कुमाऊँनी, पंजाबी, सिरमौरी, कुलूई, सिन्धी, काश्मीरी जैसे-वैसे हिन्दी सीखेंगे, हिन्दी बोलेंगे और हिन्दी में लिखेंगे। चाहे जितना ही सावधान होकर इनमें से श्रेष्ठ हिन्दी दाँ हिन्दी का प्रयोग करें। इनकी मातृभाषाओं की उच्चारण रीति और स्वर-भंगी, इनकी शब्दावली, इनकी वाक्य-रीति भावी, कालीन अखिल भारतीय हिन्दी में कुछ-न-कुछ आवेंगे। उच्चारण के सम्बन्ध में तो हम देखते हैं हमारे सामने दो पीढ़ियों में हिन्दी पर कितना संस्कृत, पंजाबी तथा राजस्थानी और गुजराती प्रभाव पड़ा है। शब्दों के आदि में अन्तःस्थ 'व-कार' का बहुशः प्रयोग 'क्ष' के 'छ' या 'च्छ' उच्चारणों को छोड़कर 'क्ष' उच्चारण की प्रतिष्ठा, 'ण' के सम्बन्ध में सावधानता तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' के पुरानी हिन्दी उच्चारण यथाक्रम 'स' और 'ख' का त्याग और उनके स्थान उर्दू 'शीन' और अंग्रेजी Sh की-सी एक-मात्र ध्वनि का प्रयोग······हिन्दी में ये सब हाल की बात है। शब्दों के बीच में और अन्त में ह्रस्व अकार का लोप, हिन्दी की एक रीति है, पर द्राविड़ भाषियों को, महाराष्ट्रियों को, बंगला उड़िया असमिया बोलने वालों को यह रीति निहायत श्रुतिकटु लगती है, 'कमला, विमला, भारतीय' ऐसे शब्दों को, तीन या चार अक्षरों के शब्दों की तौर पर नहीं उच्चारण करे : जैसे 'क-म-ला, वि-म-ला, भा-र-ती-य' : कमला, विमला, भारतीय ऐसा उच्चारण किया जाता है। शुद्ध या ठेठ हिन्दी शब्द और रूपों में ऐसा करने में कोई बाधा या आपत्ति उठ नहीं सकती·· जैसा 'करता, चलता, विनती, धरती, उलटा, झगड़ा' आदि शब्दों में, इन ठेठ हिन्दी-शब्दों का उच्चारण ज्यों-का-त्यों चालू रहेगा, पर मेरे विचार में, निखिल भारत की सब भाषाओं में प्रयुक्त शुद्ध संस्कृत शब्दों में, ताकि हिन्दी का उच्चारण समग्र भारत के शिष्ट-समाज का अनु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोदित हो, संस्कृत के अनुसारी उच्चारण हिन्दी के भावी रूप में आ जायगा। इस समय हम सु पाते हैं, पंजाब और हिन्दी-संसार के बाहर के लोग 'लोक-सभा' नहीं बोलते, ज्यादातर 'लो-क स-भा' ही बोलते हैं। 'अमला, जनता, परमात्मा' इत्यादि शब्दों के चालू उच्चारण द्वार विभ्रान्त होकर हिन्दी के कुछ छात्र ऐसे शब्दों का हिज्जे या वर्ण-विन्यास यों लिख बैठते हैं··· 'अम्ला, जन्ता, प्रमात्मा'। यह सर्वथा अवांछनीय है। शब्दों के विषय में, भावी काल की हिन्दी संस्कृतनिष्ठ रहते हुए भी पछाँहे की भाषा में आगत बहुतेरे अरबी और फारसी शब्दों को हिन्दी के टकसाली शब्दों की तौर पर रखेगी···इन्हें कुल्लमकुल भाषा से बहिष्कार करने की प्रवृत्ति जो आजकल कुछ लेखक या भाषा-सुधारकों की ओर से दिखाई देती है उसे थोड़ा-सा रोकना पड़ेगा। अंग्रेजी शब्द, स्वाधीन भारत की औद्योगिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के कारण, भावी हिन्दी में और भी अधिकतया गृहीत होंगे, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है, शब्द के बारे में छूत-अछूत मानने वालों की राय चाहे न हो, चाहे जो हो। ऐसे द्रविड़, कोल और किरात शब्द भी कुछ आवेंगे।······तैलुगु, कन्नड़, तमिल, मालयाली, संथाली, खासी, मणि पुरी, नेवारी, बोडो आदि भाषाओं से। हिन्दी का चालू व्याकरण कहाँ तक परिवर्तित होकर भविष्य की हिन्दी बनेगी, यह विचारणीय है। मेरे विचार में, दो प्रकार की हिन्दी का रू-ब-रू कायम हो जाना असम्भव बात नहीं है, एक शुद्ध व्याकरणानुसारी हिन्दी, जैसे अब चालू है जो पछाँहे की और सम्भवता अब के हिन्दी-संसार की (Regional) या प्रान्तिक भाषा बनकर ठहरेगी, और दो······लघु हिन्दी, जिसमें से लिंग-भेद, क्रिया के कर्मणि प्रयोग और वचन और नाम-शब्दों के पर सर्गग्राही रूप आदि निकाल दिए जायँगे, ऐसी लघुशैली की हिन्दी कम-से-कम 'मौखिक बोली' के रूप में, भारत की एक मामूली राष्ट्रभाषा के पद को प्राप्त करेगी। पर यह बात विवादग्रस्त है। लिपि के बारे में, मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमारे अपने सुभीते के लिए अन्त में हमें नागरी के साथ रोमन लिपि को भी भविष्य की राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए मान लेना पड़ेगा, पर समयाभाव-वशतः इस पर कुछ विचार करना अब सम्भव पर नहीं है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

हिन्दी का भावी रूप

हिन्दी के भावी रूप पर विचार करते समय इतिहास कल्पना की आँखों के सामने आगे बढ़ने लगता है। वर्तमान के गर्द-गुबार से भरे अपने संघर्षशील कदम मिलाती हुई देश की चेतना सामूहिक विकास के पथ पर अग्रसर होती हुई-सी प्रतीत होती है। पीछे की ओर देखने पर सदियों की पराधीनता एवं मध्ययुगीन ह्रास के विवाद से मुक्त होकर नवीन राष्ट्र का जीवन, कुहासों से निखरते हुए प्रभात की तरह, चुपचाप दृष्टि को आकर्षित कर लेता है और आज की जटिल परिस्थितियों एवं भयानक वास्तविकताओं का जगत् भविष्य की अनेक सुनहली सम्भावनाओं में खुलकर सहसा मन के सम्मुख उद्भासित हो उठता है।

राष्ट्रभाषा के निर्माण के लिए आज हमारे चारों ओर जहाँ प्रचुर प्रशस्त सामग्री बिखरी पड़ी है वहाँ उसके पथ में अनेक विघ्न-बाधाएँ भी खड़ी हैं। पहले मैं उन अभावों अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाधाओं की चर्चा करूँगा जिनसे आज हिन्दी को संघर्ष करके शक्ति-संचय करनी है। वे बाधाएँ एक प्रकार से बाधाएँ नहीं, किन्तु अपने देश की विगत ऐतिहासिक तथा वर्तमान सामाजिक एवं मानसिक स्थिति के कारण वे हमें, आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की उतावली में, संकट की स्थितियों-सी प्रतीत होती हैं। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर वे समस्त संकट एवं अभाव राष्ट्रभाषा को दैन्य मुक्त करने के लिए खाद अथवा पोषक तत्त्वों की तरह काम में लाए जा सकते हैं।

सबसे मुख्य, अतः जानने योग्य बात जिसे बाधा भी कहा जा सकता है···हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं के सम्बन्ध में यह है कि उनमें संसार के पिछले दो-ढाई सौ वर्षों के जीवन के विराट् क्रिया-कलापों एवं विचार-धाराओं को नहीं के बराबर वाणी मिली है। और ये दोनों ढाई सौ वर्ष विश्व-सभ्यता के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुए हैं, जिनमें मानव-सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास बहुत आगे ही नहीं बढ़ गया है, उसमें अनेक मौलिक परिवर्तन तथा जीवन-मान्यताओं की दृष्टि से छोटी-बड़ी क्रान्तियाँ भी घटित हो चुकी हैं। यह लम्बा युग वैज्ञानिक तथा औद्योगिक युग के नाम से पुकारा जाता है। जिसका रंगमंच विशेषतः पश्चिम अथवा यूरोप में रहा है। समस्त एशिया तो तब हारे-थके साँड की तरह रोमन्थ अथवा पिष्टपेषण कर ही रहा था, हमारा देश भी तब दासता के बन्धनों में जकड़ा हुआ अपने महान् सांस्कृतिक ह्रास के अन्धकार में भटक रहा था और यहाँ जो जागरण की प्रेरणा आई वह एक विदेशी सभ्यता के सम्पर्क तथा विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा आई है। इस प्रकार दो-ढाई सदियों का विश्व जीवन एवं मानस-संचय हमारी भाषाओं में यदि थोड़े-बहुत अभावों में अभिव्यक्त हुआ भी है तो वह बासी-निवासी छाया के रूप में छनकर। जिसके कारण हम अपनी भाषाओं को अत्यन्त निर्धन तथा परिक्षीण पाते हैं। अपने इन सब सालों की सज-धज को लेकर भी वे आज पश्चिमी भाषाओं की तुलना में, कटाक्ष-कौशल-शून्य, भोली-भाली और सम्भवतः भौंडी, गाँव वालियाँ-सी प्रतीत होती हैं। यह ऐतिहासिक संयोग भाषा ही की दृष्टि से नहीं, भौतिक सांस्कृतिक दृष्टि से भी एक बड़े भारी हीन-भाव तथा कुण्ठा के रूप में हमारे मन में जम गया है और इन पराधीनता की सदियों में उसके मूल हमारे भीतर इतने गहरे बैठ गए हैं कि आज स्वाधीनता मिलने पर भी हम उन्हें उखाड़कर बाहर फेंकना तो दूर रहा····हिलाने में भी समर्थ नहीं हो सके हैं। अन्यथा अपने राष्ट्र-गौरव, स्वाभिमान एवं जन-ऐक्य की कल्पना के विरुद्ध हम एक विदेशी भाषाओं को अपनी राष्ट्रीय एकता का मिलन-तीर्थ बनाए रहते, यह किसी दृष्टि से भी सम्भव नहीं होना चाहिए था।

अतएव राष्ट्रभाषा के पथ में सबसे बड़ी बाधा, मेरी समझ में, हमारी हीन भावना है, जिसके कारण हम अपनी भाषाओं को नहीं अपना पा रहे हैं। अंग्रेजी को तुरन्त हटाने में जितनी भी बड़ी व्यावहारिक कठिनाई हमारे सामने हों, हिन्दी के लिए मनसा स्थान बनाने में आज उससे भी बड़ी कठिनाई हमें प्रतीत हो रही है और हमारी यह आत्म-पराजय तथा कुण्ठित अनिच्छा अनेक वितण्डावादों का प्रतारक रूप धारण कर रही है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि भाषा का सम्बन्ध केवल सम्पन्न अभिधान, शब्द-संग्रह अथवा अभिव्यक्ति की क्षमता से ही नहीं होता, उसका उससे भी कहीं गहरा सम्बन्ध हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं, हमारे जीवन-दर्शन तथा जातीय विकास के इतिहास से होता है और समुद्र पार से उधार ली हुई एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेशी भाषा को आकाश-लता की तरह उपरेक ओढ़ लेने से हम अपनी जन-संकुल एवं मानस उर्वर-भूमि की मौलिक, प्राणप्रद तथा प्रेरणाप्रद समस्त शक्तियों का विकास रोके हुए हैं।

इस दैन्य तथा कुण्ठा से शीघ्र ही मुक्त होकर हमें अपने विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी को और भी महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिए और उच्च कक्षाओं में अंग्रेजी पढ़ाने के लिए अंग्रेज शिक्षकों को नियुक्त करना चाहिए, जिससे हमारे देश में अंग्रेजी का स्तर नीचे न गिरने पाए और एक ऐसे बहुविधि-सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय माध्यम के समुचित उपयोग से हमें वंचित न रहना पड़े। वैज्ञानिक शब्दों को अंग्रेजी से ज्यों-का-त्यों हिन्दी में लेने के बदले उनका बहुत हद तक हिन्दीकरण करना अधिक संगत होगा और यह हिन्दीकरण विशेषतः ध्वनि-संगीत की दृष्टि से करना उचित होगा। क्योंकि हर पाँच-दस साल के बाद हजारों नये वैज्ञानिक शब्द पैदा होते रहेंगे और पुराने शब्द बासी पड़ जायँगे। इस प्रकार इतने विदेशी शब्दों को आत्मसात् करने का साहस करना किसी भी भाषा के लिए असम्भव एवं गाल-फुलाना-मात्र होगा। इस समय पारि-भाषिक शब्दों के हिन्दीकरण के सम्बन्ध में कुछ मौलिक लचीले नियमों को निर्धारित कर लेने के बाद हमारी समस्त साहित्यिक संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, राज्यों, तथा केन्द्रीय शासन को नवीन शब्दों को गढ़ने के प्रारम्भिक प्रयोग उत्साह तथा लगन के साथ करने चाहिएँ। पीछे उन शब्दों को भाषा-निर्माण की सृजनात्मक कसौटी में कसकर उनका समुचित रूप निश्चित किया जा सकेगा एवं उनकी कृत्रिमता तथा अपरिपक्वता दूर हो सकेगी। शासन तथा शिक्षा-क्षेत्र में हिन्दी को अधिक-से-अधिक अवसर देकर उसका निर्माण करना हिन्दी-प्रान्तों का विशेष उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य है जिसके व्यावहारिक क्रिया-कलापों के क्षेत्र में भी हिन्दी की पैठ तथा प्रयोग हो सके। इन प्रयोगों का तात्कालिक अथवा प्रारम्भिक रूप जो भी हो... उसमें भले ही ५० प्रतिशत अंग्रेजी या इतर भाषाओं के शब्द क्यों न हों, इससे हमें विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि जब तक सभी क्षेत्रों में हिन्दी के लिए प्रयोग के द्वार नहीं खुल जायँगे वह शिल्प-विधान की दृष्टि से नहीं पनप पायगी और न विचारों की दृष्टि से ही लोक-मानस में प्रवेश कर घर कर सकेगी।

वैज्ञानिक युग का अभी समारम्भ-भर हुआ है। सच्ची वैज्ञानिक चेतना आज के अधकचरे बाहरी वैज्ञानिक प्रयोगों से अभी बहुत दूर है। हिन्दी को विदेशी भाषाओं के समकक्ष लाने के लिए समस्त वैज्ञानिक शब्दावली को आत्मसात् करना उसके लिए उतना आवश्यक नहीं जितना कि उसके लिए वैज्ञानिक चेतना के भावी विकास में सहायक होना है। आज तक की ऐतिहासिक शक्तियों के वितरण को देखते हुए यह विकास केवल पूर्व और पश्चिम के सामंजस्य से ही सम्भव हो सकता है। जिस महती भूमि पर आगे मानवता पदार्पण करने जा रही है यदि उस जीवन को हिन्दी वाणी दे सकी तो पिछली दो तीन सदियों की तर्क-बुद्धि की चमक तथा धर्मवैज्ञानिकता की तड़क-भड़क से वंचित होकर भी वह भविष्य में विश्व-भाषाओं के वृत्त में अपने को संकीर्ण परिधि अथवा केन्द्रशून्य नहीं पायगी। जिन भाषाओं की वीणा में भविष्य की मानवता के विकास के योग्य प्रेरणा-शक्ति तथा चैतन्य होगा वही भाषाएँ भविष्य की भाषाएँ होंगी और हमारी एक विश्व की कल्पना भी भाषाओं तथा संस्कृतियों के वैचित्र्य से विलीन नहीं रहेगी।

इस हीन भावना के दुर्लंघ्य विघ्न को लाँघ जाने के बाद हिन्दी के सामने जो छोटी-मोटी उलझनें रह जाती हैं, उन्हें बाधाएँ नहीं कहा जा सकता। इनमें पहली उलझन है हमारी प्रादेशिक भाषाओं-सम्बन्धी, जिसे हम भाषा-साम्प्रदायिकता या प्रान्तीयता-सम्बन्धी अस्थायी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वग्रह भी कह सकते हैं। यह उलझन, अपनी राष्ट्रीय एकता की अनिवार्य आवश्यकता सामने रखते हुए, केवल हमारी मध्ययुगीन पार्थक्यवादिता अथवा पृथक् रहने की प्रवृत्ति ही कहलाई जा सकती है, जिसे मिटाने के लिए हमें समय, धैर्य, सद्भाव तथा पारस्परिक विश्वास की आवश्यकता है। जैसे-जैसे हमारे ह्रास-युग के संस्कार छूटते जायँगे और उनके स्थान पर राष्ट्रीय उत्तरदायित्व एवं सामूहिक संगठित शक्ति की भावना हमारे भीतर बढ़ती जायगी उपर्युक्त भेद-जनित पूर्वग्रह भी अपने-आप कोमल पड़कर विलीन होते जायँगे। आज की परिस्थिति में हम बाहर से प्रचार करके तथा ऊपर से हिन्दी को लादकर अपने देश के मध्यकालीन मानस-स्तर पर दबाव नहीं डाल सकते। बाह्य बल पर आश्रित हमारे सब प्रयत्न निष्फल होने के साथ ही हमारे प्रान्तीय पूर्वग्रहों को और भी कटु एवं कठोर बना देंगे। अतः भाषा-सम्बन्धी अन्तरप्रादेशिक समस्या का हल केवल परस्पर के सद्भाव, विश्वास, सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा राष्ट्रीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास पर ही निर्भर है। जिसके लिए हमें सृजनात्मक तथा निर्माणात्मक प्रयत्नों की आवश्यकता है जो हमारे पुरातन मानस के नवीन राष्ट्रीय इकाई में ढलने का इतिहास होगा, जो पुनः काल-अपेक्षित, धैर्य अपेक्षित और सर्वोपरि सत्प्रयत्न अपेक्षित है।

दूसरी छोटी-सी उलझन हिन्दी-उर्दू की है; जिसका क्षेत्र सीमित है और जो मुख्यतः उत्तर प्रदेश की समस्या है। जो हिन्दी उर्दू वालों के पूर्वग्रहों के कारण और भी उलझ गई है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने व्यक्तित्व की रक्षा करती हुई हिन्दी अधिक-से-अधिक उर्दू के शब्दों का ग्रहण कर सकेगी। उन दोनों के बोल-चाल के स्तर में तो समानता है ही, गद्य तथा पद्य बराबर साहित्य के स्तर पर भी दोनों का सम्मिश्रण न्यूनाधिक मात्रा में परस्पर होता जा रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से, पिछली समस्त संस्कृतियों का नवीन मानवता के धरातल पर आरोहण करना है, जो मध्ययुगीन हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के लिए भी लागू है। लिपि की दृष्टि से उत्तर प्रदेश में राज-कार्य के लिए प्रारम्भ में नागरी के साथ आवश्यकतानुसार उर्दू या अरबी लिपि का भी प्रयोग किया जा सकता है और इसी प्रकार केन्द्र में रोमन लिपि को भी स्थान दिया जा सकता है। छापे की सुविधा के अनुरूप तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं की ध्वनियों की दृष्टि से भी नागरी लिपि में थोड़े-बहुत परिवर्तन किये जा सकते हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी प्रादेशिक भाषाओं के लिंग, मुहावरों एवं वाक्य-विन्यास-सम्बन्धी विचित्रताओं का समावेश हिन्दी में किया जा सकता है। काल के प्रवाह में घुल-मिलकर आगे इनमें भाषा के नियमों के अनुसार स्वर-संगति बिठाई जा सकेगी। और 'लड़की जाता है' के स्थान पर लोग 'लड़की जाती है' कहना ही पसन्द करेंगे। तब क्रिया-पदों में रवीन्द्र की कोमलता एवं साहित्य का प्रभाव उनके कानों का नया अभ्यास बन जायगा और वह उनके लिए नवीन नन्दतिक उपलब्धि होगी।

अब मैं संक्षेप में उन उपकरणों तथा शक्तियों का भी दिग्दर्शन कराऊँगा जो हिन्दी के भावी प्रवाह में अनेक प्राणप्रद धाराओं की तरह सम्मिलित होकर उसमें गति, गाम्भीर्य, व्यापकता आदि भरेंगे। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि उत्तरा पथ की प्रायः सभी उन्नत भाषाएँ संस्कृत से शक्ति-संचय करती हैं और दक्षिण की भाषाओं में संस्कृत का प्रयोग यथेष्ट मात्रा में होता है। संस्कृत की पृष्ठभूमि हमारी सभी भाषाओं को मिलाने के लिए एक सबल संयोग तथा स्थायी साधन और सम्पत्ति है। उत्तर प्रदेशीय दृष्टि से हिन्दी में छाया-वैचित्र्य करने के लिए हिन्दी की जनपदीय बोलियों से सहायता लेना भले ही ठीक हो किन्तु अन्तरप्रादेशिक दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग ही साम्य तथा व्यापकता लाने में इस समय सहा होगा। और पचास, सौ या दो सौ साल के बाद जब चयन तथा संस्कार का युग आयगा भाषा विज्ञान, सारल्य, ध्वनि-संगीत आदि सभी दृष्टियों से भाषा को नवीन अभ्यासों एवं अ रुचियों के अनुरूप सुधारा-सँवारा जा सकेगा। तब तक अन्य प्रान्तों की प्रतिभाएँ भी हिन्दी माध्यम से सृजन करके उसे प्रादेशिक संस्कारों के रुधिर से उर्वर तथा सम्पन्न बनाने में सफल सकेंगी। आज के हिन्दी-अहिन्दी प्रान्तों की रुचियाँ युगवत् बदलकर एवं अधिकाधिक सार्वदे होकर तब एक-दूसरे के सन्निकट आ जायँगी। वह चयन का युग नवीन प्रेरणाओं एवं नंद बोधों से चालित होने के कारण राष्ट्रभाषा के वास्तविक रूप-निर्माण का युग होगा।

दूसरा शक्तिशाली प्रभाव जो हमारी भाषाओं में सामंजस्य स्थापित करके उनको राष्ट्र के रूप में समन्वित कर सकेगा वह है हमारे विभिन्न साहित्यों की सांस्कृतिक चेतना की एक हम अनेक भाषाओं के माध्यम से एक ही संस्कृति को वाणी दे रहे हैं, जिसका अर्थ है कि ह बीच किसी प्रकार का आन्तरिक व्यवधान नहीं है। शिल्प, रूप-विधान तथा साहित्यिक प्रवृ की दृष्टि से भी हमारे प्रेरणा के स्रोत एक ही हैं। अतः आपने राष्ट्रीय अस्तित्व की परिता एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व के हेतु हमारे लिए अपनी अनेक सम्पन्न भाषाओं के साथ हिन्दी एक सार्वजनिक भाषा के रूप में ग्रहण करना कठिन नहीं होगा। हिन्दी के भावी रूप को ग वास्तव में देश के बच्चों की भावी पीढ़ी को गढ़ना है, जिनकी कोई भाषा नहीं होती।

वर्तमान परिस्थितियों में राष्ट्रभाषा का बलपूर्वक प्रचार करने के बदले हमें सत्संकल्पपू हिन्दी का निर्माण तथा संस्कार करना चाहिए। हमें सार्वभौम भाषा का संगठन करने के ब सार्वभौम मानस का संगठन करना चाहिए। हमें अपने सांस्कृतिक संचय को साहित्यिक आद प्रदान द्वारा नये युग के अनुरूप ढालना चाहिए। अपने देश के विभिन्न वैयक्तिक, प्रादेशि नैतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक मतों वादों में व्यापक सामंजस्य स्थापित करके उन्हें एक-दूसरे विरोधी न बनाकर पूरक बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। राष्ट्रीय एकता की धारणा, अत जटिल, सूक्ष्म तथा विविधता के वैचित्र्य से भरी-पूरी धारणा है। उसे यान्त्रिक न बनाकर अधिक-से-अधिक व्यापक, नयनीय तथा स्वर-संगीतपूर्ण बनाने की आवश्यकता है। क्योंकि र भाषा राष्ट्र-मानस भी है, जिसके लिए राष्ट्र जीवन का अन्तःसंगठन ही दूसर पर्याय है।

हमें एक राष्ट्रभाषा अवश्य चाहिए। वह हमारे सांस्कृतिक, सामाजिक तथा भौ जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। एक भाषा···जिसमें करोड़ों कण्ठ धरती और आसमान सकें, असंख्य आँखें जिसके दर्पण में फूल का मुख, चाँदनी की स्वच्छता तथा ऊषाओं, सन्ध्या का सौन्दर्य पहचान सकें, सहस्रों हृदय जिसकी झंकारों से गीतों-छन्दों में मुखरित हो उठें अनेकों मानस जिसका गम्भीर आह्वान तथा जाग्रत जीवन-सन्देश सुनकर आलोकित हो उठें।

हिन्दी का भावी रूप···वह केवल शब्द-शिल्प का ढेर, सुन्दर वाक्य-योजना त व्याकरण का सुगठित विधान ही नहीं है। वह हमारे राष्ट्रीय जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति हमारी मानसिकता का विकसित व्यापक संतुलन, वर्तमान प्रान्तीय वर्गीय अभ्यासों तथा आ रुचियों से ऊपर हमारी सामाजिक सामूहिक चेतना का मानवीय एकीकरण एवं संयोजन है क्योंकि भाषा के साथ फूल-पत्तों, चाँद-सितारों के साथ ही हमारी परम्परागत मूल मर्यादा विकासशील चेतना की संभावनाएँ तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी बदलता हुआ जीवन का ऐतिहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टिकोण भी जुड़ा हुआ है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकृत कर चुकने के बाद उसे अपनाने एव उसका निर्माण करने के लिए हमें किसी प्रकार के आमूल परिवर्तन की आवश्यकता नहीं, केवल वर्तमान परिवेश में एक व्यापक सामंजस्य, एक बृहत्तर संयोजन पर स्थापित करने की आवश्यकता है।

आज की जटिल परिस्थितियों से निखरते हुए हमारे राष्ट्रीय जीवन-चेतना के साथ आज के मानसिक ऊहापोहों में उलझा हुआ हमारी राष्ट्रभाषा का भावी रूप भी अपने सम्पूर्ण अन्तर-चैतन्य तथा सर्वांगीण बाह्य वैभव के साथ प्रस्फुटित तथा विकसित हो सके··· हमारे मानवीय विकास के लिए यह सामाजिक कामना आज की आवश्यकता की एक अनिवार्य कड़ी है।[1]

१. आकाश वाणी प्रयाग के सौजन्य से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशीलन

डॉ० रामकुमार वर्मा

दृश्य-काव्य में हास्य-तत्त्व

प्राचीन दृश्य-काव्य में हास्य का विधान दो रूपों में किया जाता था। एक तो विदूषक की उक्तियों में और दूसरे प्रहसन की परिस्थितियों में। इस प्रकार पात्रों की वार्ता और परिस्थितियाँ दोनों ही हास्य की अवतारणा करती थीं। नाटक में विदूषक नायक का सहचर था। जिन नाटकों में श्रृङ्गार रस प्रधान होता था उनमें विदूषक आवश्यक हो जाता था, क्योंकि आचार्य भरत ने 'श्रृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः' सूत्र में हास्य की उत्पत्ति श्रृङ्गार से ही मानी थी। धीरोदात्त नायक जब-जब प्रेम के झंझावात में तिनके की तरह अव्यवस्थित होता था तब-तब उसका मनोरंजन करने के लिए अथवा आशा देने के लिए विदूषक अपने हास्य का प्रयोग करता था। किन्तु हास्य केवल श्रृङ्गार से ही प्रेरणा नहीं पाता, जीवन की अनेक परिस्थितियों से बल ग्रहण करता है। अभिनव गुप्त ने हास्य का मूल अनौचित्य प्रवृत्ति में माना है। अनौचित्य प्रवृत्ति प्रत्येक रस के उद्दीपन या आलम्बन में हो सकती है अतः प्रत्येक रस में हास्य की सम्भावनाएँ हो सकती हैं। आज जब जीवन का मूल्यांकन रस-दृष्टि से न होकर केवल मनोविज्ञान के सिद्धान्त से हो रहा है तब तो हास्य का बीज पत्थर पर भी अंकुरित हो सकता है और यह बीज इतना विचित्र है कि इसमें अनेक रंगों के फूल एक साथ ही प्रस्फुटित हो सकते हैं।

आचार्य भरत ने हास्य के दो विभाग किये हैं, आत्मस्थ और परस्थ। जब पात्र स्वयं हँसता है तो आत्मस्थ है जब दूसरे को हँसाता है तो परस्थ है। पंडितराज जगन्नाथ ने इसका विवेचन दूसरे ढंग से किया। हास्य के विभाव को देखने से जो हास्य उत्पन्न होता है, वह आत्मस्थ है और किसी अन्य को हँसता हुआ देखकर जो हास्य उत्पन्न होता है वह परस्थ है।

वस्तुतः अपने प्रभाव की दृष्टि से हास्य तीन प्रकार का माना गया, उत्तम, मध्यम और अधम। इन तीन प्रकारों में प्रत्येक के दो भेद हैं। उत्तम के भेद हैं स्मित और हसित, मध्यम के भेद हैं विहसित और उपहसित तथा अधम प्रकार के भेद हैं अपहसित और अतिहसित। ये प्रत्येक भेद आत्मस्थ और परस्थ हो सकते हैं। इस प्रकार निम्न प्रकार से हँसने की क्रिया बारह तरह से हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हास्य	उत्तम	स्मित	आत्मस्थ	—१
			परस्थ	—२
		हसित	आत्मस्थ	—३
			परस्थ	—४
	मध्यम	विहसित	आत्मस्थ	—५
			परस्थ	—६
		उपहसित	आत्मस्थ	—७
			परस्थ	—८
	अधम	अपहसित	आत्मस्थ	—९
			परस्थ	—१०
		अतिहसित	आत्मस्थ	—११
			परस्थ	—१२

हास्य के जो छः विशिष्ट प्रकार हैं, उनकी विशेषता निम्नलिखित है—

(१) स्मित—शब्द रहित, मन्द मुस्कान

(२) हसित—मुस्कान के साथ दन्त-दर्शन

(३) विहसित—दन्त-दर्शन के साथ मधुर शब्द
(स्त्रियों के कण्ठ से 'ई' स्वर)
(पुरुषों के कण्ठ से 'आ' 'ऊ' या 'ओ' स्वर)

(४) उपहसित—मधुर शब्द के साथ शरीर-संचालन

(५) अपहसित—शरीर-संचालन के साथ हर्षाश्रु

(६) अतिहंसित—हर्षाश्रु के साथ ताली और अट्टहास

हास्य के ये प्रकार हँसने के मनोभावों के विकास के आधार पर ही हैं। इस विकास में अनुभावों की रूपरेखा भी दृष्टि में रखी गई है। किन्तु जब हास्य के क्रोड़ में विनोद-मात्र न होकर कोई छल हो, प्रकट हो गई वस्तु को छिपाने का भाव हो अथवा ध्वनि-विकार से या श्लेष से अभिप्राय का रूपान्तर हो तो वह 'हास्य' रहते हुए भी एक नवीन कोटि की सृष्टि करेगा। हास्य के इस रूपान्तर को हमारे यहाँ के आचार्यों ने 'रस' के अन्तर्गत रखकर अलंकार के अन्तर्गत रखा है। यही कारण है कि हमारे अलंकार-ग्रन्थों में हास्य की इस कोटि को व्याजोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा और वक्रोक्ति आदि अलंकारों द्वारा व्यक्त किया गया है।

आचार्य मम्मट ने इन अलंकारों के लक्षण निम्न प्रकार से दिए हैं—

व्याजोक्ति— 'व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्न वस्तु रूप निगूहनम् ॥१०॥११८।
(प्रकट हुई वस्तु को छल से गोपन किया जाय।)

अप्रस्तुत प्रशंसा—अप्रस्तुत प्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥१०॥९८।
(प्रस्तुत के आश्रय से अप्रस्तुत का वर्णन)

वक्रोक्ति— यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्लेषेणकाक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥६॥७८।

(एक प्रकार से कहा हुआ वाक्य श्लेष अथवा ध्वनि-विकार से दूसरे प्रकार के अभिप्राय से जोड़ दिया जाय)

शब्द-शक्तियों में लक्षण और व्यंजना भी लक्ष्य या व्यंग्य (ध्वनि) से हास्य की उत्पत्ति कर सकती हैं।

पाश्चात्य साहित्य में हास्य (Humour) ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर अनेक रूप धारण किये हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं:—

(१) Satire (विकृति)—आक्रमण करने की दृष्टि से वस्तुस्थिति को विकृत करके उससे हास्य उत्पन्न करना।

(२) Caricature (विरूप अतिरंजना) किसी भी ज्ञात वस्तु या परिस्थिति को अनुपात-रहित बढ़ाकर या गिराकर हास्य उत्पन्न करना।

(३) Parody (परिहास) उदात्त मनोभाव को अनुदात्त संदर्भ से जोड़कर हास्य उत्पन्न करना।

(४) Irony (व्यंग्य) किसी वाक्य को कहकर उसका दूसरा ही अर्थ निकालना।

(५) Wit (वचन-वैदग्ध्य) विचारों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग। फ्रायड ने इसे दो प्रकार का माना है। सहज चमत्कार (Harmless wit), और प्रवृत्ति चमत्कार (Tendency wit)। सहज चमत्कार में केवल विनोद-मात्र रहता है किन्तु प्रवृत्ति चमत्कार में ऐन्द्रयिक या प्रतिकारात्मक भावना रही है।

मैंने पिछले पच्चीस वर्षों में एकांकी-नाटकों के क्षेत्र में जो प्रयोग किये हैं वे पश्चिम की प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर भी भारतीय नाट्य-शास्त्र के क्रोड़ में पोषित हुए हैं। सम्भवतः इसीलिए मेरे नाटकों में यथार्थवाद से उद्भूत एक नैतिक आदर्शवाद है और परिस्थितियों के विचित्र संघर्षों में रस की स्थिति में मेरा विश्वास है। यह रूप मैंने रूढ़िवाद के शिकंजे से मुक्त होकर ही करने का प्रयत्न किया है नहीं तो नवीन प्रयोगों के लिए मुझे कोई क्षेत्र ही न मिलता। इन प्रयोगों को ध्यान में रखकर हास्य के विभावों को मनोविज्ञान में स्थापित करके मैंने हास्य के पाँच भेद किये हैं जिनमें प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—

हास्य—
- सहज
  - विनोद
  - अट्टहास
- दृष्टि-विकार
  - अतिरंजना
  - विद्रूप
- भाव-विकार
  - परिहास
  - उपहास
- ध्वनि-विकार
  - व्याजोक्ति
  - वक्रोक्ति
- बुद्धि-विकार
  - व्यंग्य
  - विकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस भांति हास्य सहज विनोद से चलकर क्रमशः दृष्टि, भाव, ध्वनि और बुद्धि में नाना रूप ग्रहण करता हुआ विकृति में समाप्त होता है और अपनी यात्रा में मनोविज्ञान की सभी स्थितियों से गुज़र जाता है। सहज भाव में जब परिस्थितियों की प्रतिक्रिया होने लगती है तभी विकार आरम्भ हो जाता है। सबसे पहले यह विकार दृष्टि में आता है फिर वह भाव में परिणत होता है। भाव ध्वनि में प्रकट होता है और ध्वनि की प्रतिक्रिया में बुद्धि-विकार होता है। इस भाँति यदि मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो बुद्धि-विकार दो प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होता है और ये प्रतिक्रियाएँ हैं दृष्टि तथा ध्वनि की। इसलिए हास्य के अन्तर्गत व्यंग्य और विकृति की रचना गहरी दृष्टि और विस्तृत अनुभव की अपेक्षा रखती है।

सहज के दो रूप हैं विनोद और अट्टहास। इन दोनों में केवल हास्य की निरीह और निर्दोष भावनाएँ हैं जो हृदय को चिन्ता से मुक्त करके प्रसन्नता का वरदान देती हैं। विनोद तो एक बुलबुले की भाँति भाव-लहरों पर तैरकर फूट पड़ता है और अट्टहास बढ़ती हुई लहर की भाँति जीवन के दोनों तटों को अपनी बाहु में समेट लेना चाहता है, अतः इन दोनों का चित्र मेरी कल्पना में क्रमशः एक बिन्दु (O) और एक वर्तुलाकार रेखा (V) की भाँति है। दृष्टि-विकार दो प्रकार से होता है—एक अतिरंजना में वस्तु या परिस्थिति को अनुपातरहित घटा-बढ़ा देने में जैसे कोई कार्टून बनाने वाला छोटे शरीर पर बड़ा सिर बना दे या छोटे सिर में बड़े पैर जोड़ दे और दूसरे विद्रूप में (अर्थात् परिस्थितियों को उलट देने में जैसे उलटवासियों में हास्य के दर्शन होते हैं। अतिरंजना और विद्रूप वस्तुस्थिति की सभी दशाओं में हो सकता है इस भाँति इनका रूप मेरी कल्पना में चतुर्भुजी है। एक सीधा (▱) दूसरा उलटा (▱)।

भाव-विकार दो रूप में होता है एक परिहास में जिसमें उदात्त मनोभाव को अनुदात्त संदर्भ में जोड़ दिया जाता है और उपहास जिसमें उदात्त मनोभाव ही अनुदात्त हो जाता है। इस भाँति उपहास परिहास का ही विकसित रूप है। मेरी कल्पना में परिहास त्रिभुज है (△) और उपहास त्रिभुज की नीचे की ओर बढ़ी हुई रेखाएँ A हैं। ध्वनि-विकार व्याजोक्ति और वक्रोक्ति के रूप में प्रकट होता है। व्याजोक्ति में प्रकट को गुप्त कर देने का वाणी-चातुर्य है और वक्रोक्ति में संदर्भ ही बदल देने की मनोवृत्ति है, जो ध्वनि-विकार से भी संभव है। व्याजोक्ति रूप वाणी के चतुर्दिक् चातुर्य से वर्गाकार (▱) है, जो वक्रोक्ति में वक्र रेखाओं से (▱) निर्मित होता है।

बुद्धि-विकार व्यंग्य और विकृति से व्यक्त होता है। व्यंग्य बड़ा तीखा है। वह कहता एक बात है और मतलब दूसरी बात का हो जाता है। यह बहुरूपिया है, अमृत में विष डालना या फूल में कीट बनकर पहुँचना इसीका काम है। विष में बुझे हुए बाणों की नोक की भाँति यह तीखा है। मेरी कल्पना में इसका चित्र बाण के मुख की भाँति है। विकृति तो व्यंग्य और विद्रूप से संभव होकर वस्तु की चारुता को विचित्र तरह से मोड़ देती है। इसका रूप बाणों की उलटी और सीधी नोकों के अन्तर्व्याप्त होने में है। यही शब्दों के तीखेपन का कारण होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० माताप्रसाद गुप्त

'कान्हड़ दे प्रबन्ध' और उसका पाठ

राजस्थान राज्य द्वारा संस्थापित राजस्थान-पुरातत्त्व-मन्दिर, जयपुर ने अपनी स्थापना के गत कुछ ही वर्षों में साहित्य की अच्छी सेवा की है। उसने पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजय जी के प्रधान सम्पादकत्व में एक दर्जन से अधिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादित संस्करण प्रकाशित किये हैं। इन्हीं में से एक ग्रन्थांक ११, कवि पद्मनाथ-विरचित 'कान्हड दे प्रबन्ध' है, जिसका सम्पादन प्रसिद्ध गुजराती विद्वान् और लेखक कान्तिलाल बलदेव राम व्यास, एम० ए० ने किया है। इसका प्रकाशन १९५३ के अन्त में हुआ है। अभी ग्रन्थ का पहला भाग ही निकल पाया है, जिसमें प्रधान सम्पादक मुनि जिनविनय जी का प्रास्ताविक वक्तव्य, सम्पादक प्रो० कान्तिलाल बलदेवराम व्यास द्वारा लिखित भूमिका, ग्रन्थ का निर्धारित पाठ, जिसके साथ पाद-टिप्पणियों में विभिन्न प्रतियों के पाठान्तर हैं, और तीन परिशिष्टों के रूप में क्रमशः (१) विभिन्न प्रतियों में समान रूप से भूल के कारण छूटे हुए पद या पदांश, और समान रूप से पाए जाने वाले पाठों का सार, (२) पाठ-भेद के स्थलों पर गृहीत पाठों के विषय में आलोचनात्मक उल्लेख, (३) अकारादि क्रम से ग्रन्थ की छन्द-सूची है। दूसरे भाग में विद्वान् सम्पादक के अनुसार, "कृति की ऐतिहासिक और भाषा-सम्बन्धी पृष्ठभूमि, कृति का अनुवाद, जो कदाचित् अंग्रेजी में ही होगा, जैसा उसका समस्त आयोजन है, उसमें प्रयुक्त शब्दों की एक पूर्ण सूची ('इण्डेक्स') और यदि संभव हुआ, विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक विवरण होंगे।" अतः यह सम्पूर्ण योजना कितनी सुव्यवस्थित और पूर्ण होगी इसका अनुमान सहज में किया जा सकता है। जितना परिश्रम विद्वान् सम्पादक ने इस कृति पर किया है, और करने का आश्वासन दिया है। वह अत्यन्त सराहनीय है और राजस्थान-पुरातत्त्व-मन्दिर भी इस प्रकाशन के लिए समस्त राजस्थानी साहित्य-प्रेमियों के द्वारा प्रशंसा का पात्र है।

मूल ग्रन्थ स्वतः भी अनेक दृष्टियों से असाधारण महत्त्व का है। यद्यपि जिस छन्द में उसकी रचना-तिथि दी हुई है, उसके दो परस्पर भिन्न पाठ इस प्रकार हैं—

(१) पचतालीसठ पूठि बरीस, मास मागसिर पूनिम दीस।
संवत पंनर बारोतरउ, तिथि दिनि सोमवार विस्तरु ॥४.३४३॥

(२) संवत पनर बारोतर सार, माह मास पुंन्यम सोमवार।
जाल्हुर गढ घण उलट धरी, गायु कान्ह विशेषि करी ॥४·३४३॥

किन्तु दोनों में रचना-संवत् १५१२ ही आता है और ग्रन्थ की एक प्रति, जिसको सम्पादक ने सबसे अधिक मान्यता भी दी है, "सं० १५९८ आषाढ़ादि वर्षे कात्ती वदी ६ गुरुवार" की लिखी हुई है, इसलिए यह बहुत-कुछ निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि ग्रन्थ की रचना सं० १५१२ में हुई होगी। राजस्थानी ही नहीं हिन्दी के भी प्रारम्भिक युग के ग्रन्थों में कदाचित् ही कोई ऐसा माना जा सकता है जिसकी रचना-तिथि इतनी निश्चित हो। इसी प्रकार, इसकी विभिन्न प्रतियों में पाठ-विषयक समानता इतनी अधिक है कि उक्त युग के अन्य किसी ग्रन्थ के सम्बन्ध में कम ही मिलेगी, जिससे यह मानना पड़ता है कि ग्रन्थ का पाठ भी अपने मूल रूप में प्रायः सुरक्षित है और अपने युग की भाषा के अध्ययन के लिए एक दृढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार प्रस्तुत करता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का महत्त्व कम नहीं है। ग्रन्थकार उसी राज-वंश से सम्बन्धित था जिसको ग्रन्थ के कथानायक ने पवित्र किया था और इस बात की संभावना यथेष्ट है कि उसको कथा की समस्त सामग्री उस राज-वंश के लिखित और अलिखित इतिहासों से प्राप्त हुई हो। इसलिए उस युग के इतिहास के अध्येता के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त मूल्यवान होगा।

कविता की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उपेक्षणीय नहीं है। यद्यपि अलंकृत-शैली अथवा अभिव्यक्ति-चमत्कार का ग्रन्थ में प्रायः अभाव मिलेगा, किन्तु आदर्शों के लिए जीवनोत्सर्ग-काव्य के रूप में इसका स्थान साहित्य के इतिहास में अवश्य ही सुरक्षित रहेगा।

कथा अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार है :

मारवाड़ देश में स्थित जालौर नगर का शासक कान्हड़ दे था, जो कि सोनगिरा चौहान वंश का था। उसका कनिष्ठ भाई मालदेव तथा उसका पुत्र कुमार बीरम दे था। इसी समय गुर्जर का राजा सारंग दे था। उसने माधव नामक एक ब्राह्मण का अपमान किया, जिसके कारण ही विग्रह का प्रारम्भ हुआ। अपमान से क्षुब्ध होकर माधव ने प्रतिज्ञा की कि वह भोजन तभी करेगा जब वह गुजरात पर तुर्कों को ला उपस्थित करेगा। वह दिल्ली चला गया और सुलतान अलाउद्दीन से मिला। अलाउद्दीन से उसने सारी कथा बताई और इस बात के लिए उसे प्रेरित किया कि वह गुजरात पर आक्रमण कर दे। सुल्तान ने उसकी बात मान ली और आक्रमण की आज्ञा दे दी। किंतु दिल्ली से गुजरात का मार्ग जालौर होकर था, इसलिए उसने कान्हड दे के पास दूत भेजा कि वह उसकी सेना को मार्ग दे दे। कान्हड दे ने सुलतान के इस अनुरोध को अस्वीकार कर दिया। इस पर सुल्तान की सेना ने मेवाड़ होकर गुजरात पर चढ़ाई की। मेवाड़ के रावल साहसी ने उसे मार्ग दे दिया। सुलतान की प्रचण्ड वाहिनी के सम्मुख गुर्जराधीश ठहर न सका और पाटण पर सुलतान की सेना का आधिपत्य हो गया। इसके अनन्तर सुलतान की सेना ने एक-एक करके गुजरात और सौराष्ट्र के सम्पूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया। सोमनाथ की रक्षा का यत्न राजपूतों ने बड़ी ही वीरता के साथ किया, किन्तु वे असमर्थ रहे और उन्होंने वीरता के साथ युद्ध करते हुए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया।

गुजरात और सौराष्ट्र की विजय के अनन्तर सुलतानी सेना मारवाड़ की ओर मुड़ी। किन्तु कान्हड दे की सेना उसका सामना करने के लिए प्रस्तुत थी और विषम युद्ध के अनन्तर सुलतानी सेना पराजित हुई। जालौर पर पुनः आक्रमण का आदेश हुआ। इस बार जालौर के समीपस्थ समीयाणे पर आक्रमण हुआ, जो कान्हड दे के भतीजे सांतलसिंह के अधिकार में था। कान्हड दे ने सांतलसिंह की सहायता की और सुलतानी सेना को पुनः पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

इन पराजयों से सुलतान को बड़ा क्षोभ हुआ। पहले के उपर्युक्त आक्रमणों में सैन्य-संचालन उसके सेनापतियों ने किया था। इस बार उसने स्वतः सैन्य-संचालन का भार लिया और आक्रमण कर दिया। समियाणे पर घेरा डाल दिया गया, किन्तु सात साल के घेरे के बाद भी समीयाणे पर उसका अधिकार नहीं हो सका। बल द्वारा गढ़ पर अधिकार होना असम्भव समझकर अलाउद्दीन ने एक घृणित उपाय का अवलम्बन किया। गढ़ की दीवालों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हटकर बना हुआ गढ़ के भीतर ही उसका जलाशय था, एक-मात्र जिसके जल पर ही समीयाणे की समस्त जनता का जीवन निर्भर करता था। अलाउद्दीन ने गाएँ कटवाकर और उन्हें बोरों में बँधवाकर रातों-रात गढ़ की दीवार पर से उस जलाशय में डलवा दिया। सवेरा होने पर जब समीयाणे के लोगों ने यह दुष्कृत्य देखा, तो उनके सम्मुख केवल दो विकल्प शेष रह गए थे या तो इस जल को ग्रहण करना अथवा जल के अभाव में अपना जीवन देना। उन्होंने दूसरे ही विकल्प को स्वीकार किया और वहाँ की समस्त वीराङ्गनाओं ने जौहर किया। इस समाचार को सुनकर अलाउद्दीन ने सांतल के पास सन्देश भेजा कि वह उसका आधिपत्य-मात्र स्वीकार कर ले तो घेरा उठा लिया जायगा, किन्तु सांतल ने यह अस्वीकार कर दिया। तदनन्तर सम्पूर्ण राजपूत सेना ने खुलकर सुलतानी सेना से एक साथ युद्ध किया और प्रत्येक वीर ने लड़ते-लड़ते अपने जीवन का बलिदान कर दिया।

समीयाणे पर आधिपत्य कर लेने के अनन्तर अलाउद्दीन ने कान्हड दे के पास सन्देश भेजा कि वह उसकी वश्यता स्वीकार कर ले। किन्तु कान्हड दे ने उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। अलाउद्दीन ने जालौर पर आक्रमण कर दिया। उसकी सेना का पड़ाव जालौर के समीप ही पड़ा। इस आक्रमण में सुल्तान के साथ उसकी कन्या कुमारी फीरोजा भी थी जो कान्हड दे के कुमार वीरमदे के गुणों की प्रशंसा सुनकर उस पर अनुरक्त हो चुकी थी। वीरम दे के साथ विवाह की उसकी इच्छा जानकर अलाउद्दीन ने विवाह-सम्बन्धी प्रस्ताव कान्हड दे के पास भेजा। किन्तु अपनी जाति-कुल की मर्यादा का ध्यानकर कान्हड दे ने अलाउद्दीन का यह प्रस्ताव भी अस्वीकार कर दिया। अलाउद्दीन ने आगे बढ़कर जालौर पर घेरा डाल दिया। इस बार भी सफलता न मिली और अलाउद्दीन के लौटने की तैयारी की। किन्तु राजकुमारी वीरमदेव के दर्शनों के लिए लालायित थी, इसलिए वह सेना की एक छोटी-सी टुकड़ी लेकर गढ़ के भीतर गई। कान्हड दे ने उसका स्वागत किया। वीरमदे भी उससे मिला। राजकुमारी ने स्वतः वीरमदेव से विवाह का प्रस्ताव किया, किन्तु वीरमदेव ने अपनी जाति-कुल की प्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुए इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इसके अनन्तर राजकुमारी ने जालौर देखने की इच्छा प्रकट की। कान्हड़ दे ने उसके लिए सम्पूर्ण सुविधाएँ कर दीं और तदनन्तर उसे प्रचुर भेंटों के साथ विदा किया। अलाउद्दीन लौट गया।

आठ वर्ष बाद अलाउद्दीन की सेना ने जालौर पर पुनः आक्रमण किया। इस बार राजकुमारी फ़ीरोजा ने अपनी धाय को सेना के साथ भेजा कि यदि वीरम युद्ध में बन्दी हो तो वह उसके पास जीवित लाया जाय और यदि युद्ध में धराशायी हो तब उसका सिर लाए। जालौर के चारों ओर घेरा डाल दिया गया। चार वर्षों तक मालदेव तथा वीरम दे के नेतृत्व में जालौर-निवासियों ने सुल्तानी सेना का मुक़ाबिला किया। जब राजकीय भाण्डार रिक्त हो गए, वहाँ के व्यवसायियों ने अपने समस्त भाण्डार स्वतः अपने देश के लिए अर्पित कर दिए। इस सामग्री से आठ और वर्षों तक शत्रु का सामना किया गया। इन बारह वर्षों के बीच जलाभाव का भी एक से अधिक बार भय हुआ, किन्तु ईश्वर की कृपा से वह पूर्ण होता गया। किन्तु इसी बीच एक सेजवाल वीकम से उसे प्रलोभन देने पर शत्रु को एक गुप्त मार्ग का ज्ञान हो गया और सेना-शत्रु उसी मार्ग से गढ़ के भीतर घुस आई। सेजवाल की स्त्री हीरादेवी को जब यह ज्ञात हुआ कि उसके पति ने यह विश्वास-घात किया है, उसने उसका वध कर डाला और शत्रुसेना के गढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भीतर आने की सूचना कान्हाड दे को दी। समस्त शत्रु-सेना धीरे-धीरे गढ़ के भीतर पहुँच गई। राजपूत सैनिकों की संख्या इन बारह वर्षों के घेरे के बाद थोड़ी ही रह गई थी। वश्यता स्वीकार करने अथवा प्राणों की आहुति देने के अतिरिक्त कोई विकल्प शेष नहीं था। राजपूत वीरों ने दूसरे ही विकल्प का वरण किया। कान्हड दे युद्ध करता हुआ मारा गया। साढ़े तीन दिनों तक वीरम दे ने युद्ध किया। इसी बीच रानियों ने जौहर किया। वीरम दे ने जब देखा कि युद्ध को अब और अधिक चलाने की सम्भावना नहीं है और वह पराजित होने पर बन्दी हो जायगा उसने अपने उदर में कटार भोंक ली और शत्रु-पक्ष के अनेक सामन्तों को मारकर उसने प्राण त्याग दिये। धाय उसका सिर लेकर दिल्ली आई और उसने उसको राजकुमारी फ़ीरोज़ा को भेंट किया। राजकुमारी उस सिर को लेकर यमुना-तट पर गई और उसका संस्कार किया। तदनन्तर वह यमुना में उस सिर को लेकर कूद पड़ी और इस प्रकार अपने प्रेम को प्रमाणित किया।

अपने साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों के सम्बन्ध में एक प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक रूप से उठ खड़ा होता है—वह है उनके आकार के सम्बन्ध का। अधिकाधिक पूर्णता लाने के लिए उनमें पाठ-वृद्धि प्रायः निरपवाद रूप से हुई है। इसलिए 'कान्हाड दे प्रबन्ध' के सम्बन्ध में भी यह जिज्ञासा होना ठीक ही है कि उसका मूल परिमाण क्या था और पाठ-वृद्धि उसमें कहाँ तक हुई है।

परिमाण के सम्बन्ध में एक बात महत्त्व की है, ग्रन्थकार ने स्वतः ग्रन्थ के अन्त में उसका उल्लेख किया है। सम्पादित रूप में उक्त उल्लेख इस प्रकार है :

सांभलतां सरीर उल्हसइ, चउपई बन्ध इसी इग्यारसइ।
च्यारिखंडजिस्यां नवनीत, दूहाचउपई मधुरां गीत ॥ ४.३४२ ॥

सम्पादक ने अंग्रेजी के ए से लेकर एल तक के वर्णों द्वारा निर्दिष्ट बारह प्रतियों का उल्लेख किया है, किन्तु इनमें से आई एक मुद्रित संस्करण है, जिसका सम्पादन वैज्ञानिक पद्धति से नहीं हुआ है। इसलिए उसका उपयोग नहीं किया गया है और जी तथा एच एक ही प्रति के दो अंश-मात्र हैं, इसलिए उपयोग वस्तुतः दस ही प्रतियों का किया गया है। इन दस में भी तीन प्रतियाँ ई, एफ तथा जी एच समाप्ति के पूर्व ही खण्डित हो जाती हैं, अतः केवल शेष सात प्रतियों में ही यह छन्द पाया जाता है। इन सात में ग्रन्थ के परिणाम-सूचक शब्द 'इग्यारसइ' की स्थिति यह है कि वह केवल के में पाया जाता है जे में छन्द की वह पंक्ति ही नहीं है जिसमें यह शब्द आता है, ए में, जो ग्रन्थ की सबसे प्राचीन प्रति है, और जिसे अन्यथा सम्पादक ने सबसे अधिक मान्यता दी है, पाठ है 'नुवसइ', इसी प्रकार सी में पाठ है 'नवसि' बी में पाठ है 'सातडस', इसी प्रकार डी में पाठ है 'सातसइ' और एल में पाठ है 'च्यारिसइ'। प्रश्न यह उठता है कि ग्यारह सै, नव सै, सात सै और चार सै में कौन-सी संख्या मान्य हो सकती है और क्यों?

इन सात प्रतियों में प्रत्येक में अलग-अलग कुल छन्द-संख्या क्या है, यह सम्पादक ने नहीं लिखा है, किन्तु भूमिका में दी हुई सूचनाओं से ज्ञात होता है कि केवल तीन—ए, के, तथा एल में छन्द-संख्या सम्मिलित रूप में दी गई है, शेष प्रतियों में छन्द-संख्या खण्ड-क्रम से दी गई है। दिये हुए प्रतियों के अन्तिम पृष्ठों के चित्रों तथा सम्पादक द्वारा दी हुई सूचनाओं के आधार पर ए, के तथा एल में कुल छन्द-संख्या इस प्रकार ठहरती है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ए—प्रति के अन्तिम पृष्ठ का चित्र भूमिका में दिया हुआ है। उसके अनुसार ग्रन्थ की अन्तिम छन्द-संख्या १०१० है।

के—प्रति का अन्तिम पन्ना नहीं है, किन्तु उसके पूर्व वाले पृष्ठ के, जिसका चित्र भूमिका में दिया हुआ है, अन्तिम छन्द की संख्या १००६ है और निर्धारित पाठ में इस छन्द के बाद भी छन्द आते हैं, इसलिए प्रति का अन्तिम छन्द १०१६ रहा होगा।

एल—प्रति का अन्तिम पन्ना नहीं है, किन्तु उसके पूर्व वाले पृष्ठ के, जिसका चित्र भूमिका में दिया हुआ है, अन्तिम छन्द की संख्या ८४० है और निर्धारित पाठ में इस छन्द के बाद भी ११ छन्द आते हैं, इसलिए प्रति का अन्तिम छन्द ५१ होना चाहिए। किन्तु भूमिका (पृष्ठ २६) में विद्वान् संपादक ने लिखा है कि इस प्रति में कभी-कभी दो और कभी-कभी चार छन्दों तक को यथा एक छन्द गिना गया है। इसलिए प्रति पर लिखित यह छन्द-संख्या विश्वसनीय नहीं है। संपादित संस्करण तथा उसकी टिप्पणियाँ देखने पर ज्ञात होगा कि निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है[1], जिसके १३½ छन्दों के चरण इस प्रति में नहीं हैं और निर्धारित पाठ में इस प्रति के ४ छन्दों के चरण स्वीकार नहीं किये गए हैं, अतः प्रति की कुल छन्द-संख्या १०११ होनी चाहिए।

शेष चार प्रतियों की कुल छन्द-संख्या इस प्रकार होगी—

बी—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से १५ छन्दों के चरण प्रति में नहीं हैं और ऐसे ३½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इस प्रकार प्रति की कुल छन्द-संख्या १०१७ होनी चाहिए।

सी—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से ९०½ छन्दों के चरण प्रति में नहीं है और ऐसे १५½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इस प्रकार प्रति की कुल छन्द-संख्या ९५३ होनी चाहिए।

डी—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से ३१ छन्दों के चरण प्रति में नहीं हैं, और ऐसे १½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इसलिए प्रति की कुल छन्द-संख्या ९९९ होनी चाहिए।

जे—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से ४७½ छन्दों के चरण प्रति में नहीं हैं और ऐसे २½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इस प्रकार प्रति की कुल छन्द-संख्या ९८३ होनी चाहिए।

ऊपर परिमाण के सम्बन्ध में जो छन्द-गणना की गई है, उसमें भूल की सम्भावना हो सकती है। मान लीजिए कि यह सम्भावना १० छन्दों की पंक्तियों के सम्बन्ध की हो और गणना में १० अधिक गिन जाने के स्थान पर भूल से कम ही गिन लिया गया हो, तो भी विभिन्न-

1. खंड १ : २५६ छन्द ; खंड २ : १६८ छन्द ; खंड ३ : २५१ छन्द ; खंड ४ : ३५३ छन्द।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतियों की कुल छन्द-संख्या अलग-अलग निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ से आगे नहीं बढ़ती। दूसरी ओर, हम यह देखते हैं कि ये १० जोड़ देने पर भी एक प्रति-सी-के अनुसार ग्रन्थ के पाठ का परिमाण ६६३ तक हो जाता है। प्रश्न यह है कि ऐसी परिस्थिति में 'इग्यार सइ', 'नुव सइ', 'सरत सइ' और 'च्यारि सइ' में कौन-सा पाठ अधिक वस्तुसंगत हो सकता है। प्रकट है कि 'च्यारि सइ' तथा 'सात सइ' तो स्पष्टतः अस्वीकार्य हैं, 'इग्यार सइ' भी असम्भव है, क्योंकि दस सै से १०-२० ऊपर की संख्या के लिए 'इग्यार सइ' का प्रयोग नहीं किया जा सकता, और 'दस सइ' पाठ किसी भी प्रति में मिलता नहीं, इसलिए पाठ 'नुवसइ' अथ 'नवसि' ही स्वीकार्य होगा, विशेष रूप से इसलिए भी कि जिस प्रकार वह १०१० छन्द-संख्या की प्रति 'ए' में आता है, उसी प्रकार वह ६५३ के लगभग छन्द-संख्या की प्रति सी में भी आता है। यदि ग्रन्थ की कुल छन्द-संख्या 'दस सइ' के निकट होती, जैसी वह सी और जे के अतिरिक्त सभी प्रतियों में है, तो कोई कारण नहीं था कि कवि अन्य किसी संख्या के स्थान पर 'दस सइ' क्यों न लिखता। इसलिए यह परिणाम निकालना स्वाभाविक है कि ग्रन्थ का मूल परिमाण 'नुव सइं' या 'नवसि' ही था, छन्दाधिक प्रक्षेप द्वारा हुआ।

यह पाठ-वृद्धि प्रतियों में ही नहीं यथेष्ट विश्लेषण बिना किये हुए ही उनका आधार ग्रहण करने के कारण निर्धारित पाठ में भी हो गई है—निर्धारित पाठ में भी ऐसे अनेक छन्द ले लिये गए हैं जिनके कारण ग्रन्थ का पाठ 'नुवसइ' ही नहीं 'दससइ' हो गया है। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि ऐसे छन्द या छन्दार्द्ध जो सबसे छोटे पाठ की प्रति सी में नहीं हैं और फिर भी निर्धारित पाठ में स्वीकृत किये गए हैं, दो-चार अपवादों के अतिरिक्त निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं।

उदाहरण के लिए निर्धारित पाठ के निम्नलिखित छन्दों या छन्दार्द्धों को लिया जा सकता है, जो सी में नहीं हैं—

(१) ३.४६, ४७।१, ५१।१, ५२।१, ५३।१, ५४।१, ५५।१, ५६, ५७।१, ५८, ५६, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६।१ :

इन छन्दों में कान्हडदे की सेना में सम्मिलित होने वाले रावतों की नामावली दी गई है। इनमें सात नाम तो ऐसे आते हैं जो साथ के ही उन छन्दों में भी आते हैं जो सभी प्रतियों में समान रूप से पाए जाते हैं : अरजन (३.४३ तथा ३.५६); जगमाल (३.४५ तथा ३.५८); देव सी (३.४८ तथा ३.६३); घडसी (३.४८ तथा ३.५८); विजेसी (३.४१ तथा ३.६६); मूलराज (३.४३, ३.४६, तथा ३.६०); साल्हड (३.४७ तथा ३.५४।१)।

और बारह नाम ऐसे आते हैं जो इन्हीं छन्दों में—जो सी में नहीं मिलते हैं—एक से अधिक बार आते हैं। कर्णदे (३.५६ तथा ३.६४); षीमा या षीम (३.५६।१ तथा ३.६५); गांगु (३.६३ तथा ३.६५); गाजण (३.६३ तथा ३.६५); झाझण (३.५२।१ तथा ३.६४); दूदड (३.५८ तथा ३.६१); देमु यादे भउ (३.५६ तथा ३.६१); धारउ (३.५२।१ तथा ३.६६); पूनउ (३.५३।१ तथा ३.५८); फणगर (३.५६ तथा ३.६०); भीमउ (३.५१।१ तथा ३.६५); हरदास (३.६० तथा ३.६१)।

१६ नामों का इस प्रकार एक ही सूची में पुनः-पुनः आना अत्यन्त शोचनीय है। प्रकट है कि नामों के बढ़ाने के प्रयास में प्रक्षेपकारों को इस बात का ध्यान नहीं रहा कि ये नाम पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ए—प्रति के अन्तिम पृष्ठ का चित्र भूमिका में दिया हुआ है। उसके अनुसार ग्रन्थ की अन्तिम छन्द-संख्या १०१० है।

के—प्रति का अन्तिम पन्ना नहीं है, किन्तु उसके पूर्व वाले पृष्ठ के, जिसका चित्र भूमिका में दिया हुआ है, अन्तिम छन्द की संख्या १००६ है और निर्धारित पाठ में इस छन्द के बाद भी छन्द आते हैं, इसलिए प्रति का अन्तिम छन्द १०१६ रहा होगा।

एल—प्रति का अन्तिम पन्ना नहीं है, किन्तु उसके पूर्व वाले पृष्ठ के, जिसका चित्र भूमिका में दिया हुआ है, अन्तिम छन्द की संख्या ८४० है और निर्धारित पाठ में इस छन्द के बाद भी ११ छन्द आते हैं, इसलिए प्रति का अन्तिम छन्द ५१ होना चाहिए। किन्तु भूमिका (पृष्ठ २६) में विद्वान् संपादक ने लिखा है कि इस प्रति में कभी-कभी दो और कभी-कभी चार छन्दों तक को यथा एक छन्द गिना गया है। इसलिए प्रति पर लिखित यह छन्द-संख्या विश्वसनीय नहीं है। संपादित संस्करण तथा उसकी टिप्पणियाँ देखने पर ज्ञात होगा कि निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है[1], जिसके १३½ छन्दों के चरण इस प्रति में नहीं हैं और निर्धारित पाठ में इस प्रति के ४ छन्दों के चरण स्वीकार नहीं किये गए हैं, अतः प्रति की कुल छन्द-संख्या १०११ होनी चाहिए।

शेष चार प्रतियों की कुल छन्द-संख्या इस प्रकार होगी—

बी—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से १५ छन्दों के चरण प्रति में नहीं हैं और ऐसे ३½छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इस प्रकार प्रति की कुल छन्द-संख्या १०१७ होनी चाहिए।

सी - निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से ६०½ छन्दों के चरण प्रति में नहीं है और ऐसे १५½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इस प्रकार प्रति की कुल छन्द-संख्या ६५३ होनी चाहिए।

डी—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से ३१ छन्दों के चरण प्रति में नहीं हैं, और ऐसे १½ छन्दों के चरण प्रति में और है जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इसलिए प्रति की कुल छन्द-संख्या ६६६ होनी चाहिए।

जे—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से ४७½ छन्दों के चरण प्रति में नहीं हैं और ऐसे २½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इस प्रकार प्रति की कुल छन्द-संख्या ६८३ होनी चाहिए।

ऊपर परिमाण के सम्बन्ध में जो छन्द-गणना की गई है, उसमें भूल की सम्भावना हो सकती है। मान लीजिए कि यह सम्भावना १० छन्दों की पंक्तियों के सम्बन्ध की हो और गणना में १० अधिक गिन जाने के स्थान पर भूल से कम ही गिन लिया गया हो, तो भी विभिन्न-

1. खंड १ : २५६ छन्द ; खंड २ : १६८ छन्द ; खंड ३ : २५१ छन्द ; खंड ४ : ३५३ छन्द।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतियों की कुल छन्द-संख्या अलग-अलग निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ से आगे नहीं बढ़ती। दूसरी ओर, हम यह देखते हैं कि ये १० जोड़ देने पर भी एक प्रति-सी-के अनुसार ग्रन्थ के पाठ का परिमाण ६६३ तक हो जाता है। प्रश्न यह है कि ऐसी परिस्थिति में 'इग्यार सइ', 'नुव सइ', 'सरत सइ' और 'च्यारि सइ' में कौन-सा पाठ अधिक वस्तुसंगत हो सकता है। प्रकट है कि 'च्यारि सइ' तथा 'सात सइ' तो स्पष्टतः अस्वीकार्य हैं, 'इग्यार सइ' भी असम्भव है, क्योंकि दस सै से १०-२० ऊपर की संख्या के लिए 'इग्यार सइ' का प्रयोग नहीं किया जा सकता, और 'दस सइ' पाठ किसी भी प्रति में मिलता नहीं, इसलिए पाठ 'नुवसइ' अथ 'नवसि' ही स्वीकार्य होगा, विशेष रूप से इसलिए भी कि जिस प्रकार वह १०१० छन्द-संख्या की प्रति 'ए' में आता है, उसी प्रकार वह ६५३ के लगभग छन्द-संख्या की प्रति सी में भी आता है। यदि ग्रन्थ की कुल छन्द-संख्या 'दस सइ' के निकट होती, जैसी वह सी और जे के अतिरिक्त सभी प्रतियों में है, तो कोई कारण नहीं था कि कवि अन्य किसी संख्या के स्थान पर 'दस सइ' क्यों न लिखता। इसलिए यह परिणाम निकालना स्वाभाविक है कि ग्रन्थ का मूल परिमाण 'नुव सइं' या 'नवसि' ही था, छन्दाधिक प्रक्षेप द्वारा हुआ।

यह पाठ-वृद्धि प्रतियों में ही नहीं यथेष्ट विश्लेषण बिना किये हुए ही उनका आधार ग्रहण करने के कारण निर्धारित पाठ में भी हो गई है—निर्धारित पाठ में भी ऐसे अनेक छन्द ले लिये गए हैं जिनके कारण ग्रन्थ का पाठ 'नुवसइ' ही नहीं 'दससइ' हो गया है। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि ऐसे छन्द या छन्दार्द्ध जो सबसे छोटे पाठ की प्रति सी में नहीं हैं और फिर भी निर्धारित पाठ में स्वीकृत किये गए हैं, दो-चार अपवादों के अतिरिक्त निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं।

उदाहरण के लिए निर्धारित पाठ के निम्नलिखित छन्दों या छन्दार्द्धों को लिया जा सकता है, जो सी में नहीं हैं—

(१) ३. ४६, ४७।१, ५१।१, ५२।१, ५३।१, ५४।१, ५५।१, ५६, ५७।१, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६।१ :

इन छन्दों में कान्हडदे की सेना में सम्मिलित होने वाले रावतों की नामावली दी गई है। इनमें सात नाम तो ऐसे आते हैं जो साथ के ही उन छन्दों में भी आते हैं जो सभी प्रतियों में समान रूप से पाए जाते हैं : अरजन (३.४३ तथा ३.५९); जगमाल (३.४५ तथा ३.५८); देव सी (३.४८ तथा ३.६३); घडसी (३.४८ तथा ३.५८); विजेसी (३.४१ तथा ३.६६); मूलराज (३.४३, ३.४६, तथा ३.६०); साल्हड (३.४७ तथा ३.५४।१)।

और बारह नाम ऐसे आते हैं जो इन्हीं छन्दों में—जो सी में नहीं मिलते हैं—एक से अधिक बार आते हैं। कर्णदे (३.५९ तथा ३.६४); षीमा या षीम (३.५६।१ तथा ३.६५); गांगु (३.६२ तथा ३.६५); गाजण (३.६३ तथा ३.६५); झाझण (३.५२।१ तथा ३.६४); दूदड (३.५८ तथा ३.६१); देसु यादे भउ (३.५९ तथा ३.६१); धारउ (३.५२।१ तथा ३.६६); पूनउ (३.५३।१ तथा ३.५८); फणगर (३.५९ तथा ३.६०); भीमउ (३.५१।१ तथा ३.६५); हरदास (३.६० तथा ३.६१)।

१९ नामों का इस प्रकार एक ही सूची में पुनः-पुनः आना अत्यन्त शोचनीय है। प्रकट है कि नामों के बढ़ाने के प्रयास में प्रक्षेपकारों को इस बात का ध्यान नहीं रहा कि ये नाम पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी आ चुके हैं। साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि उन छन्दों में नाम-विषयक यह पुनर नहीं है, जो सी में भी आते हैं।

(२) २.७०, ७१ : इन छन्दों के द्वारा उन देशों की सूची में वृद्धि की गई है ि अलाउद्दीन ने अपने द्वारा विजित बताया है।

(३) ४. ६८,६६, ७० : इन छन्दों के द्वारा उन मुसलमान सामन्तों की सूची में की गई है जो अलाउद्दीन के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित होते हैं।

(४) ४. ७७ : इस छन्द के द्वारा उन वस्तुओं की सूची में वृद्धि की गई है, ि अलाउद्दीन से युद्ध की तैयारी में आठ वर्षों के संबल के लिए कान्हड दे ने इकट्ठा कराया है

(५) ४. ६८,६६ : इन छन्दों के द्वारा उन स्थानों की सूची में वृद्धि की गई है, ि राजपूत सरदारों को अपने पक्ष में युद्ध करने के लिए कान्हड दे ने आमंत्रित किया है।

(६) ४. २४८,२४६ : इन छन्दों के द्वारा उन देवताओं की सूची में वृद्धि की गई है कान्हड दे और अलाउद्दीन की सेनाओं का युद्ध देखने के लिए आकाश-मार्ग में इकट्ठे हुए है

(७) ४. २५४,२५५ : इन छन्दों के द्वारा उन मुसलमान सामन्तों की सूची में वृद्धि गई है जो अलाउद्दीन के पक्ष में युद्ध करने के लिए आये हैं।

(८) ४. २६२, २६३, २६४, २६६, २६७, २६८, २६६, २७०, २७१, २७ २७३, २७४, २७५।२, २७६।१, २७७।१, २७६, २८० : इन छन्दों के द्वारा उन रा योद्धाओं की सूची में अभिवृद्धि की गई है जो कान्हड दे के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित हुए हैं

सूचियों में अभिवृद्धि प्रक्षेप का एक अत्यन्त प्रचलित रूप है और इन छन्दों में से अधिकतर में ढूँढ़ने पर उसी प्रकार की पुनरुक्तियाँ मिलेंगी जैसी हमने ऊपर देखी हैं।

(६) १. २२८, २३१ : इन छन्दों के द्वारा पुण्य की माहात्म्य-सूची में अभिवृद्धि गई है। यह सूची प्रस्तुत से चार छन्द पूर्व प्रारम्भ होती है। पूर्ववर्ती छन्द है :

पुण्यइ वाह्लां नहीं वियोग, पुण्यइ हुई, सृजन संयोग।
पुण्यइ पहिरीइ वारुचीर, पुण्यइ हुइ फूटरां सरीर ॥ २२७ ॥

और इसी प्रकार के 'पुण्यइ' से प्रारम्भ होने वाले छन्द २२४ से २३२।१ तक किन्तु प्रक्षेपकार को इसका ध्यान न रहा और उसने छन्द २२८ 'पुण्यइ' के स्थान पर 'पुण्य की महिमा में रच डाला :

पुण्यवन्तनां दुसकृत टलइ, पुण्यवन्तनइ चामर ढुलइ।
पुण्यवन्त सिरछत्र छराह, पुण्यवन्तन विपाला जाइ ॥ २२८ ॥

(१०) ४. ३४८, ३५० : इन छन्दों के द्वारा उस फल-सूची में वृद्धि की गई है जो ग्रन्थ के पढ़ने से प्राप्य बताये गए हैं।

(११) १. २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४६ : ये छन्द एक सम्पूर्ण के हैं।

(१२) २·१५४, १५५, १५६, १५७, १५८ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं

(१३) ३·१५३, १५४, १५५, १५६, १५७ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं

(१४) ४·१६५, १६६, १६७, १६८ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।

(१५) ४·२४१, २४२, २४३, २४४ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१६) ४·३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।

(१७) ४·३२६, ३२७, ३२८, ३२६ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।

ये समस्त गीत ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न स्थानों पर आते हैं। इन सात गीतों का पूरा-पूरा छूट जाना भूल से संभव नहीं है और न इसी बात का कोई कारण हो सकता है कि ये गीत जान-बूझकर निकाल दिये गए हैं। इसलिए तीसरी ही सम्भावना बुद्धि-सम्मत ठहरती है कि ये गीत प्रक्षेपों के रूप में बढ़ाये गए हैं।

(१८) ३·६ : यह छन्द प्रसंग-प्रवाह में स्पष्ट विच्छेद प्रस्तुत करता है। पूर्ववर्ती तथा परवर्ती छन्द इस प्रकार हैं :

दस्यूं प्रधान कहइ तिणि समइ, सुरताणी दल कुण आंगमइ।
जास तणउ भूतलि भडवाय, जिणि वसि कीधा राणा राय ॥५॥
जास तणइ तेजी लख आठ, जास तणइ घरि गयवर भाट।
जास तणइ नवनिधि भण्डारी, जेह भिडतां नवि आवइ हारि ॥७॥

और इन्हीं दोनों छन्दों के बीच में आता है :

पद्मनाथ पंडित भणइ जिह तूठउ जगदीस।
तास तहुवडि हुइ किसी अंगिम आणउ रीस ॥६॥

(१६) ४·४१।२ : यह छन्दार्द्ध भी प्रसंग-प्रवाह में विच्छेद करता हुआ प्रतीत होता है। पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पंक्तियों में कान्हड दे की रानरिद्धि का 'बषान' किया गया है :

राज रिद्धि नूं किसूं बषाण, बातइ पंचवर्ण के काण ॥३८॥
अवधानीया अनइ रावरी, करइ मसाहणी चिंतातुरी ॥४१।१
भंडारी कोठारी जेउ, पूरइ वरउ रालगुनि नेउ ॥४२।१

और इन्हीं के बीच में आता है :

इसी अवधि बातइ राउली, त्रिणिवार घोडां जाउली ॥४१।२

(४) ४·११४।२, ११५।१, : इन पंक्तियों में आया हुआ एक चरण तो पूर्णतः वही है जो पूर्ववर्ती छन्द में आ चुका है। दोनों पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :

गढ लागइ गढषाई करउ, इणी परिआछा संचरउ। ४·११४।२
रहती बुद्धि सवे आदरउ, इणी परिआछा संचरउ। ४·११५।१

ऊपर जान-बूझकर निर्धारित पाठ के केवल ऐसे छन्दों का उल्लेख किया गया है जिनकी प्रक्षेपता स्वतः प्रकट है और इनकी री संख्या ८० छन्दों के बराबर है। यदि, मान लीजिए, ऐसे १० छन्द भी और प्रक्षिप्त ठहरें जो उपर्युक्त सूची में आने से रह गए हों, तो यह संख्या ६० हो जाती है और परिणामतः १०२८ छन्दों के निर्धारित पाठ के स्थान पर ग्रन्थ का मूल परिमाण ६३८ छन्दों का हो जाता है। निश्चय ही ६३८ के आस-पास की संख्या 'नुवसइं' या 'नवसि' से ही अभिहित की जायगी, 'रससइ' या 'ग्यारसइ' से नहीं और ६३८ की अपेक्षा ६०० के और भी निकट की संख्या तो और भी 'नुवसइ' या 'नवसि' के द्वारा अभिहित होगी।

कहना नहीं होगा कि ऊपर दिये हुए छन्दों को भूल से छूटा हुआ और इसीलिए जिन प्रतियों में ये छन्द नहीं मिलते उनको परस्पर संकीर्ण सम्बन्ध से सम्बन्धित मानकर विद्वान् सम्पादक ने जो सिद्धान्त ग्रन्थ के पाठ-निर्धारण के लिए स्थिर किये हैं, वे वैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माने जा सकते और फिर उनके अनुसार स्थिर किया हुआ सामान्य पाठ भी सर्वथा विश्वास नहीं माना जा सकता। फिर भी जिस असाधारण अध्यवसाय और सतर्कता से विद्वान् सम्पा ने समस्त प्रतियों का पाठान्तर दिया है और कार्य को सर्वांगपूर्ण बनाने में उद्योग किया है, उस सराहना मुक्तकण्ठ से करनी पड़ती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

बालकृष्ण राव

नयी कविता

: १ :

गत वर्ष कुछ साहसी साहित्यकारों के सहकारी प्रयास के फलस्वरूप 'नयी कविता' नामक अर्द्ध-वार्षिक प्रकाशन आरम्भ हुआ। इन साहित्यकारों कों साहसी माननें में तो किसी को आपत्ति न होगी और न होनी चाहिए। कविता के पाठक सदा ही अल्पसंख्यक होते आये हैं और उनकी भी छोटी-सी संख्या ऐसी होती है जिसे कविता खरीदकर पढ़ने की आदत हो। आज का युग कविता-प्रेमियों की बाढ़ का युग नहीं, कविता की लोकप्रियता के उतार का युग माना जाता है। उस पर अधुनातन युग की कविता अभी अपना भावक-वर्ग खोज रही है। उसकी धारा उपहास और उपेक्षा के किनारों में होकर रेतीली भूमि पर बह रही है जिसके सागर तक पहुँचने की सम्भावना कम और राह में लुप्त हो जाने की आशंका अधिक जान पड़ती है। इस कविता को हिन्दी-संसार के सामने रखने के उद्देश्य से एक संग्रह-ग्रन्थ का प्रणयन समझ में आ सकता है। पर वर्ष में दो बार प्रकाशित करने के निश्चय को तो साहस क्या दुस्साहस मानना ही पड़ेगा। कहाँ मिलेंगे इतने पाठक कि उसकी तुष्टि कर सकें? कहाँ मिलेंगी इतनी संग्रहणीय कविताएँ कि प्रतिवर्ष दो बार उसकी कलेवर-पुष्टि कर सकें? कुछ भी हो, यह सहकारी साहस इसका प्रमाण है कि इसके विधायक साहित्यकार नयी कविता में अपनी अदम्य आस्था से प्रेरित होकर ही आगे बढ़े थे, अन्यथा नियमित रूप से वर्ष में दो बार प्रकाशित करने की घोषणा न करते।

यदि यह प्रकाशन इस रूप में हमारे सामने न आता और केवल एक स्वतन्त्र संग्रह-ग्रन्थ के रूप में ही आता तो निश्चय ही यह इतना ध्यान आकृष्ट न कर पाता। जो नयी कविता को अस्वस्थ मनोदशा या विकृत मस्तिष्क की उपज मानते हैं वे एक संग्रह-ग्रन्थ की उपेक्षा करके ही उसे मार सकते हों या नहीं, चेष्टा अवश्य करते। पर प्रतिवर्ष दो बार प्रकाशन की घोषणा से हमारे साहसी मित्रों ने उन्हें चौंका दिया। दबा देने के उद्देश्य से इसके विरोधियों ने डंके की चोट पर इसका मजाक उड़ाया, इसे बुरा-भला कहा—यह भी इसकी चर्चा करना ही था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके प्रशंसकों ने पीठ पर थपकी दी, वाह-वाह के नारे लगाये। परिणाम में 'नयी कविता' को दोनों ओर से 'नोटिस' मिला—इतना जिसकी आशा भी उसके संस्थापकों ने न की होगी। यदि अब इसका प्रकाशन बन्द भी हो जाय तो भी नयी कविता की ओर हिन्दी-जगत् का ध्यान आकृष्ट कराने के काम में वह अपने को, एक अंक के बल पर ही, सफल मान सकती है। प्रायः सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में उसकी आलोचना हुई और उस पर लेख निकले, गोष्ठियों में उस पर वाद-विवाद हुआ, विद्यालयों में उसकी चर्चा हुई। उसे प्रशंसा मिली और गालियाँ सुननी पड़ीं। 'नयी कविता' के लिए केवल एक ही विष घातक हो सकता था और वह विष था हिन्दी-संसार की उपेक्षा। उससे इसने अपने-आपको बचा लिया।

: २ :

'नयी कविता' के पाठक को उसके प्रथम अंक में कोई लेख या वक्तव्य न मिलेगा जिससे वह जान सकता कि किस अर्थ में इस नाम में प्रयुक्त 'नयी' शब्द उसे ग्रहण करना है। न तो उसे कोई सम्पादकीय स्तम्भ ही मिलेगा न कोई स्पष्ट रूप से अधिकृत लेख ही, जो यह बताता कि यह प्रकाशन किस उद्देश्य से निकाला गया है और किस आधुनिक कविता को उसके सम्पादक 'नयी कविता' मानते हैं और क्यों? पन्ने उलटकर वह और भी चकित होगा, क्योंकि इसमें उसे नाना 'स्कूलों' की रचनाएँ मिलेंगी और यह जानने में उसे कठिनता होगी कि वह कौन-सी ऐसी सादृश्यता संग्रहीत कविताओं की शैली अथवा भाव-भूमि में है जिसने इन सबका वहाँ एकत्र किया जाना सार्थक बनाया है। वह जानना चाहेगा कि यह एकत्रीकरण सार्थक है या नहीं। उसे प्रयोगवादी रचनाओं का बाहुल्य मिलेगा, ब्रजभाषा और अन्य प्रादेशिक बोलियों का अभाव मिलेगा, शुद्ध छायावादी रचनाएँ न मिलेंगी, बहुत-कुछ ऐसी चीजें मिलेंगी जो सफल मान लें तो हास्य नहीं तो हास्यास्पद लगेंगी, कुछ दुरूह, कुछ वृत्तगंधी गद्य, कुछ गद्याकार कविता—कहीं की ईंट मिलेगी तो कहीं का रोड़ा। पर भानमती से भेंट न होगी जो उसे जानने का अवसर मिलता कि यह कुनबा क्यों और कैसे जोड़ा गया?

पाठक को इस प्रथम अंक में 'नयी कविता : नयी अभिरुचि' शीर्षक का एक लेख मिलता है, जो सम्पादकीय के रूप में तो नहीं पर सम्पादक के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें सम्पादक ने एक वाक्यांश-मात्र से संकेत किया है कि 'नयी कविता' से उनका अभिप्राय आधुनिक कविता से है, किसी वर्ग-विशेष की रचनाओं से नहीं। वह वाक्यांश है "हिन्दी कविता को विकास की नई दिशाओं में ले जाने वाला कवि", और इस वाक्यांश से इतना स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद की कविता को इस प्रकाशन में क्यों स्थान नहीं मिल सकता। छायावादी कवि हिन्दी कविता को न तो नई दिशा में ही ले जाता है और न उसकी दिशा विकास की ही दिशा है। उद्धृत वाक्यांश में यह गर्भित है कि नयी कविता का रचयिता कवि गतिशील हो, क्योंकि 'ले जाना' गतिशीलता के साथ ही हो सकता है और वह किन्हीं नई दिशाओं की ओर उन्मुख हो। (मैं जान-बूझकर यहाँ गतिशील कह रहा हूँ, क्योंकि 'प्रगतिशील' एक 'स्कूल' विशेष की रचना के लिए प्रयोग से रूढ़ हो गया है।) एक बात और भी है जो इस वाक्यांश में पाठक को मिलेगी और वह है इसकी ध्वनि कि यह नया कवि परम्परा से पृथक् नहीं है, परम्परागत कविता को ही ग्रहण करके उसे नये मोड़ों से, नई दिशाओं की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर ले जाता है। यह बात अपने लेख के अन्तिम दो वाक्यों में सम्पादक ने और भी स्पष्ट कर दी है। वह कहते हैं : "नई अभिरुचि के जन्म का अर्थ पुरानी अभिरुचि या अभिरुचियों का पूर्णतया नाश नहीं है। वह तो पुराने संस्कारों के बीच ही संघर्षशील होकर नवीन संस्कारों की संस्थापना और संवहन करती हुई अपना मार्ग प्रशस्त करती चलती है।"

सम्पादक के लेख से हमें 'नयी कविता' के विषय में तीन बातें मिलीं : वह नई दिशा की ओर उन्मुख हो, गतिशील हो और परम्परा से असम्बद्ध न हो।

: ३ :

तीन और लेख इस प्रथम अंक में हैं : श्री सुमित्रानन्दन पन्त का, श्री विजयदेव नारायण साही का और श्री गिरिजाकुमार माथुर का। पन्त जी का लेख 'नयी कविता' के शीर्षक से आमुख के रूप में दिया गया है, अतः इसे अधिकृत मानना पाठक के लिए स्वाभाविक ही है। पन्तजी कहते हैं कि छायावाद से "एक प्रकार से नयी कविता प्रारम्भ होती है," पर हमें इसका स्पष्टीकरण नहीं मिलता कि प्रारम्भ छायावाद स्वयं ही है या छायावाद प्रारम्भ कराता है। दूसरे शब्दों में, हम जिस नयी कविता से परिचित कराये जा रहे हैं उसका आदिम रूप छायावाद में मिलता है अथवा उसका उद्गम छायावाद से हुआ। इसके अतिरिक्त, पन्तजी ने 'एक प्रकार से' कहकर अपने कथन को मर्यादित तो किया, साथ ही और भी अस्पष्ट कर दिया। पाठक को यह पूछने का अधिकार है कि किस नयी कविता का, किस प्रकार से छायावाद से प्रारम्भ हुआ ?

आगे चलकर पन्तजी कहते हैं : "नयी कविता विश्व-वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण करके तथा आज के प्रत्येक पल बदलते हुए युग-पट को अपने मुक्त छन्दों के संकेतों की तीव्र-मन्द गति-लय में अभिव्यक्त कर, युग-मानव के लिए नवीन भाव-भूमि प्रस्तुत कर रही है।" छायावाद की कविता, पन्तजी के ही शब्दों में : "वास्तविकता से आँख-मिचौनी खेलकर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि" कर रही थी। निश्चय ही पन्तजी का यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि जो कविता वास्तविकता से आँख-मिचौनी खेल रही थी वही 'प्रत्येक पल बदलते युग-पट को' अभिव्यक्त कर रही थी या विश्व-वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण कर रही थी। फिर वह कौन-सा 'एक प्रकार' है जिस प्रकार से पन्तजी नयी कविता का प्रारम्भ छायावाद से मानते हैं ?

तुलना की दृष्टि से नयी कविता को देखते हुए पन्तजी कहते हैं कि वह अधिक मौलिक, वैचित्र्यपूर्ण तथा वैयक्तिक हो गई है; अपनी भावना में अधिक रागात्मक तथा मानववादी बन गई है। "वह छायावादी स्वप्नों के कुहासे को हटाकर नवीन वास्तविकता के मुख को पहचानने का प्रयत्न कर रही है। वह अधिक व्यापक यथार्थ की भूमि में पदार्पण करना चाहती है। एक साथ ही वह अधिक वैचित्र्यपूर्ण और अधिक रागात्मक कैसे हो सकी, अधिक वैयक्तिक और मानववादी कैसे बनी, इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित ही रह जाता है। पर इस तुलनात्मक परीक्षण से ऐसा जान पड़ता है कि पन्तजी नयी कविता को छायावाद का नया संस्करण मानते हैं।

: ४ :

श्री विजयदेव नारायण साही का 'परिचय' शीर्षक लेख श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सम्बन्ध में है और उसीके माध्यम से वे नयी कविता के विषय में भी अपने विचार प्र करते हैं। लक्ष्मीकान्त जी की कविता को साहीजी नयी कविता का "उदाहरण प्रस्तुत करतं सी" मानते हैं, अतः उनका कथन है कि लक्ष्मीकान्त जी की कविता "भावनाओं के एक सर्व नये सामञ्जस्य को ढूँढ़ने का प्रयास" करती है, हम अधिक व्यापक रूप में लें और वह सम कि उनकी दृष्टि में यह नयी कविता का प्रयास है, तो अनुचित न होगा। इस कथन में महत्त्वपू शब्द 'सर्वथा नये' हैं, क्योंकि भावनाओं का सामञ्जस्य किसी-न-किसी प्रकार प्रत्येक कविता ढूँढ़ है, नयी कविता ही क्यों ?

साहीजी कहते हैं : "आज के कवि को एक ही साथ दो बिन्दुओं पर खड़ा (खड़े !) होकर देखने की चेष्टा करनी पड़ती है।" एक बिन्दु उसकी भावना का केन्द्र है, दूसरा परिवेश का प्रतीक। फलतः "अक्सर नये कवियों में यह दुहरी चेतना तीखे विद्रोह एवं व्यंग्य और कहीं कहीं विद्रूप एवं कुण्ठा में व्यक्त हुई है।" (विद्रूप किस भाषा का शब्द है और हिन्दी में कैसे आया, यह मैं नहीं जानता। कई स्थानों में इसे देखा अवश्य है, कहीं संज्ञा के रूप में पर अधिकतर विशेषण के रूप में, पर इसके अर्थ का अनुमान ही लगा पाया हूँ।) परिवेश और भावना के परस्पर वैषम्य की अनुभूति और उनमें सामञ्जस्य ढूँढ़ने का प्रयास, उस प्रयास की असफलता से असन्तोष और उस असन्तोष की अभिव्यक्ति में विद्रोह एवं व्यंग्य की झलक्य पुट—इसमें कोई मौलिक नवीनता नहीं है। यह सब हमें पुरानी कविता में भी मिलता है, हाँ, कहने के ढंग में नवीनता अवश्य आ गई है। 'भूखे भजन न होहिं गुपाला' और

नंगे बच्चे
भूखी बीबी
साँस रोग-सी ग्रस्त त्रस्त, अंधी कोठरी,
कवि कलाकार, अतिशय भावुक

में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, शैली का ही अन्तर है। उसी प्रकार "जानत हौं चारि फल चारहूँ चनक कों" में यही परिवेश और भावना का वैषम्य व्यंजित है। नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित' में यह बहुत मिल जायगा। जीवन की नीरसता और कवि की भावुकता, आज के नहीं उतने पुराने यथार्थ हैं जितनी पुरानी कविता स्वयं है।

आगे चलकर लक्ष्मीकान्त जी की कविता के विषय में (अर्थात् नयी कविता के विषय में) साहीजी कहते हैं : "लेकिन शिल्प का विघटन इस सीमा तक पहुँचने पर भी, कविता कविता बनी रह जाय, यह अवश्य आश्चर्य का विषय है। इसी अर्थ में लक्ष्मीकान्त नयी कविता का उदाहरण प्रस्तुत करते-से जान पड़ते हैं। क्योंकि उनकी कविताएँ आभूषण हीन, बल्कि परि-धानहीन हैं—यूकेलिप्टस के वृक्ष की भाँति।" पर उनकी कविता में जो "एक अजब-सा खुर-दरापन, अनगढ़पन, व्याकृति—परिव्याप्त है, यह जान-बूझकर उतारा हुआ खुरदरापन नहीं है। ......जिस भावभूमि को उन्होंने ग्रहण किया है उससे उनकी शैली का ऐसा स्वाभाविक सामं-जस्य है कि एक को अंगीकार करने पर दूसरा उसकी अनिवार्य परिणति के रूप में अंगीकृत हो जाता है।" साहीजी समझाते हैं कि उनके मन में प्रतिपल होने वाले भावनात्मक विस्फोट के कारण "कविता के शिल्प का गौण—बल्कि अनावश्यक—हो जाना स्वाभाविक था।"

श्री गिरिजाकुमार माथुर छोटे-से लेख में नयी कविता के सम्बन्ध में कहते हैं : "नयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता हम उसे मानते हैं जिसमें इन दोनों के स्वस्थ तत्त्वों का सन्तुलन और समन्वय है।" (यह 'हम' सम्पादकीय 'हम' नहीं है, केवल 'मैं' के स्थान में प्रयुक्त हुआ है।) जिन 'दोनों' के स्वस्थ तत्त्वों की बात की गई है वे दोनों हैं शैली, शिल्प, माध्यमों के प्रयोग और समाजोन्मुखता, जिस पर नयी कविता बल देती है। "जीवन की संघर्षमय कटुता के बीच भारतीय आदर्शानुसार उसकी आशा की लौ निष्कम्प है, क्योंकि उसे विश्वास है कि······मानवता का भविष्य कल्याणमय है।"

नयी कविता से परिचय पाने के लिए इस प्रकाशन के प्रथम अंक में हमें जो मिलता है वह इतना ही है। इन कथनों की पुष्टि के रूप में पत्रिका के अवशिष्ट भाग (उसके अधिकांश भाग) में कविताओं का संकलन है। स्पष्ट है कि इतने-से मसाले से नयी कविता की मूर्ति नहीं बन पाती और जैसा हम अब देखेंगे, यह सब-का-सब मसाला मूर्ति के बनाने में सहायक नहीं हो पाता, थोड़ा ही हो पाता है।

: ५ :

मैंने ऊपर कहा है कि 'नयी कविता' के प्रथम अंक में प्रयोगवादी कविताओं का बाहुल्य है। वास्तव में अनुपात से वे संकलित कविताओं में प्रायः ६० प्रतिशत होंगी। तो क्या जिसे हम प्रयोगवादी कविता कहते आये हैं वही यह नाम अपनाकर हमारे सामने आई है? यदि हाँ, तो क्यों? यदि नहीं, तो इसमें और प्रयोगवादी कविता में क्या अन्तर है?

प्रयोगवाद न हिन्दी की विशेषता है न भारत की, पर हिन्दी में इसका प्रयोग छायावाद के विरुद्ध विद्रोह के रूप में हुआ। छायावाद, पन्तजी के शब्दों में, "वास्तविकता से आँखमिचौनी खेलकर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि" करता रहा। वास्तविक परुष और नीरस था, छायावाद ने कोमल और स्निग्ध का हाथ पकड़ा; वास्तविक प्रकाश में जलन थी, छायावाद ने अँधेरे में और चन्द्र-किरणों में रहने का अभ्यास किया। यह माया-लोक स्वप्न के समान टूट गया और जग उठने के बाद फिर बलात् आँखें मीचकर स्वप्न देखना सम्भव न हो सका। कविता ने अन्य प्रयोग आरम्भ किये। छायावाद के धुँधले स्वप्न कक्ष से निकलकर उसने बाहर की ऊबड़-खाबड़ भूमि पर पाँव धरे, पर चलने के लिए पाँव अनभ्यस्त थे, वे लड़खड़ाने लगे। आँखें सूर्य के प्रकाश में खुलकर देखने के लिए अनभ्यस्त थीं, वे झिप गईं। उसने विवश हो अपने लिए उपयुक्त साधन ढूँढ़े और कुछ समय के बाद उन साधनों का परित्याग उसके लिए वैसा ही कठिन हो गया जैसा छायावाद के मोह-जाल से बाहर आना था। प्रयोगवाद को अपने प्रयोगों से इतना प्रेम हो गया कि उन्हें उसने जीवन का अंग मान लिया। खुरदरापन जान-बूझकर उतारा जाने लगा।

पन्तजी ने छायावाद से ही 'एक प्रकार से' नयी कविता का प्रारम्भ माना है। उसकी वास्तविकता से दूर रहने की चेष्टा; स्वप्न देखने की प्रवृत्ति; अतिशय कोमल, मधुर शब्द-योजना का अभ्यास—इनसे असन्तोष और अतृप्ति ने उस प्रतिक्रिया को जन्म दिया जिसके द्विधा विभक्त होने के बाद एक का नाम प्रगतिवाद और दूसरी का प्रयोगवाद हुआ। इस अर्थ में इस प्रतिक्रिया का प्रारम्भ छायावाद से हुआ माना जा सकता है। पर पन्तजी का यह आशय नहीं है। वे छायावाद की कविता को ही उस नयी कविता का प्रस्फुटन मानते हैं जिसका नया रूप आज हमारे सामने है। इसमें सन्देह नहीं है कि काव्यानुभूति और अभिव्यक्ति, दोनों ही अर्थों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायावाद की कविता से इस प्रतिक्रिया-जन्य कविता का सम्बन्ध है। पर क्या यही नयी कविता है? छायावाद की सूक्ष्मता, कोमलता और अतीन्द्रिय काव्यानुभूति और अभिव्यक्ति हिन्दी-कविता को जहाँ ले गई थी वहाँ से वापस लाकर उसे टोस और पार्थिव, सबल और गतिशील बनाना प्रयोगवाद और प्रगतिवाद का काम रहा है। पर दोनों ही छायावाद के प्रभाव से अपने को उन्मुक्त करने के लिए किसी बाह्य, अ-साहित्यिक आधार को अपनाने के लिए विवश हुए: प्रगतिवाद ने सामूहिक चेतना का सहारा लिया (जो कला के नैसर्गिक प्रेरणा-स्रोत, व्यक्ति को छोड़ने के कारण मूलतः अ-साहित्यिक आधार है, और प्रयोगवाद ने शिल्प के नवीन प्रयोगों को ही अपनी साधना के रूप में ग्रहण किया।

: ६ :

पर यदि हम यह बात पहले से ही मानकर न चलें कि हमें जितनी भी कविता हिन्दी में मिलती है वह हिन्दी-कविता की परम्परा में ही है, चाहे उसके साथ चलें या उसके प्रतिकूल, तो हमें एक ऐसी कविता के दर्शन हो सकेंगे जो मूलतः हिन्दी-काव्य की परम्परा में है ही नहीं। यह हिन्दी-काव्य की भागीरथी की कोई शाखा या नहर नहीं है। वर्तमान युग-जीवन भावनात्मक विस्फोटों का (और वैज्ञानिक विस्फोटों का भी) जीवन है। साहीजी ने जो बात लक्ष्मीकान्त जी की कविता के माध्यम से नयी कविता के लिए कही है, मैं समझता हूँ कि वह सर्वांशतः सत्य है। पन्तजी ने अपने छोटे-से आमुख में आज के युग की वास्तविकता की भूमि में एक भूकम्प की बात कही है। इस भूकम्प और इन विस्फोटों के परिणाम-स्वरूप जो नई काव्य-धारा फूट चली है वही आज के युग की वास्तविक नयी कविता है। यह किसी एक देश, किसी एक समाज, साहित्य अथवा संस्कृति की नहीं, समस्त मानवता की जीवन-भूमि में वह निकली है, सभी साहित्य को प्लावित करती है। हिन्दी में भी हम उसे देखते हैं और अन्य भाषाओं के साहित्य में भी। यह इस युग की देन है, अतएव यह सच्चे अर्थ में नयी कविता है।

राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, अन्य क्षेत्रों में भी हम आज एक देश के नहीं अनेक देशों के नागरिक हैं। विचारों के स्तर पर हम संसार-भर के नागरिक हैं, क्योंकि आज किसी देश या भाषा का साहित्य केवल उसका ही नहीं पठित मानव का है, वह कहीं क्यों न हो। हमारा जीवन, हमारी भाव-भूमि, हमारा विचार-जगत् सभी विस्तृत और व्यापक हो गए हैं। हमारी समस्याएँ औरों की भी समस्याएँ बन गई हैं, औरों की हमने अपना ली हैं। कोरिया में हमारे सैनिक ही नहीं गये, हम भी वहाँ गए। वहाँ के दुःख, दैन्य हमने भी सहे, जैसे वे सचमुच हमें अनुभव करने पड़े हों। अणु और उद्जन बम की विभीषिका से हम वैसे ही आतंकित हैं जैसे अमेरिका और योरोप के निवासी। टी० एस० इलियट और रिल्के, सार्त्र और शॉ से हम भी परिचित ही नहीं प्रभावित भी हैं। यह अनिवार्य था कि हम सब अनेक देशवासियों का जीवन जैसे-जैसे एक-दूसरे के सम्पर्क में आता गया और एक-दूसरे से प्रभावित होने लगा, उसी गति से हम सब अपनी सीमाओं को उत्तरोत्तर ढीली होती पाते गए। अनिवार्यतः हम किसी-न-किसी रूप, किसी-न-किसी अंश में युग-मानव में परिणत होते गए और हमारी काव्यानुभूति अधिकाधिक व्यापक स्तर पर संवेदनशील होती गई। हमारे काव्य-प्रेरणा के स्रोत अनेक दिशाओं से फूट निकले। एक सार्वदेशिक काव्य-प्रेरणा इस व्यापक काव्यानुभूति और संवेदनशीलता के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठी और उसने अनेक भाषाओं ने अनेक माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्ति पाई। वही युग की नयी कविता है।

यह कविता किसी देश के साहित्य की परम्परा में नहीं है, क्योंकि यह किसी साहित्य के नैसर्गिक विकास का कोई संस्थान नहीं है। यह युग-कविता मानव-मात्र की कविता है और वह युग मानव के लिए नयी भाव-भूमि प्रस्तुत कर रही है। हम स्वयं ही इस युग-मानव के अभि-भावक और उत्तराधिकारी हैं। युग मानव की यह नयी भाव-भूमि सार्वभौम है, उसकी कविता सभी पुरानी सीमाओं को लाँघकर एक ऐसे व्यापक स्तर पर प्रस्फुटित हुई है जहाँ न उसे किसी समाज या साहित्य की परम्परा से बल मिलता है न उसकी कुण्ठा और विवशता ही उसकी सहज अभिव्यक्ति को दबा पाती है।

प्रयोग इस कविता के लिए अनिवार्य प्रणाली है, क्योंकि यह मूलतः नयी है और अपने लिए उपयुक्त कलेवर इसे स्वयं ही गढ़ना है। पर यह प्रयोग किसी 'वाद' के विरुद्ध प्रतिक्रिया-त्मक ढंग से नहीं करती, न ही इसे प्रयोग के लिए प्रयोग करना है। शिल्प इसके लिए वास्तव में न गौण है न प्रधान, शिल्प और विषय-वस्तु अन्योन्याश्रित हैं—एक के बिना दूसरा निरर्थक है। इस नयी कविता को अपने लिए नये द्वन्द्वों का आविष्कार और निर्माण करना पड़ता है क्योंकि परम्परागत छन्द और शैलियाँ इसके लिए उपयुक्त नहीं हैं, न कि इसलिए कि इसे पर-म्परा के विरोध में नयी शैली अपनानी है। नयी कविता परम्परा-निरपेक्ष है, परम्परा-विरोधिनी नहीं। यदि परम्परा-सम्मत शैली इसे अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त जान पड़ी तो इसने निःसंकोच ग्रहण किया; नहीं, तो उसे वैसे ही निःसंकोच छोड़ दिया। परम्परा से उसे न वैर है, न प्रेम।

: ७ :

'तार सप्तक' की भूमिका में 'अज्ञेय' ने उसके सात कवियों के एकत्रीकरण का आधार बताते हुए लिखा था : "ये सातों अन्वेषी हैं।······किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राहों के अन्वेषी।" हमारे आज के युग-मानव ने भी कोई मंज़िल नहीं पाई, वह भी राह का अन्वेषी है। अन्वेषण में प्रयोग निहित है। अतः हमारी युग-कविता प्रयोग की कविता है, पर इस नयी कविता को प्रयोगवादी कविता कहना ठीक नहीं है क्योंकि इसके लिए प्रयोग प्रधान नहीं है, प्रयोग की अभिव्यक्ति प्रधान है क्योंकि प्रयोग ही जीवन है। महात्मा गांधी ने अपने आत्म-चरित का नाम 'सत्य के निमित्त प्रयोग' रखा था। ठीक उसी तरह हमारे युग-मानव का जीवन प्रयोग की कथा है। और जिस प्रकार महात्मा गांधी की जीवनी को 'आत्मचरित का प्रयोग' कहना भ्रामक होगा वैसे ही इस नयी कविता को प्रयोगवादी कविता कहना अर्ध-सत्य ही होगा। नयी कविता प्रयोग करती है, पर अभिव्यक्ति के लिए—क्योंकि जिस काव्यानुभूति से उसे प्रेरणा मिली वह स्वयं ही प्रयोग है।

इसका निर्णय करना कि कौन-सी कविता वास्तव में नयी कविता कही जाने योग्य है और कौन-सी, प्रयोगवादी 'स्कूल' की शैली में होते हुए भी, इस नाम की अधिकारिणी नहीं है, इसलिए कुछ कठिन हो सकता है कि नयी कविता और 'प्रयोग के लिए प्रयोग' की कविता की आकृति में सादृश्यता है। पर यह सादृश्यता केवल बाह्य ही है, आकृति तक ही सीमित है। सच्ची नयी कविता पाठक के मन में यह शंका उठने ही न देगी कि उसके कलेवर अथवा परिधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की असाधारणता 'जान-बूझकर उतारी गई है' या उसकी अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य थी। नयी कविता की विषय-वस्तु इस अर्थ में बिलकुल नयी होगी कि उसकी प्रेरणा के स्रोत नये होंगे और उसकी काव्यानुभूति नयी और इस युग की होगी। वह गतिशील होगी और विकास की दिशा की ओर उन्मुख होगी। परम्परा-निरपेक्ष होगी। विश्व-वर्चस्व से उसे प्रेरणा मिली होगी और वह युग-मानव के लिए नयी भाव-भूमि प्रस्तुत करती होगी। वह 'परप्रत्ययनेयबुद्धि' न होगी, क्योंकि वह युग-मानव की कविता है और युग-मानव के लिए कोई 'पर' नहीं हो सकता। पूर्ववर्तियों द्वारा आविष्कृत, परम्परा द्वारा आनीत सत्य उसके लिए अपर्याप्त है; क्योंकि जग-जीवन का यह युग स्वयं ऐसे सत्य की खोज कर रहा है जिसको वह अपना सके, जिसमें उसकी सार्थकता हो। सत्य एक और अविभाज्य है पर उसके रूप अनेक हैं और मानव-जीवन के दृष्टिकोण प्रत्येक युग में परिवर्तित होते रहते हैं। किसी समय भी वह सत्य को उसी रूप में देख, पहचान और अपना सकता है जिस रूप में वह उस समय, उसके लिए सार्थक हो। विगत युगों के दर्शन को वह सर्वांशतः अपना नहीं बना सकता, क्योंकि जीवन गतिशील और परिवर्तनशील है। उसे अपना सत्य स्वयं खोजना है और इसमें ही सुन्दर और शिव की खोज भी निहित है।

नयी कविता युग-मानव की कविता है और युग मानव आज के प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्तित्व का सामूहिक नाम है। वह किसी एक देश या नागरिक अथवा एक भाषा का भाषी नहीं है। हम जब बहुत-सी आधुनिक कविता में अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग देखते हैं तो चौंकते हैं, पर वह चौंकने की बात नहीं है, स्वाभाविक ही है।

इसकी सम्भावना कि प्रतिवर्ष दो बार अच्छे स्तर की इतनी नयी कविताएँ उपलब्ध हो जायँ कि यह प्रकाशन सूम कैसों दान, महामूढ़ कैसो ज्ञान न बन जाय, यदि अधिक नहीं है तो बहुत कम भी नहीं है। हाँ, चयन में कुछ अधिक सावधानी और मनीषी की निर्ममता अपेक्षित है। 'नयी कविता' के पहले अंक में बहुत उदारता से काम लिया गया है। यह उदारता नयी कविता के लिए हितकर नहीं हो सकती। आगामी अंकों में यदि सम्पादक इस ओर अधिक ध्यान दें तो बहुत अच्छा हो। साधारण की नक़ल बहुत कठिन है, असाधारण की आसान है। नयी कविता असाधारण है। उसकी नक़ल बायें हाथ का खेल है। शिल्प का विघटन, विषय-वस्तु की विलक्षणता, उक्ति की दुरूहता नयी कविता की ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण 'नक्क़ालों से सावधान' का नारा लगाते रहना आवश्यक है।

यद्यपि कलेवर की पुष्टि (सम्भवतः मित्रों की तुष्टि भी) भरती की चीजों से हो सकती है और उन्हें अन्दर आने देना सच्ची नयी कविता के उदाहरणों को बाहर निकालने का कारण न न बने यह भी सम्भव है, फिर भी यह नयी कविता को पहचानने और उसे समुचित आदर का स्थान दिलाने में बाधक हो सकता है। 'नयी कविता' के पहले अंक में कुछ ऐसी चीजें हैं जिन्हें नयी या पुरानी, किसी प्रकार की कविता, मानना कठिन है, कुछ ऐसी हैं जो किसी 'विविध, विषय-विभूषित' पत्रिका में तो न खटकतीं पर इस विशिष्ट प्रकाशन में अजनबी 'गेट क्रैशर'-सी लगती हैं। कुछ चीजें 'किंचित् कविता' के कठघरे में से चुपके से, आँख बचाकर बाहर आई हुई लगती हैं, जैसे श्री रामबहादुर 'मुक्त' के मुक्तक। इनकी 'अपशकुन' शीर्षक कविता अपशकुनों की लिस्ट है। यदि वह गम्भीर कविता है तो Thirty days hath September april, June and November' भी कविता है—पर वह नयी कविता होने का दावा तो नहीं करती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ REFERENCE BOOK

'अज्ञेय' की 'यह दीप' शीर्षक रचना नयी कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनकी 'आज तुम शब्द न दो, न दो' नयी है, पर कविता नहीं; क्योंकि रस की सृष्टि नहीं करती। विचार-जन्य, विचाराश्रित, विचार-प्रधान रचना भी कवि की संवेदनशीलता से प्रभावित होकर रस की सृष्टि कर सकती है। इसके अगणित उदाहरण हमें नये और पुराने साहित्य में मिलते हैं। पर सब-कुछ होते हुए भी रस की सृष्टि किये बिना कविता की सार्थकता ही नहीं है। 'काँगड़े की छोरियाँ' अच्छी है पर उसमें कोई ऐसी मौलिक नवीनता नहीं है कि वह नयी कविता का प्रतिनिधित्व कर सके। अन्य रचनाओं में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : श्री धर्मवीर भारती की दोनों कविताएँ, श्री गिरजाकुमार माथुर की 'तैंतीसवीं वर्ष गाँठ', श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की 'हस्ताक्षर' और 'आत्म परिचय' (कुछ 'जान-बूझकर उतारी गई' विचित्रताओं के बावजूद), श्री नरेश मेहता की सुन्दर कविता 'पीले फूल कनेर के', श्री रघुवीरसहाय की 'आज फिर', श्री श्याममोहन श्रीवास्तव की कविता 'संकल्प', श्री कुँवरनारायण की 'जाड़ों की एक दोपहर' आदि। श्री सर्वेश्वरदयाल की कविताएँ 'खाली समय में' और 'लिपटा रजाई में' अच्छी हैं, पर उनकी नवीनता, मात्र शैली की नवीनता, उससे गहरी नहीं है।

'किंचित् कविता' खण्ड में जो भँड़ैतों के नमूने दिये गए हैं उनकी ओर आलोचकों का ध्यान गया है, पर उन पर गम्भीरतापूर्वक आलोचना समय का अपव्यय-मात्र है। किसी से मनोरंजन हो पाता है, किसी से नहीं। पर इनकी संख्या बहुत अधिक है। मुक्त छन्द में भँड़ैती बहुत ही आसान हो जाती है। मजाक़ गद्य की शक्ल में न लिखकर उसकी नयी कविता सरीखी आकृति बना दें तो वह क्या कविता हो गई?

अन्त में, इस पर जोर देकर कि 'नयी कविता' में प्रकाशित करने के लिए रचनाओं के चयन में अधिक सावधानी और कड़ाई की जाय, मैं सम्पादकों से फिर कहूँगा कि वे अपने प्रकाशन में नयी कविता की व्याख्या की ओर अधिक ध्यान दें। यह आवश्यक है कि हिन्दी-जगत् इस पर विचार करे और इसके विषय में हम एक निष्कर्ष पर पहुँचें कि नयी कविता क्या है? इस समय तो जाकी रही भावना जैसी, यह कविता देखी तिन तैसी।[1]

यह पुस्तक वितरित न की जाय NOT TO BE ISSUED

डॉ० जगदीश गुप्त

तीन नये काव्य-संग्रह

'बावरा अहेरी', 'रात बीती', 'धरती और स्वर्ग'

हिन्दी कविता के क्षेत्र में पिछले वर्ष जो काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए उनमें 'अज्ञेय' का 'बावरा अहेरी', बालकृष्ण राव का 'रात बीती', और डॉ० देवराज का 'धरती और स्वर्ग' कई दृष्टियों से प्रमुख स्थान रखते हैं। इनका प्रकाशन एक ऐसे युग में हुआ है जब कविता नये धरातल को खोजती

१. 'नयी कविता', सम्पादक : डॉ० जगदीश गुप्त, श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी। कविता प्रकाशन प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई नवीन सन्तुलन ग्रहण करने में संलग्न है इसीलिए इनके मूल्यांकन के साथ यह प्रश्न सहज रूप से उभर आता है कि इस सन्तुलन को घटित करने में इनका वास्तविक योग क्या है ? यहाँ इनका मूल्यांकन मुख्यतया तीन आधारों पर किया गया है। एक है कथन की सहज भाव-संकुलता (natural emotivity), दूसरा कलात्मक संयम (artistic restraint) से युक्त कृतित्व-शक्ति (creative power) और तीसरा सशक्त रचनाओं की संख्या।

कोई भी कविता भाव से सम्बद्ध होने-मात्र से भाव-संकुल नहीं हो जाती। इस तत्त्व का सम्बन्ध सीधे-सीधे मूल अनुभूति की शक्ति से है। अधिक सशक्त अनुभूति अधिक भाव-संकुल काव्य को जन्म देगी किन्तु जब मैं 'सहज भाव संकुलता' की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय अनुभूति से न होकर 'काव्यानुभूति' (poetic feeling) से है। 'अनुभूति' और 'काव्यानुभूति' के बीच स्पष्ट अन्तर है। अनुभूति किसी-न-किसी प्रकार सबको होती है, कवि को भी, किन्तु काव्यानुभूति, जिसके अन्तर्गत रूप-विधान और अभिव्यंजना की मातृ-शक्ति निहित रहती है, कवि की निजी विशेषता है। यह सहज और कृत्रिम दोनों ही रूप में व्यक्त हो सकती है। जब काव्यानुभूति मूल अनुभूति के समानान्तर आन्तरिक सूक्ष्म सन्तुलन को बिना छेड़े सारी कलात्मक प्रक्रिया को स्वभावतः अपने भीतर समाहित करती चलती है तो वह उसकी सहज स्थिति होती है, किन्तु जब यह सूक्ष्म आन्तरिक सन्तुलन टूट या विकृत हो जाता है तो रचना का निर्वाह करने के लिए कृत्रिमता का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसी दशा में मूल अनुभूति और काव्यानुभूति का अन्तर बढ़ता-घटता रहता है और परिणामस्वरूप जो भाव-संकुलता आती भी है वह कृत्रिम ही होती है। 'बावरा अहेरी' की कविताओं का स्रष्टा अनुभूति के क्षण को तथा काव्यानुभूति के प्रवाह को परखने और आँकने में अधिक सक्षम है। उसके आगे ऐसी स्थिति कदाचित् नहीं आती कि वह 'रात बीती' के कवि की तरह काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में अपनी विजय के परिमाण को नापता हुआ घोषित करे—'····परिस्थिति और वातावरण पर काव्य-प्रेरणा जिस परिमाण में विजय पा सकी, उसी परिमाण में 'पद्य-कृति' कविता बन सकी।' सी० बी० राव की रचनाओं को पढ़ने पर बराबर ऐसा लगता है जैसे अनुभूति के उक्त दोनों रूपों के बीच एक अन्तर प्रायः सर्वत्र बना रहता है। डॉ० देवराज की कविताओं में इस अन्तर का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अधिकांश स्थलों पर उनकी अनुभूति काव्यानुभूति में परिणत होते-होते रह जाती है। इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण अपेक्षित हैं।

'बावरा अहेरी' की इसी शीर्षक की कविता की कुछ पँक्तियाँ इस प्रकार हैं :

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है अलोक की
लाल लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ :

'रात बीती' की सबसे पहली कविता 'दो चित्र' की प्रारम्भिक तीन पंक्तियाँ यह हैं :

डूबता है चाँद, तारे मुँह छिपाते,
काँपते, हारे, थके, सहमे हुए-से—
क्योंकि अब सूरज निकलने जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त दोनों कविताओं की दिशा, प्रकार, धरातल और उक्ति-विधान सभी कुछ एक-दूसरे से अलग है—थोड़ी-सी वस्तुगत समानता को छोड़कर, तो भी दोनों कवियों की भावात्मक प्रक्रिया की थोड़ी-बहुत तुलना की जा सकती है। 'अज्ञेय' की पंक्तियों में उक्ति-विधान के बावजूद वस्तु के प्रति एक आत्मीय तरलता है जब कि सी० बी० राव उक्ति का निर्माण कुछ-कुछ तटस्थ भाव से करते प्रतीत होते हैं। कलात्मक पूर्णता के लिए एक प्रकार की तटस्थता भी अपेक्षित होती है किन्तु भाव-संकुलता (emotivity) के मूल्य पर नहीं। 'रात बीती' की अधिकांश कविताएँ इसी प्रकार सूक्ति-मूलक हैं जिनमें कवि के अनुभूतिशील व्यक्तित्व से सूक्तिकार का व्यक्तित्व लगभग असम्पृक्त किन्तु अधिक सचेष्ट दिखाई देता है। बहुत सी पंक्तियों की सार्थकता भाव में न होकर केवल उक्ति में निहित मिलती है। पर 'अज्ञेय' का वस्तु-संगठन सूक्ति-गर्भित होते हुए भी भाव-तत्त्व को आत्मसात् करता हुआ उसीसे उपजता लगता है। इसी तरह उनकी एक दूसरी कविता है 'प्रथम किरण'; जिसमें 'वन पाखी' प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है फिर भी उससे कवि का आत्मीय सम्बन्ध साफ़ झलक उठता है। इस 'वन पाखी' से डॉ० देवराज की 'काला मुखड़ा, पीठ व गर्दन' वाली 'ओ चिड़िया, जंगल की चिड़िया !' की तुलना करने पर काव्यानुभूति का अन्तर सहज ही प्रकट हो जाता है। 'धरती और स्वर्ग' में ही ऐसी अनेक रचनाएँ हैं जो काव्यानुभूति की दृष्टि से इस कविता से श्रेष्टतर हैं।

दूसरा आधार है 'कलात्मक संयम से युक्त कवित्व-शक्ति' का, जिसके द्वारा काव्यानुभूति शरीर धारण करके संवेद्य तथा प्रेषणीय बनती है। कवित्व-शक्ति के होते हुए भी कलात्मक संयम के अभाव में अभिव्यक्ति फैल सकती है, बिखर सकती है और कभी-कभी विकेन्द्रित अथवा विशृंखलित होकर असुन्दर भी लग सकती है। अज्ञेय की कविताओं में संयमन की वृत्ति एक अन्तर्भूत तत्त्व की तरह निहित मिलती है जो कला की दृष्टि से अब तक की नई कविता के सम्पूर्ण क्षेत्र में अद्वितीय कही जा सकती है। रचना के समस्त अंगों पर कवि की दृष्टि रहती है और प्रत्येक शब्द एक विशिष्ट अभिव्यंजना-प्रणाली के अनुरूप अपनी सार्थकता सिद्ध करता चलता है। कविता पढ़ते समय एक सधे हुए शिल्पी के कृतित्व का बोध होता है। इस कलात्मक कसाव के प्रयत्न में कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है जैसे मूल भाव की नसें आवश्यकता से अधिक खिंच गई हों। शब्दों को अभीप्सित अर्थ के अनुरूप वाक्यांशों में साधकर रखने की प्रवृत्ति कवि को कुछ ऐसे शब्दों तक ले जाती है जो ठेठ देशज, साधारणतया कविता में अप्रयुक्त और कभी-कभी ग्रामीण तथा अनगढ़ भी होते हैं। 'मचिया', 'अँजुरी', 'पौन', 'अलसानी', 'टिमक', 'पुहुप', 'झौंप', 'मतियाया', 'लील', 'बिस्वास', 'अकास', 'हेरा गयीं', आदि बीसों शब्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग, (निश्चय ही इसमें प्रयोगशीलता का भाव रहता है) कलात्मक उद्देश्य से होने के कारण अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। यह नई अभिव्यक्ति को जन्म देने के लिए आवश्यक भी है परन्तु इनकी अधिकता प्रेषणीयता में बाधक भी हो सकती है। अज्ञेय न केवल शब्दों के प्रति वरन् वाक्यांशों के क्रम और पंक्चुएशन के चिह्नों तक के सम्बन्ध में विशेष जागरूक रहते हैं। 'रात बीती' का कवि भी अपनी रचनाओं में इस बात के प्रति सजग दिखाई देता है कि कम-से-कम शब्दों में वह अपने अभिप्राय को व्यक्त कर दे। वस्तुतः सी० बी० राव का ध्यान नये अर्थ को सँवारने और समाहित करने की ओर उतना नहीं रहता है जितना कि नई बात (अनुभव के नये खण्ड) को नये ढंग से कहने की ओर। पुराने शब्दों से अपना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम चलाने के वे अभ्यासी प्रतीत होते हैं। उनकी कला की सार्थकता कृतित्व-शक्ति की अपेक्षा अभिप्राय को सधे ढंग से कुछ चुटीला बनाते हुए व्यक्त कर देने में है। डॉ० देवराज का ध्यान भी नये अर्थ को सँवारने की ओर कम रहता है इसीलिए उनकी रचनाओं से वह कलात्मकता कम मिलती है जो नये कवि की कृतित्व-शक्ति को प्रकट करती है। कला का जो भी रूप उनकी रचनाओं में परिलक्षित होता है उसमें आधुनिक के साथ मध्यकालीन मनोवृत्ति का मिश्रण मिलता है।

तीसरे आधार को स्पष्ट करने से पूर्व प्रत्येक संग्रह की कविताओं पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार कर लेना आवश्यक है।

'बावरा अहेरी' सन् १६४६ में प्रकाशित 'हरी घास पर क्षण भर' के पाँच वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। इसमें '५० से लेकर '५३ तक की कविताएँ संग्रहीत हैं। भूमिका इसमें है नहीं, अतः कवि को इस संग्रह की कविताओं के सम्बन्ध में क्या कहना है यह अज्ञेय ही रहा है। प्रकाशक ने अवश्य घोषित किया है कि "....'हरी घास पर क्षण भर' के बाद की ये कविताएँ उनकी साहित्यिक प्रगति की परिचायक हैं। उनकी काव्य-अभिव्यंजना का सारा सौन्दर्य और माधुर्य इनमें है। एक जागरूक कवि की ये कविताएँ हिन्दी-कविता-साहित्य में अप्रतिम हैं...।"

जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है, इसमें संग्रहीत कविताओं का कलात्मक सौन्दर्य और भाव-गरिमा असंदिग्ध है, किन्तु क्या यह संग्रह अज्ञेयजी के कवि-व्यक्तित्व को आगे ले जाता है, 'उनकी साहित्यिक प्रगति' का परिचय देता है, यह प्रश्न विचारणीय है? क्या पिछले पाँच वर्ष के बाद हम उनसे इससे भी अधिक प्रौढ़ तथा अधिक समृद्ध काव्य-कृति की आशा नहीं करते थे। कुछ लोगों की तो निश्चित धारणा है कि 'हरी घास पर क्षण भर' की तुलना में, सब पक्षों को दृष्टि में रखते हुए 'बावरा अहेरी' उत्कृष्टतर कृति नहीं है। मैं इस मत से पूरी तरह सहमत नहीं हूँ, क्योंकि इस संग्रह में कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जिनके समकक्ष, भाव और कलात्मक प्रौढ़ता की दृष्टि से कवि की पिछली कोई रचना शायद ही रखी जा सके। 'बावरा अहेरी' की कविताएँ कई वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं। प्रथम वर्ग में 'आज तुम शब्द न दो', 'प्रथम किरण', 'वर्षान्त', 'देहवल्ली', 'यह दीप अकेला', 'शोषक भैया', 'विज्ञप्ति दफ्तर : शाम', 'झरने के लिए' और 'जो कहा नहीं गया' शीर्षक कविताएँ आती हैं; जिनमें कवि का जीवन-दर्शन और चिन्तन मानवीय सत्य को सहज रूप में ग्रहण करने की वृत्ति के साथ उभरकर सामने आया है। इस संग्रह की पहली और अन्तिम कविता के स्वर में एक विचित्र समानता है किन्तु वह आकस्मिक प्रतीत नहीं होती। ऐसा लगता है जैसे ये सारी रचनाएँ एक विशिष्ट मनःस्थिति में लिखी गई हैं जब कवि के आगे गहन अनुभूति और नये अभिप्राय को सशक्त रूप में व्यक्त करने की समस्या सर्वप्रमुख रही है। यह समस्या दोहरी है। न केवल ज्ञात अर्थों के लिए शब्दों का अभाव है, असमर्थता है, वरन् उन अर्थों को जानने की भी आकांक्षा है जो शब्दातीत हैं।

आज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूँगा।
....
गति जहाँ सब कुछ है, तुम धृति पारमिता
जीवन के सहज छन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हें पहचानता हूँ
माँगो तुम चाहे जो : माँगोगे, दूँगा
तुम दोगे जो सहूँगा।[1]
है, अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया।
. . . .

उस विशाल में मुझसे
बहा नहीं गया।
इसलिए जो और रहा, वह
कहा नहीं गया।
शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं।[2]

अभिव्यक्ति और आकलन की यह दोहरी समस्या इतनी गहन है कि इसका दर्द कवि को असह्य है। अभिव्यंजना की कठिनाई पुरानी वस्तु है; किन्तु उसमें एक वेदना निहित है यह आधुनिक युग के नये कवि ने अनुभव किया है। यह वेदना छायावाद-युग की रहस्यात्मक विरह-वेदना से सर्वथा भिन्न और गम्भीरतर है।

पूर्वोक्त चिन्तन-प्रधान कविताओं में अतिशय यान्त्रिकता के बोझ से विकृत होते हुए जीवन के प्रति संवेदना, मृत्यु को अन्तिम विराम-चिह्न मानते हुए 'सिहर झरने' का सन्देश तथा व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता को रक्षित रखते हुए भी जन-जीवन की धारा में उसे समर्पित कर देने और उसीमें उसकी चरम सार्थकता मानने की भावना प्रमुख है जन-जीवन और व्यक्ति के बीच एक सन्तुलन खोजने की समस्या इस युग की सबसे बड़ी समस्या है। आज का कोई भी प्रबुद्ध कलाकार इससे बचकर नहीं रह सकता। 'बावरा अहेरी' की कई रचनाओं में इसका संकेत है किन्तु इससे पूर्व 'हरी घास पर क्षण भर' में भी यह समस्या कवि के सामने रही है। उदाहरणार्थ 'नदी के द्वीप', 'कवि, क्या हुआ फिर', 'सपने मैंने भी देखे हैं' तथा 'कितनी शान्ति! कितनी शान्ति!'-जैसी कविताओं के नाम लिये जा सकते हैं। इनकी कुछ पंक्तियाँ तो इस प्रश्न को अत्यन्त स्पष्ट रूप में सामने रखती हैं। जैसे :

अपने से बाहर आने को छोड़ नहीं आवास दूसरा[3]
अथवा
नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को देने स्वयं का दान
विश्व-जन की अर्चना में नहीं बाधक था कभी इस व्यक्ति का अभिमान[4]

किन्तु जिस रूप में इसको यहाँ प्रत्यक्ष किया गया है उसमें कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व आबद्ध होता नहीं लगता। ज्ञात होता है जैसे प्रत्यक्षकर्ता प्रश्न के तट पर खड़ा है उसकी प्रखरता की धार में डूबा-उतराया नहीं है। 'बावरा अहेरी'में की कतिपय कविताओं में जिस रूप में यह प्रश्न

१. संग्रह की प्रथम कविता से।
२. संग्रह की अन्तिम कविता से।
३. सपने मैंने भी देखे हैं, से।
४. कितनी शान्ति! कितनी शान्ति! से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उभरकर आया है उससे प्रतीत होता है जैसे वह कवि के अस्तित्व में समाहित होकर उसका एक अंश बन गया है। व्यक्तिगत स्नेह-अहंकार को वह अब तक जीवन का सबसे बड़ा मूल्य मानता हुआ उसकी वास्तविक महत्ता को खोज रहा था; जो उसे मात्र आत्मस्थ होने पर नहीं उपलब्ध हो सकी थी। 'यह दीप अकेला' शीर्षक कविता, जिसे मैं इस संग्रह की श्रेष्ठतम कविताओं में से एक मानता हूँ, ऐसी मनःस्थिति में लिखी गई है जब उसने एक मूल्य से ऊपर उठकर—त्यागकर नहीं—दूसरे मूल्य को स्वीकार कर लिया है। व्यक्ति के स्नेह-अहंकार की सार्थकता उसने पंक्ति (सुशृङ्खलित समाज) के आगे अर्पित हो जाने में मान ली है :

यह दीप अकेला स्नेह-भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

तथाकथित जनवादियों ने इस भावना को पग-पग पर व्यक्त किया है—पर नारे के रूप में, बिना गहन आत्म-मंथन के, बिना आन्तरिक उपलब्धि के; फलतः बार-बार दोहराई जाकर भी वह अब तक निष्प्राण ही रही। शोषकों की सैद्धान्तिक रूप से भर्त्सना करने वालों की एक भी कविता ऐसी नहीं मिलती जिसमें शोषकों के प्रति इतना तीखा व्यंग्य आ सका हो जितना इस संग्रह की 'शोषक भैया' कविता में। इन कविताओं के आधार पर यदि यह कहा जाय कि ये उच्चतर मानसिक धरातल को व्यक्त करती हैं तो सही ही होगा। 'दीप' के इस प्रतीक को 'द्वीप' (नदी के द्वीप) के प्रतीक से मिलाकर देखने पर भी यही परिणाम निकलता है, क्योंकि इसे उसकी तरह 'यदि' और 'तो' की बैसाखियों पर टिकाने का प्रयास नहीं किया गया है। 'बावरा अहेरी' में एक और कविता है 'प्रथम किरण', जिसका उल्लेख पहले भिन्न प्रसंग में हो चुका है, उसमें भी, 'अपने छोटे छन' की 'गरिमा महिमा' वनपाखी के माध्यम से पृथक् आकलित करते हुए 'जन-जीवन' के आगे प्रणत होकर अपनी मानसिक, शारीरिक सभी साधना सहज भाव से अर्पित की गई है। यह स्वर प्रयोगशील कविता पर लगाये गए संकीर्ण व्यक्तिवादिता के आरोप को भ्रामक सिद्ध करता है! जो लोग जन-जीवन की उपासना व्यक्ति की बलि देकर करना चाहते हैं उनका पथ दूसरा है; वे रक्त-क्रान्ति में विश्वास करते हैं, किन्तु जो आत्म-प्रेरणा से जन-जीवन के आगे अर्पित होने को श्रेयस्कर समझते हैं, उनका भी अपना एक मार्ग है।

दूसरे वर्ग में उनकी वे कविताएँ आती हैं जिनमें उनका कलाकार उभरकर सामने आया है। 'हवाई यात्रा' तथा 'बावरा अहेरी'-जैसी कविताएँ इस बात को व्यक्त करती हैं कि 'अज्ञेय' की कल्पना सावयव प्रतीकों (symbols) और प्रतिभाओं (images) के निर्माण में विशेष सक्षम है। यह उसी कवि में सम्भव है जिसका रूप-बोध परिष्कृत हो और तन्त्र-कौशल भी विशिष्ट हो। उत्तर छायावादी युग के कवियों में, यह गुण उनमें सर्वाधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। उनकी ऐसी कविताओं में प्रायः एक आन्तरिक ढाँचा (structure) होता है जो काव्यानुभूति में निहित रूप (form) का ही अंग होता है और क्योंकि कविताओं की उत्कृष्टता में वे उदात्तीकरण अथवा घनत्व (sublimation or intensification) की अपेक्षा इस तत्त्व पर विशेष बल देते हैं इसीलिए उन्हें रूपवादी या 'फार्मलिस्ट' कहा जाता है। मैं इसे अनुचित नहीं मानता। उनकी इस प्रकार की रचनाओं का गहन विश्लेषण होना चाहिए; जो यहाँ सम्भव नहीं है। यों यदि हर्बर्ट रीड का आधार लेकर कहा जाय तो उनकी कविताओं में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकतर 'organic form' ही रहता है।[1]

तीसरे वर्ग में 'घास फूल धैर्य का', 'ऊगा तारा', 'तारा दर्शन', 'सन्ध्या तारा', 'खद्योत-दर्शन', 'शरद की साँझ के पंछी' और 'वसन्त की बदली'-जैसी कई कविताएँ आती हैं जिनमें प्रकृति की लघु-लघु, उपेक्षित एवं नगण्य वस्तुओं से आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हुए प्रकृति की विशालता में आत्म-विलय, जिसे दूसरे रूप में आत्मोपलब्धि भी कहा जा सकता है, की भावना प्रधान है। 'हरी घास पर क्षण भर' में कवि अपने इस 'प्रकृतिवाद' को उपेक्षा भाव से देखने वाली दृष्टि के प्रति व्यंग्यशील दिखाई देता है :

प्रकृतिवाद है स्खलन
क्योंकि युग जनवादी है

उस संग्रह में भी 'कलगी बाजरे की' और 'मैले उपमान' आदि कई ऐसी कविताएँ हैं जो प्रकृति की बाँहों में खोये हुए कवि के हृदय से निकली हैं। प्रकृति के प्रति कवि का सख्य-भाव रहा है। 'बन्धु हैं नदियाँ' में उसने स्पष्टतः कहा है 'प्रकृति भी बन्धु है'। मानवीय जीवन को देखते समय सहज भाव से नैसर्गिक रमणीयता के प्रतीकों को लेना अज्ञेय के कवि-व्यक्तित्व की एक प्रमुख विशेषता है। 'बावरा अहेरी' की उक्त रचनाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि कवि प्रकृतिवाद को अपनाते हुए भी उसके कारण अब जनवाद के प्रति व्यंग्य नहीं करता वरन यहाँ भी उसने एक समन्वय और सन्तुलन की स्थिति पाने का प्रयत्न किया है। इस स्थल पर मैं फिर 'प्रथम किरण' शीर्षक कविता का उल्लेख करूँगा : क्योंकि उसमें अज्ञेय की व्यक्तिवादी, प्रकृतिवादी तथा नवविकसित जनवादी, तीनों प्रकार की चेतना का संगम मिलता है। इससे भी मेरी यह स्थापना प्रमाणित होती है कि 'बावरा अहेरी' भावना की दृष्टि से कवि के विकसित मानस की रचना है और कला के प्रश्न को भी इससे नितान्त असम्बद्ध नहीं माना जा सकता।

प्रकृति की क्रोड़ में विमुग्ध होकर लिखी हुई इन रचनाओं के साथ ही 'वह नाम' और 'वहाँ रात'-जैसी कविताएँ भी मिलती हैं जो व्यक्तिगत स्नेह भाव से अनुप्रेरित होकर लिखी गई हैं। रागात्मकता का स्तर दोनों प्रकार की कविताओं में प्रायः समान ही है जिससे सिद्ध होता है कि कवि को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में संतरण करते हुए किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती। लगता है जैसे उसका व्यक्तित्व दोनों क्षेत्रों के बीच सम्बन्ध-सेतु हो। जो लोग आज भी अज्ञेय को कवि मानने से इन्कार करते हैं उनको भी, मैं सोचता हूँ, इन कविताओं का भाव-तारल्य असम्पृक्त न छोड़ेगा।

अज्ञेय ने मौज में आकर कुछ हल्की Ticklish कविताएँ भी लिखी हैं जो उनके कवि-व्यक्तित्व के गौरव को तो नहीं बढ़ातीं पर उनकी अहेरी मनोवृत्ति को अवश्य व्यक्त करती हैं। 'काँगड़े की छोरियाँ' इसी कोटि में आती है। कुछ इसी तरह की मनोवृत्ति से देव कवि ने

---

१. हर्बर्ट रीड ने कविता के रूप (form) का विश्लेषण करते हुए उसके दो विभाजन किये हैं। एक organic और दूसरा abstract. पहले का लक्षण इस प्रकार है—'When a work of art has its own inherent laws, originating with its very invention and fusing in one vital unity both structure and content, then the resulting form may be described as organic. Page 19, Collected Essays in Literary Criticism.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जातिविलास' लिख डाला। जो भी हो ऐसी कविताओं के जीवन्त सौन्दर्य से इन्कार नहीं किया जा सकता।

कुछ स्थल इस संग्रह में ऐसे भी हैं जहाँ अर्थ की संगति नहीं बैठती। इस सम्बन्ध में एक ही उदाहरण पर्याप्त है। 'तडित् दर्शन' नामक कविता को हर तरह से समझ-बूझकर अगणित बार पढ़ने पर भी मैं यह नहीं समझ पाया कि इसका यह शीर्षक क्यों है? सारी बात आकाश में दूरस्थ तारों के सम्बन्ध में कही गई है। 'खद्योत दर्शन' और 'उषा दर्शन' में, जो इसी टाइप की कविताएँ हैं, शीर्षक और वस्तु की ऐसी असंगति नहीं मिलती। कवि ने जान-बूझकर असंगति से कोई अर्थ उत्पन्न करना चाहा हो ऐसा मुझे नहीं लगता।

'रात बीती' प्रमुख रूप से सॉनेट-संग्रह है। कवि ने अपने वक्तव्य में सॉनेट-रचना-सम्बन्धी जो अनुभव और मान्यताएँ व्यक्त की हैं वे विचारणीय हैं; क्योंकि काव्य-रूप के प्रति सजगता आज के जागरूक कवि की एक विशेषता है। कथन का नयापन और मनःस्थिति का भिन्न धरातल पुराने जड़ीभूत, एकरस काव्यरूप को सह नहीं पा रहा है इसका प्रमाण इस संग्रह की कविताओं में मिलता है। कवि अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम को पूर्व-निश्चित नहीं मानता; वह अधिकाधिक स्वतन्त्र होकर उसे ग्रहण करना चाहता है—निश्चय ही यह स्वतन्त्रता उछृङ्खलता नहीं है—इसीलिए उसे सॉनेट के लिए 'चौदह लाइनों का बन्धन' और तुक-विधान अमान्य है। यह बात कवि की सामर्थ्य को घोषित करती है कि वह इन बाह्याकारों की सीमाओं को त्यागकर भी अपने अभिप्राय को स्पष्ट, संयत और सन्तुलित रूप में व्यक्त करने में बहुधा सफल हुआ है और कुछ उक्तियों में विशेष शक्ति-संचार कर सका है। इस दृष्टि से 'भाड़ा गाड़ी' 'सर्प', 'बादल से', 'मुग्धा का स्वप्न-भंग', 'रात बीती'-जैसे सॉनेटों का नाम लिया जा सकता है। नये युग के कवियों ने जिन विदेशी काव्य-रूपों को अपनाया है उनमें सॉनेट प्रमुख है। हिन्दी में माचवे, त्रिलोचन आदि कई कवियों ने सॉनेट लिखे हैं। हिन्दीतर भाषाओं में गुजराती कवियों ने कदाचित् इसका सर्वाधिक प्रयोग किया है। बलवन्तराव ठाकुर तो अपने सॉनेटों और उर्मि-गीतों के लिए ही विशेष रूप से विख्यात हैं। परन्तु जहाँ तक 'रात बीती' के कवि का सम्बन्ध है उसका सम्बन्ध कवित्त-सवैया की पुरानी परम्परा से भी रह चुका है जिसमें सारे छन्द का निर्माण प्रायः किसी एक उक्ति को आधार-रेखा मानकर होता है। पहले तीन चरण अन्तिम चरण की नींव पर किन्तु उसे ऊपर उठाने के लिए रचे जाते हैं। सी० बी० राव के इन सॉनेटों की रचना-प्रक्रिया का यही पैटर्न है। कवि के ही शब्दों में :

"कहने की बात एक हो, उस बात को उठाकर बीच में उसका स्पष्टीकरण किया जाय और अन्त में एक चमकती, चुभती-सी बात से उसका निर्वहण कर दिया जाय।"

उसकी इस रचना-विधान की सीमाओं का संकेत प्रारम्भ में किया जा चुका है। कविता तटस्थ भाव से किया हुआ किसी 'बात का निर्वहण'-मात्र नहीं है, वह कवि के सम्पूर्ण भावमय कलाकार व्यक्तित्व का घनीभूत, निविड़ किन्तु सहज संकुलन-आकलन है।

'रात बीती' का कवि गीतकार भी है। यही नहीं हिन्दी में 'गीत' के दुरुपयोग के प्रति वह चिन्तित और खिन्न है। अपने संग्रह में उसने रखे तो कई गीत हैं परन्तु इस संज्ञा का ताज केवल एक ही रचना के शीश पर रखा है। इसकी पहली पंक्ति है 'गीत यदि गा दे।' गीति-तत्त्व के अतिरिक्त यदि 'गीत' शब्द आ जाना इसकी श्रेष्ठता का कारण न हो तो कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है कि 'दीपक मन्द न हो' शीर्षक रचना श्रेष्ठतर गीत है और इस संग्रह में वह 'गीत' के गौरवमय पद की अधिक उपयुक्त अधिकारिणी है।

सी० बी० राव की कुछ कविताओं में यत्र-तत्र जीवन के अन्तर्संघर्ष को निर्भीक होकर ग्रहण करने का प्रयत्न परिलक्षित होता है। सत्य की नग्नता तथा कटुता के आगे कवि पराजित नहीं हुआ है वरन् उसने उन्हें आत्मसात् करके एक मानसिक दृढ़ता प्राप्त की है। रहस्यवादियों की तरह साधना को ही उसने जीवन का साधन स्वीकार किया है :

> आमरण
> अनिवार्य जीवन;
> साधना स्वयमेव साधन।

'सर्प' और 'परिवर्तन' शीर्षक रचनाओं में उसने इस 'साधना' से मिलते-जुलते शब्द 'भक्ति' को केन्द्र में रखकर अपनी बात कहनी चाही है। कवि भक्ति को 'निष्कलुष-अचंचल' मानते हुए 'बदले ऋतु के साथ गगन भी' का सन्देश देता है। इस तरह के सारे कथन एक छायावादी भावुकतापूर्ण शैली की याद दिलाते हैं। कवि ने साहसपूर्वक स्वीकार कर लिया है कि 'इस संग्रह की कुछ कविताओं में छायावाद की झलक है; विशेषतः पुरानी रचनाओं में। मैं अपनी रचनाओं को छायावाद के प्रभाव से बचाने का प्रयत्न नहीं करता और न करना चाहता हूँ।' इस स्पष्ट स्वीकृति के साथ छायावाद के सम्बन्ध में जो धारणाएँ व्यक्त की गई हैं वे बहुत-कुछ सही प्रतीत होती हैं।

'धरती और स्वर्ग' की भी कतिपय कविताओं में कुछ तत्त्व ऐसा है जो उन्हें इस समय के काव्य में व्यक्त होने वाली प्रमुख भाव-धारा से अलग कर देता है। कवि ने उसे 'अध्यात्मवाद से अछूती 'रोमांटिसिज्म' की गन्ध कहा है। यह उसकी स्पष्टवादिता है किन्तु इससे पूर्व उसने अनुमान से ही सही, एक स्थापना की है कि 'यूरोप तथा इस देश में भी नया काव्य शीघ्र ही रोमांटिक प्रतिक्रिया को जन्म देगा। लोक-गीतों की बढ़ती हुई चर्चा इसका संकेत है।' कथन के दोनों सिरों को मिलाने पर यह निष्कर्ष आसानी से निकल आता है कि कवि अपने को आगामी 'रोमांटिक प्रतिक्रिया' के अग्रणी रूप में रखना चाहता है। अँगरेज़ी कविता में 'थर्टीज' के कवियों के उद्भव के साथ लुई मैकनीस-जैसे कुछ कवियों की कविताओं में 'नियोरोमांटिक' भावना का उदय हुआ अवश्य था, परन्तु हिन्दी में यह प्रतिक्रिया किस रूप में घटित होगी यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि अभी तो वर्तमान आन्दोलन की क्रिया ही चल रही है। फिर डॉ० देवराज की कविताओं में जो रोमांटिक भावना मिलती है उस पर मध्यकालीन प्रेम-भावना की स्पष्ट छाया है जिसका संकेत प्रारम्भ में किया जा चुका है :

> दूर खड़े मुस्करा रहे हैं वह,
> बिजलियाँ फिर गिरा रहे हैं वह;
> मैं शपथ ले चुका न जाने की,
> पास फिर क्यों बुला रहे हैं वह?

कुछ कविताओं में आधुनिक प्रेम-भावना भी मिलती है। जैसे : 'मैं समझता था....।' इस तरह की कविताएँ अपेक्षाकृत सुन्दर और कवि के अनुभूति-पक्ष को अधिक संवेद्य रूप में व्यक्त करती हैं। रोमांटिक भावों के अतिरिक्त कवि का आकर्षण वात्सल्य की ओर भी है। खड़ी बोली के कम ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि इससे उन्मुख हुए हैं। 'शशि' 'बधाई', तथा 'मा समीप लेटी है आकर' इत्यादि कविताओं में शिशु-प्रेम का वर्णन किया गया है। किन्तु कहीं-कहीं कवि के पास शिशु-सौन्दर्य के चित्रण में उपयुक्त शब्दों का अभाव बुरी तरह खटकता है—

उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों को लिया जा सकता है :

विकसित प्रसन्न शुचि गंडफलक,
कुछ खुले सरस वे रदनच्छद;

संस्कृत-शैली के समासगर्भित पदों के प्रति कवि का इतना मोह न जाने क्यों है। सीधी सरस शब्दावली के बीच अचानक वह एक शब्द ऐसा रख देता है जिससे सारे भाव-प्रवाह को ठेस पहुँचती है :

खिले खोये कौन-सी नभ-दीर्घिका में पा सकी तुम ?

यह प्रवृत्ति बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि और भी कई हिन्दी-कवियों में मिलती है। इससे कहीं भी यह सूचित नहीं होता कि कवि भाषा में नई अभिव्यंजना-शक्ति लाने की चेष्टा कर रहा है। आज कविता की भाषा एक दूसरे ही रूप में भाव-शक्ति अर्जित कर रही है जिसके समक्ष यह सब अजीब-सा लगता है। साँस को 'वक्ष की अभिमुख पवन' कहना अब वह काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न नहीं करता जो नये कवि का इष्ट है।

'धरती और स्वर्ग' के कवि का झुकाव जीवन की वर्तमान परिस्थितियों को काव्यानुबद्ध करने की ओर भी है। इस संग्रह की बहुत-सी कविताएँ आधुनिक युग की समस्याओं को लेकर लिखी गई हैं। डॉ० देवराज हिन्दी के एक चिन्तनशील समालोचक हैं, दर्शन-शास्त्र के मनस्वी अध्येता एवं अध्यापक हैं तथा उपन्यासकार होने के नाते जीवन को अनेक पहलुओं से गहराई के साथ देखने की शक्ति भी उनमें है। ऐसी दशा में उनसे सहज ही आशा की जा सकती है कि वे समस्यामूलक कविताओं में अधिक गहरे जा सकेंगे; परन्तु 'क्लर्क', 'इतिहास का निर्माण अभी बाक़ी है', 'कविवर ! क्या गाते हो ?'-जैसी कविताओं को देखने से लगता है जैसे कवि ने यथार्थ का स्पर्श तो किया है लेकिन उसे वह यथोचित रूप से गम्भीर एवं संवेद्य नहीं बना सका है। कविवर को व्यंग्यात्मक ढंग से सम्बोधित करके डॉ० देवराज ने 'भारतीय जन की मूक व्यथा, कष्ट-कथा' का चित्रण प्रगतिवादी दृष्टिकोण से किया है। इसके साथ उनकी 'अध्यात्मवाद से अछूती' रोमाण्टिक भावना की संगति कहाँ तक बैठती है यह सोचने की बात है। 'अख़बार' शीर्षक कविता में संसार की व्यापक गति-विधि से व्यक्ति का आज कितना घना सम्बन्ध हो गया इसका सफल निर्देश है। इसी तरह 'ये बच्चे' और 'जन्म-दिन' शीर्षक कविताओं में वर्तमान पूँजीवादी सभ्यता के अभिशाप से उत्पन्न आर्थिक वैषम्य का स्पष्ट अंकन है। 'एक्ट्रेस' और 'सोसायटी गर्ल' में आधुनिक युग की नारी के दो रूप चित्रित किये गए हैं। जो उसकी बाह्य सज्जा के भीतर घटित होने वाले आत्मविघटन को व्यक्त करते हैं। इन सभी कविताओं में कवि का भावात्मक धरातल काफ़ी ऊँचा दिखाई देता है पर जब हम उसकी 'नाश और निर्माण'-शीर्षक एक विशाल कैनवस को लेकर लिखी रचना की परिसमाप्ति 'आर्यवीर' के अभियान-सन्देश से होती देखते हैं तो सर्वथा भिन्न प्रकार का प्रभाव उत्पन्न होता है। क्योंकि इस रचना का निर्माण-काल वही है जो 'अख़बार' का। मानवीय सहानुभूति के क्षेत्र की यह अनस्थिर सीमाएँ संग्रह के सामूहिक प्रभाव को कम कर देती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० देवराज के इस संग्रह में कई कविताएँ अनूदित हैं। 'लाउत्से का दर्शन' शीर्षक कविता काफी रोचक और प्रवाहयुक्त है। 'जेबुन्निसा' पर लिखी गई कविता का अन्तिम अंश उसके सुप्रसिद्ध फ़ारसी शेर का अनुवाद है। शेर इस प्रकार है :

बर मज़ारे मा ग़रीबाँ ना चिरागे नै गुले।
ना परे परवाना सोज़द ना सदाये बुलबुले।

कवि ने इसका अनुवाद निम्नलिखित रूप में किया है :

दुखिया की रे समाधि पै चिराग़ न हो,
बिखरे न कहीं फूल हों, पराग न हो।
पर अपने जलाये न वहाँ कोई शलभ
बुलबुल के गले में भी करुण राग न हो!

इसकी प्रथम पंक्ति में 'रे' और अन्तिम में 'गले में' मूल की दृष्टि से अनावश्यक हैं और अनुवाद को शिथिल भी बनाते हैं। इसी तरह कवि के द्वारा प्रयुक्त 'लौं' और 'पै'-जैसे विभक्ति-रूप 'प्रिय प्रवास' की भाषा का स्मरण दिलाते हैं। वस्तुतः इस संग्रह में कवि की काफी समय पूर्व लिखी हुई कविताएँ भी संग्रहीत हैं और नई भी। यदि दोनों को पृथक्-पृथक् रखा गया होता तो अधिक उपयुक्त होता; यों रचना-काल का निर्देश है जिससे विकास की गति का अनुमान होता है।

इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह निर्णय करना कठिन नहीं है कि किस कृति में भाव-शक्ति और कलात्मक प्रौढ़ता है और किस संग्रह में ऐसी कृतियाँ किस अनुपात में हैं। किन्तु यह निर्णय मैं पाठकों पर ही छोड़ना उचित समझता हूँ।[1]

गंगाप्रसाद मिश्र

'अंचल' के नये गीत

'वर्षान्त के बादल' हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की नई कविताओं का संग्रह है। अंचल की कविताएँ अपनी रूमानी रंगीनियों, मांसल चित्रणों और प्रौढ़ शब्द-चयन के लिए प्रसिद्ध हैं। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस क्षेत्र में अंचल ने अपना एक स्थान निर्धारित कर लिया है। रूप की अनुभूति और उसकी अभिव्यञ्जना साहित्य के सभी माध्यमों के सबसे प्रिय विषय रहे हैं। हिन्दी के कवियों ने भी अपने कृतित्व के बहुत बड़े भाग में सौन्दर्य के चरणों पर ही अर्घ्य दिया है। इस कारण इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान पाना साधारण बात नहीं है। अंचलजी की कविताओं को इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है, यह श्रेयस्कर है।

१. 'बावरा अहेरी'—अज्ञेय, प्र० सरस्वती प्रेस, प्रयाग।
'रात बीती'—बालकृष्ण राव, प्र० इण्डियन प्रेस, प्रयाग।
'धरती और स्वर्ग'—डॉ० देवराज, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर पिछले कतिपय वर्षों में कविता बहुत आगे बढ़ गई है। अणु-बम के इस युग में कवि का दृष्टिकोण भी आमूल परिवर्तित हो गया है। पाठक भी अब पुराने उपमानों को सुनते-सुनते उकता गया है, चन्द्र-मुख और कमल-नयन अब उसके मन के सम्मुख कोई चित्र उपस्थित नहीं कर पाते। कविता में नये प्रयोगों की धूम है और जो कि रूढ़िवादी-आलोचना की चिन्ता किये बिना काव्य-क्षेत्र को नये प्रयोग दे रहे हैं उनका भविष्य उज्ज्वल समझा जा रहा है। यदि हम अंचलजी की कविताओं को इस दृष्टि से देखें तो हमें निराशा होगी, परन्तु अंचलजी से इस प्रकार की आशा करना उनके साथ अन्याय भी होगा। कुछ समय पहले जब प्रगतिवाद का दौर दौरा था अंचलजी ने कुछ शक्तिशाली प्रगतिशील कविताएँ हिन्दी को दी थीं, परन्तु कुछ समय बाद ही वे अपनी रोमाण्टिक कविताओं की ओर लौट गए। इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि रोमाण्टिक कविताएँ ही कवि की परिस्थिति और प्रकृति दोनों के ही लिए अधिक अनुकूल हैं। 'वर्षान्त के बादल' में भी इसी प्रकार की कविताएँ हैं। अपनी जिन विशेषताओं के कारण ये कविताएँ प्रसिद्धि पाती रही हैं उन्हींके अनुसार इनका मूल्याङ्कन करना उचित होगा जो इनमें है ही नहीं है, अथवा कवि का अभिप्रेत नहीं है उसके अभाव पर इनकी आलोचना करना और कवि से गिला-शिकवा करना अनुचित होगा—ऐसा मेरा विचार है।

'वर्षान्त के बादल' में अंचलजी की अनेक प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी कविताएँ हैं। 'वर्षान्त के बादल' सम्भवतः इस प्रकार की कविताओं में सर्वश्रेष्ठ है :

जा रहे वर्षान्त के बादल
हैं बिछुड़ते वर्ष-भर को नील जलनिधि से
स्निग्ध कज्जलिनी निशा की ऊर्म्मियों से
स्नेह गीतों की कड़ी-सी राग-रंजित ऊर्म्मियों से
गगन की शृङ्गार सज्जित अप्सराओं से
जा रहे वर्षान्त के बादल
किस महावन को चले
अब न रुकते अब न रुकते ये गगनचारी
नींद आँखों में बसी गति में शिथिलता
किस गुफा में लीन होंगे
सान्ध्य-विहगों-से थके डैने लिए भारी
साथ इनके जा रहा
अगणित विरहिणी-विरहियों का दाह
दे रही अनिमेष नयनों से हरित वसुधा विदाई
किस सुदूर निभृत कुटी में पूजिता सुधि की इन्हें फिर याद आई
भर गई आ रिक्त कानों में
किस कमल वन में अनिद्रित शारदीया की करुण चंचल रुलाई
जा रहे आलोक पथ से मन्दगति
वर्षान्त के बादल

वर्षान्त के बादलों का यह चित्रण पाठक के नेत्रों के सम्मुख रूप, रंग और गति का कैसा विशद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्र उपस्थित कर देता है।

आन्तरिक और बाह्य तूफान की रात का यह वर्णन कवि के विरहाकुल अन्तर का कैसा विशद परिचय देता है। सम्पूर्ण सृष्टि ही जैसे उसकी वेदना के स्वरों से स्वर मिला रही है :

सारी रात हवा गरजी है बादल बरसे सारी रात
सिसक रहा था जब सन्नाटा तारे तरसे सारी रात
फूट-फूटकर फैल-फैलकर वन-पथ रोये सारी रात
बिजली की तड़पन में मेरे प्राण न सोये सारी रात
× × ×
पीती रही हृदय जन-जन का भय की प्याली सारी रात
× × ×
झंझा से झुँझला-झुँझला अँधियारा बोला सारी रात
नभ से भू पर उतरा तम का उड़नखटोला सारी रात

प्रकृति के इस चित्र में वन-पथ का फूट-फूटकर फैल-फैलकर रोना, भय की प्याली का जन-जन के हृदय को पीते रहना, अँधियारे का तूफान से सारी रात झुँझला-झुँझलाकर बोलना और आकाश से सारी रात पृथ्वी पर अंधकार के उड़नखटोले का उतरते रहना उस भयावह दृश्य को मन में बहुत गहरे उतार देते हैं। दूसरी ओर शरद्-निशा का यह मनोरम वर्णन, जो विरही मन को तड़पा देता है, कैसा अद्भुत है :

भूल गई पथ जैसे रूठा दिन को इस जीवन की हरियाली,
मूक हुई रोमों की भाषा रिक्त हो गई सुख की प्याली।
तुम न मिलो तो कौन कुमुद-कुन्जों में मादक रूप सँवारे,
तुम न दिखो तो कौन चितवनों से खंजन की पाँत पुकारे।
कौन रचे मंजरियों से धानों की डाली।
किन केशों से गुँथने को फूले शेफाली।
किस रंजित यौवन के दर्पण में अपना मुँह देखें तारे।
चन्द्र मल्लिका किसके स्वागत में मोती की लड़ियाँ वारे।
मुझको लगता—
दूर कपूरी गिरि-शिखरों पर
तरल संगमर्मरी रूप के उन झरनों में,
तेरी छाया अकुलाती है—
शरद-निशा में तेरी बड़ी याद आती है।

शरद्-निशा के फूटे पड़ते हुए इस रूप में कवि का मन सर्वत्र अपनी प्रिया के रूप की झलक देखता है। उसे यह दृढ़ विश्वास है कि यदि उसकी प्रिया सम्मुख नहीं है तो प्रकृति का यह अनुपम सौन्दर्य क्रान्तिहीन हो जायगा, अपना आकर्षण खो देगा, अप्रतिभ हो जायगा। इसी प्रकार की कविताओं में 'वर्षा-गीत', 'आज बरसते बादल', 'काली शाम, 'शारदी सन्ध्या' इत्यादि बड़ी सफल हैं।

दूसरे प्रकार की कविताएँ वे हैं जिनमें कवि का लक्ष्य सौन्दर्य-निरूपण ही है। प्रकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कोमलतम और उज्ज्वलतम अवयवों के ताने-बाने से सँवरा हुआ यह अलौकिक कान्तिमय रू पाठकों को रूप-मन्दाकिनी में निमग्न कर देता है :

सोचा करता घूँघट में काकुल के घन घिरते होंगे
मुस्काती गुलमिनियों के जादू जिनमें तिरते होंगे
गुरुता के तारों में बँध तन की चंचलता नत होगी
अँगों बसी मुग्धता से आँखों में लाज अँजी होगी
जड़ित नमित चाँदी के कंपन-सी सिहरन टाँका न करो
अधरों की उत्सुकता पर सुमौन आँका न करो

सरस समृद्ध और प्रौढ़ भाषा में लिखी हुई ये कविताएँ पाठक के मन को अपने रंग रगने की पूरी सामर्थ्य रखती हैं। माधुर्य और प्राञ्जलता की छटा इनमें सर्वत्र दिखलाई दे है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह संग्रह पाठकों में अत्यन्त लोकप्रिय होगा।[1]

डॉ० देवराज उपाध्याय

हिन्दी-कहानियाँ : शिल्प और शैली

जब से विश्वविद्यालयों ने हिन्दी-साहित्य में अन्वेषण-कार्य को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया है तब से अनेक ग्रन्थ हमें उपलब्ध हुए हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि हमारे आलोचना-क्षेत्र की स्मृद्धि में उनका कोई विशेष अनुदान नहीं हो सका है। कुछ थीसिस तो "जीवितकवेराशयो न वक्तव्यः" वाले सिद्धान्त पर प्राचीन साहित्यिकों की जन्म-पत्रिकाओं के पढ़ते रहे, उनके जन्म और निवास-स्थान को खोजते रहे। जब इससे कुछ पिण्ड छूटा और आधु निक समकालीन साहित्य की ओर लोगों का ध्यान गया तो कुछ अन्वेषकों ने सुनी-सुनाई बातों को ही इधर-उधर उलट-पलटकर देने में ही अपने अभीष्ट की सिद्धि समझी, कुछ ने गलत और भ्रामक और कहीं-कहीं अनावश्यक पर ही सन्तोष किया। डॉक्टर लक्ष्मीनारायण लाल की प्रस्तुत आलोच्य थीसिस 'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास' इन त्रुटियों से अनेक अंशों में मुक्त है। विषय को उचित परस्पेक्टिव में रखने के लिए कुछ बातें चक्कर से कही गई हैं। उदा हरणार्थ, पूर्व-परिचय, उद्गम और विकास-सूत्र तथा कहानी-कला की समीक्षा वाले अध्याय। प्रथम में भारत के प्राचीन कथा-साहित्य की बात आ गई है, द्वितीय में रूसी, अमेरिकन, फ्रान्सीसी, अंग्रेजी, लोक-कहानी तथा बंगाली कहानियों की चर्चा आ गई है तथा तृतीय में कहानी-कला का सैद्धान्तिक विवेचन है। थीसिस के विषय का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दी-कहानी-साहित्य से है, जो १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हमारे यहाँ पनपने लगा है। वैदिक काल से लेकर १६वीं शताब्दी तक के भारतीय कथा-साहित्य से नहीं। यदि ऐसा होता तो प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य पर विस्तार से लिखना पड़ता; क्योंकि प्राचीनों ने कथा के क्षेत्र में पर्याप्त प्रयोग किये हैं और टेकनीक

1. 'वर्षान्त के बादल'—ले० अंचल, प्र० साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विकास किया है। यद्यपि लाल महोदय ने सानुपातिकता का ध्यान रक्खा है, फिर भी पुरानी सामग्री भी प्रचुर रूप से प्रस्तुत की है।

सच पूछिये तो यह उपलब्धि अधिक कृतज्ञ बनाने वाली है, क्योंकि यह मुफ्त में मिलती है। हम इस पुस्तक को पढ़ने के लिए खोलते हैं तो यह आशा बाँधकर नहीं चलते कि हमें यह ज्ञान भी इतने सहज ढंग से प्राप्त हो जायगा। लाल की पुस्तक ने अवान्तर भी जो कुछ बातें दी हैं उनका कम महत्त्व नहीं। हाँ, कहानी-कला की समीक्षा वाला अध्याय अन्त में न होकर पहले रखा जाता तो अधिक सुन्दर होता। कारण कि इसकी जानकारी को लेकर पाठक कहानीकारों की शिल्प-विधि में कही गई बातों के मर्म को समझने में अधिक सफल हो सकता है। शिल्प-विधि पर लिखने वाले से शिल्प की भूल कैसे बन पड़ी, समझ में नहीं आता।

पुस्तक का मुख्य अंश लेखक के गम्भीर परिश्रम, अध्यवसाय और अध्ययन का परिचायक है। लेखक ने कहानीकारों की कहानियों का विधिवत् अध्ययन किया है, और उनके विवेचन में, उनके वर्गीकरण में, उनके असली रूप को पहचानने में प्रतिभा का परिचय दिया है। हिन्दी-कहानियों के विकास का ऐसा ब्यौरेवार, क्रमिक और सांगोपांग विवेचन अभी तक देखने को नहीं मिला था। अब तक कहानियों के प्रारम्भिक विकास के लिए बस 'सरस्वती' और 'इन्दु' का आभार-मात्र स्वीकार कर लिया जाता था। पर एक-एक वर्ष को लेकर और उसमें कितना और किस तरह कहानियों का विकास हो सका है, इसके प्रदर्शन का काम इस पुस्तक के द्वारा हुआ है।

'इन्दु' के सम्बन्ध में लिखते हुए डॉ० लाल ने एक और स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय दिया है। 'इन्दु' के प्रारम्भिक लेखकों में स्व० पं० पारसनाथ त्रिपाठी की ओर आलोचकों का ध्यान नहीं गया है। वे स्व० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, स्व० पं० रामदहिन मिश्र तथा श्री शिवपूजन सहाय के मित्रों में से थे। श्री राजा राधिकारमण प्रसाद सिंहजी को साहित्य-क्षेत्र में उन्होंने ही दीक्षित किया था। पर आज तक किसी भी इतिहास या आलोचना के क्षेत्र में उनका नाम तक नहीं लिया गया है। डॉ० लाल का ध्यान इस ओर गया है और उन्होंने लिखा है कि "इन्होंने (स्व० त्रिपाठी जी) बंगला-कहानियों के अनुवादों से 'इन्दु' की किरणों को बार-बार सुशोभित किया।" आशा है अब आलोचकों का ध्यान इनके साहित्य की ओर जायगा। इतनी सी बात ही इस बात का प्रमाण है कि डॉ० लाल में शोधकर्ता की सच्ची स्पिरिट है।

इस पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है—कहानियों के विकास का प्रारम्भिक अंश तथा प्रेमचन्द और प्रसाद पर लिखे हुए अध्याय। 'सरस्वती' के प्रथम सात-आठ वर्षों में कहानियों ने सात तरह के प्रयोग किये तथा भावगत एवं शैलीगत क्या विशेषताएँ रहीं इस बात का उल्लेख है। प्रेमचन्द और प्रसाद की तुलना में भी काफी सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया गया है। जो दो कम-से-कम १० वर्ष तक यह पुस्तक विश्वविद्यालयों में हिन्दी के शिक्षकों की सहायता करती रहेगी।

प्रेमचन्द के बाद के लेखकों के बारे में पर्याप्त सामग्री का संकलन है, पर ऐसा मालूम पड़ता है उनकी गहरी पकड़ अभी आई नहीं है। यह स्वाभाविक भी है। कारण कि वे हमारे इतने समीप हैं कि ठीक से उन्हें देख पाने की तटस्थता सम्भव भी नहीं। 'अज्ञेय' की स्ववार्तालाप-शैली (Interior monologue) अबाधित चेतना-प्रवाह शैली, आत्मचरितात्मक शैली और उसके कारणों की और अधिक चर्चा होनी चाहिए थी। साथ में ऐसा भी लगता है कि शिल्प

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Technique) और वर्ण्य-वस्तु (Content) के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या पर स
प्रकारेण विचार नहीं किया गया है। इस प्रश्न को भी स्पर्श नहीं किया गया है कि क्या क
है कि आज टेकनीक की नवीनताएँ अधिक साहित्य के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होती हैं और आ
चक का ध्यान भी इसी ओर अधिक आकर्षित होता है।

हिन्दी की आलोचना को ही नहीं, इधर अर्द्धशताब्दी की यूरोपीय आलोचना की प्र
को देखा जाय तो आलोचकों की यही प्रवृत्ति रही है कि किसी भी रचना में यदि शिल्प-कौ
(Craftsmanship of execution) उच्च कोटि का मिल जाय तो उसे साहित्यिक मान
मिल जानी चाहिए, चाहे विवेच्य वस्तु कैसी हो। प्राचीन आलोचना विवेच्य वस्तु को प्रधा
देती थी, विवेचन के समय सर्वप्रथम उसका ध्यान यह रहता था कि वस्तु कैसी है, दिव्य या न

"का भाषा का संस्कृत, भाव चाहिए साँच।
काम जो आवे कामरी का ले करौं कमाँच।"

यह प्राचीन आलोचक का नारा था, आज है भाव चाहे जो हो, भाषा, मतलब शि
संस्कृत होना चाहिए। यह साहित्यिक अथवा आलोचनात्मक क्रान्ति क्योंकर हुई इस प्रश्न
कथा-शिल्प की व्याख्या करने वाली पुस्तक में विचार होना आवश्यक था।

आलोचना दो प्रकार की होती है—एक तो वह जो आलोच्य विषय के बारे में बहुत-
बातें कहने का उपक्रम करती है, उनका वर्गीकरण करती है, दूसरों से तुलना करती है। वह त
कथन-प्रधान होती है। पर दूसरे प्रकार की आलोचना तथ्य-कथन तो नहीं करती पर विचारों
उत्तेजित करती है, नये ढंग तथा दृष्टिकोण से विचार करने की प्रेरणा देती है। तथ्य तो कम ह
हैं पर उनको बड़े ही मौलिक ढंग से उपस्थित किया जाता है। इसमें पाण्डित्य और अध्य
की गुरुता नहीं रहती, पर मौलिकता की स्फूर्ति और सूझ-बूझ अवश्य रहती है। डॉ० लाल
यह आलोचना प्रथम श्रेणी में ही आयगी। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि यह रिसर्च की पुस्त
है और रिसर्च तथा समालोचना बहुत हद तक एक रहते भी दोनों में कुछ अन्तर रहता ही है
मेरे कथन का अभिप्राय केवल यही है कि यह अन्य अन्वेषण-सम्बन्धी पुस्तकों के ही ढंग पर लि
गई एक महत्त्वपूर्ण कृति है पर इसमें रचनात्मकता, सृजनात्मकता का अभाव कुछ खटकता अव
है। मन कहने लगता है कि क्यों नहीं इस पुस्तक में कुछ ऐसे अंश आ सके जो हमें रमा दे
ठहरा ले और स्फूर्ति से भर दे।

इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी-आलोचना की श्रीवृद्धि हुई है और उसका क्षेत्र समृद्ध हु
है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी में ऐसी खोजपूर्ण और गम्भीरता तथा अधिकारपूर्वक लि
पुस्तक आने में कुछ वर्ष लगेंगे। इस परिश्रम और पाण्डित्य का स्वागत है।[1]

---

१. 'हिन्दी कहानियों की शिलपविधि का विकास' : ले०—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल
प्र०—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीरेन्द्र कृष्ण माथुर

छोटी-बड़ी कहानियाँ

कहानियाँ कैसी होनी चाहिएँ—इस प्रश्न पर कम-से-कम दो बातों को लेकर मतभेद नहीं होना चाहिए। पहली बात यह कि कहानी पाठक की दिलचस्पी को उलझाये रखे और दूसरी बात यह कि कहानी में सत्य का पुट हो। कहानी-कला के दो छोर हो सकते हैं—एक तो यह कि कहानी अपने में दिलचस्प, हो उसकी सार्थकता उसीमें हो; दूसरा यह कि कहानी एक मनोवैज्ञानिक अथवा नैतिक सत्य पर प्रकाश डाले और सत्य की पुष्टि के लिए ही लिखी गई हो। हमारे सामने जो दो संग्रह हैं, उनमें से एक को ही कहानी-संग्रह माना जा सकता है, दूसरे संग्रह की रचनाएँ अपने ही ढंग की एक चीज हैं। राजेन्द्र यादव के संग्रह में बारह कहानियाँ हैं, जिनमें से कई कहानियाँ विविध पत्रिकाओं में छप चुकी हैं और जिनसे कहानीकार को नाम मिला है और पाठक भी मिले हैं। उनमें मनोवैज्ञानिक सत्य की यथार्थता है, और विषय-वस्तु पर लेखक की पकड़ है, विशेषतः टाईटिल कहानी 'खेल खिलौने' में। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर की पुस्तक की विषय-सूची का नाम है 'कहाँ क्या है ?' जिनमें कि ४३ शीर्षक हैं, जिनके बारे में यह आशा की जाती है कि यह लेख भी हैं, कहानी भी हैं, और इनमें हमें सूत्र-रूपेण कथन भी मिलेंगे। स्पष्ट है कि लेखक एक उद्देश्य से लिख रहा है और उसकी सारी कला उसके उद्देश्य के साथ सम्बन्धित है।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की पिछली पुस्तक का नाम बड़ा था, पर कहानी और लेख के सूत्र-रूपेण मिश्रण आकार में छोटे थे और साथ ही प्रभावोत्पादक थे। उनकी इस पुस्तक का नाम छोटा है, अधिकतर रचनाएँ आकार में बड़ी हैं—और प्रभावोत्पादकता? अपनी बात कहूँ तो मैं स्वयं इधर कई असफलताओं से गुजरा हूँ. मान लीजिये कि मैं इतना निराश हो जाता हूँ कि आत्म-हत्या की तैयारी कर बैठूँ, फिर 'जिन्दगी मुस्कराई' मेरे पास समीक्षा के लिए आ गई है, सोचता हूँ कि चलो मरने से पहले 'आलोचना' के लिए कुछ लिख जाऊँ। और मैंने पुस्तक के पन्ने पलटे, तीन लेख बिना छाँटे पढ़े—और बस मेरी राह मेरे सामने थी, साफ-सुथरी राह; क्योंकि 'यह पुस्तक जिन्दगी की मुस्कराहट का बीमा है' साथ ही 'बिगड़े वक्त का रक्षा-कवच और सदा जीवन को सरस बनाने वाली जीवन-संगिनी भी।' 'तीन लेख बिना छाँटे पढ़िये' वाले फार्मूले के पीछे भूमिका यह है—इस तरह के लेखों का संग्रह इन पन्नों में है, जिन्हें पढ़कर जाने कितने बच गए, जाने कितने बढ़ गए, जाने कितने चढ़ गए और जाने कितने सीख गए। आप आत्म-हत्या नहीं कर सकते, आप निराश नहीं हो सकते, आप चिन्तित नहीं हो सकते, आप असफल नहीं हो सकते। यह पुस्तक खुशी और उत्साह का तावीज ही है। हरेक लेख कहानी की तरह दिलचस्प है, हरेक लेख धर्म-पुस्तक की तरह जीवन-बोधक है। गुरु की तरह ज्ञान-गम्भीर, तो मित्र की तरह रसपूर्ण। दिल टूट गया हो या सूख गया हो, कोई बात, कोई राह सूझती न हो, किसी भी काम में मन न लग रहा हो, तीन लेख बिना छाँटे पढ़िये—आप की राह सामने होगी—साफ-सुथरी राह; यह पुस्तक जिन्दगी की मुस्कराहट का बीमा है! मैं तो चिकना घड़ा निकला, पर उन मित्रों से सलाह है जो कि आत्म-हत्या पर आ तुले हैं: कृपया घर से अठन्नी नहीं चार रुपये लेकर निकलें, और इस पुस्तक को एक मौक़ा तो दें!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार के साहित्य को हम 'डेल कार्नेगी वाद' कह सकते हैं। मनुष्य एक सामाजि प्राणी है, वह नागरिक है, अपने परिवार, पड़ोस, नगर तथा देश के प्रति उसके कुछ कर्त हैं—यह एक शुभ कार्य है कि उसे अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक किया जाय और अच्छी सल दवा की कड़वी घूँट है, जिसे मिसरी के साथ दिया जाय तो बात अधिक बनती है। इन ले में बात कहने का ढंग (कम-से-कम हिन्दी के लिए) नया है, और सफल भी। लेखक नैतिक अ व्यावहारिक मूल्यों का समर्थन करता है और व्यक्ति को सर्वप्रथम सामाजिक प्राणी मान चलता है। लेखक की टेकनीक है, एक सत्य को तीन-चार किस्से-कहानियों द्वारा समझाकर कहन दूसरे प्रश्नोत्तर शैली। लेखक और 'अज्ञात पाठक' की बातें, लेखक से सवाल पूछे जाते हैं वह उन्हें पुछवाता है। इस टेकनीक को लेखक ने एक सफल परिपक्वता पर पहुँचाया है। अ वर्षों की तपस्या के बाद हिन्दी-साहित्य को लेखक की यह देन है, अपनी पृष्ठभूमि को आँ हुए लेखक ने हमसे यह मनवाना चाहा है।

हर साहित्यिक के प्रारम्भिक संस्मरणों का अपना मूल्य होता है। उस लेखक के प्र हम एक आत्मीयता का भाव पाते हैं, दूसरे उसके जीवन से कुछ सीख सकते हैं। (शायद य सीख सकते हैं कि हर एक को अपना साहित्यिक जीवन स्वयं तराशना पड़ता है।) श्री प्रभा का प्रारम्भिक साहित्यिक जीवन दिलचस्प रहा है—पर इस विचार से कि पुस्तक के लेखक कांक्षी पाठक उनके जीवन-सत्य से लाभ उठाना न भूलें, उन्होंने स्थान-स्थान पर ऐसे सूत्र दि हैं, कि 'छपाओ मत, फाड़ो!' 'छपाने के लिए मत लिखो, लिखने के लिए लिखो', 'फाल चीज मत लिखो, वही लिखो जिसमें पूरा मन लगे, पूरा रस मिले, और पूरी डुबकी आ इत्यादि। लेखक इस बात को भूल नहीं पाता कि यह पुस्तक पाठकों के लाभ के लिए लिखी रही है। एक दृष्टिकोण से यह पुस्तक की सबसे बड़ी सफलता है तो दूसरी ओर यह इसकी स बड़ी कमजोरी भी है।

× × ×

तरुण कहानीकार राजेन्द्र यादव के प्रकाशक उनके बारे में लिखते हैं कि 'राजेन्द्र अप कहानियों में समाज की असंगतियों पर कसकर वार करता है। वह समाज के मानस में गह बैठने की अपूर्व सामर्थ्य रखता है। 'बाद में'···सघन अनुभूति-रंजित कहानियाँ···'तीव्र मन वेगों के गुम्फन' और प्रेमचन्द और शरत् की सम्मिलित प्रतिभा का युगानुरूप संस्करण' का जिक्र आता है।

राजेन्द्र यादव की कहानियाँ मैंने सबसे पहले 'प्रतीक' में पढ़ी थीं, उसके बाद अन्य पत्रि काओं में जो छपीं, उन्हें बड़ी उत्सुकता से पढ़ा। किसी अच्छे कहानीकार का संग्रह हाथ लग पर यह जानने की उत्कण्ठा होती है कि उसकी विभिन्न कहानियों में उसकी प्रतिभा कैसे प्रग है, दूसरे यह जानने की कि लेखक कुछ नये प्रयोग कर सका है, अथवा किसी माने हुए सत्य नये रूप में रख सका है, इस दृष्टि से मुझे इस संग्रह ने निराश ही किया। कहानी-संग्र अधिकतर से रेडियो के मिले-जुले गानों वाले प्रोग्राम-जैसे होते हैं—कुछ कहानियों में रस मिल तो कुछ उतनी अच्छी नहीं लगीं।

इस संग्रह की मुख्य कहानी है 'खेल खिलौने', जिसे मैं यूरोप के स्टीफन ज्वीग औ टामस मान की लम्बी कहानियों के साथ रखता हूँ। यह एक लड़की की कहानी है, जो कि आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़ना चाहती है, पर जिसे विवाह के लिए मजबूर किया जाता है, अन्त को वह आत्म-हत्या कर लेती है। जब कि यह कहानी सुनाई जा रही है, तब सुनने वालों के बीच छोटा पापा भी बैठा है और बराबर एक मूर्ति माँगने को मचलता रहता है और अन्त में मूर्ति को तोड़ डालता है। कहानी की बात इस प्रतीकात्मक ढंग से छाया की तरह साथ चलती रहती है। बच्चे की जिद को उसकी माँ रख लेती हैं और दूसरों के मना करने पर कहती हैं, "हाँ-हाँ नहीं तोड़ेगा, हम दे देंगे पैसे, दूसरी ले आना", और बच्चे को समझाया जाता है कि "हाँ भैया, तोड़ियो नहीं।" सामाजिक परम्पराओं के संरक्षकों पर जो कि स्त्रियों का स्थान पुरुष से निचला रखना चाहते हैं, यह एक कड़ा व्यंग है।

अन्य कहानियाँ विभिन्न रसों की हैं। 'अंगारों का खेल' टाईटिल कहानी के निकट आती है और उसमें पत्र-शैली का सफल निर्वाह हुआ है। 'वे नरभक्षी' एक फैंटेसी है; कुछ कहानियाँ व्यंगात्मक हैं, जैसे 'मेरा तन मन तुम्हारा है' और 'यथार्थवादी कहानी लेखक'। 'खानदानी घर' एडगर एलन पो की याद दिलाती है। कुछ कहानियों के बारे में कहा जा सकता है कि एक प्रचलित टेक्नीक और विषय-वस्तु को लेकर लेखक ने केवल एक दिलचस्प और पटनीय कहानी लिख दी। मुझे स्वयं इस संग्रह की सबसे मार्मिक कहानी 'आजकल के लड़के' लगी।

इन पुस्तकों के प्रकाशक से एक निवेदन है कि यह जो हर कहानी के अन्त में ब्लाक्स लगाये गए हैं, ये पुस्तकों की सुन्दरता को बिगाड़ते ही हैं। 'जिन्दगी मुस्कराई' में यह बात अधिक खटकती है। कवर के ब्लर्ब्स भी कुछ ध्यान से लिखें तो अच्छा है।[१]

मोहन राकेश

दो कहानी-संग्रह

एक-एक करके पन्ने पलटते जाते हैं और जीवन के भिन्न-भिन्न चित्र सामने से निकलते जाते हैं। हर रोज तरह-तरह की कहानियाँ आँखों से गुजरती हैं। पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं और पाण्डु-लिपियों में बिखरी हुई कहानियाँ—नन्ही मासूम आँखों और नुकीले दाँतों की, चिप-चिपाये हथों और रेशम में फड़कती हुई छातियों की, शक्ति, संघर्ष, उन्माद, विवशता और प्रवंचना की, संयमित आवेश और अनिरुद्ध पालगपन की हजार दास्तानें!

फिर भी बहुत थोड़ी कहानियाँ ऐसी होती हैं जो याद रह जाती हैं और जिन्हें दूसरे को सुनाने को मन होता है, सुनाने से पहले दूसरे की निश्चित प्रतिक्रिया का पता रहता है और सुना चुकने के अनन्तर अपेक्षित प्रभाव की सृष्टि का सन्तोष प्राप्त होता है। नानी से सुनी हुई कहानियों में कलात्मकता रही हो या न रही हो, पर यह गुण अवश्य था कि उन्हें बार-बार सुनने और सुनाने की कामना होती थी। और यही गुण विश्व-साहित्य की चुनी हुई कहानियों में भी है।

१. 'खेल खिलौने'—राजेन्द्र यादव।
२. 'जिन्दगी मुसकराई'—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर, प्रकाशक'—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश, युग, कला और कोण की दृष्टि के एक-दूसरी से बहुत दूर और बहुत भिन्न होते हुए भी उन यह, एक बात सामान्य है कि वे भूलती नहीं, और उन्हें बार-बार दोहराने को मन हो आता है कहानी 'कफ़न' और 'बाल शव् फैट' की तरह चरित्र-प्रधान हो या 'हक्मच लैएड डज ए रिक्वायर' की तरह भाव-प्रधान; उसमें 'नेकलेस' की तरह घटना की विशेषता हो या 'बू' तरह अनुभूति की, उसमें चेखव की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि झलकती हो या सार्त्र की जुगुप्सारमत उसकी सजीवता की पहचान उस छाप की गहराई है जो वह मस्तिष्क पर छोड़ जाती है। व्यक्ति कहानियों का कोष संचित करना चाहता है शोर करता है। परन्तु हज़ारों कहानियाँ पढ़ और सुनने के अनन्तर भी उस कोष में बहुत कम कहानियाँ संचित होती हैं। इसका पता उस को टटोलने से तुरन्त चल जाता है।

परन्तु नई कहानियाँ हाथ में आने पर संचय का चाव फिर जाग उठता है, पन्ने फि पलटने लगते हैं और आँखें उत्सुकतापूर्वक नई-नई पंक्तियों पर से गुज़रने लगती हैं।

'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ!' और 'पान-फूल' दो नये कहानी-संग्रह हैं। एक प्रतिष्ठित कहानीकार यशपाल की तेरह नई कहानियाँ संकलित हैं और दूसरे में नये कहानी-लेख मार्कण्डेय की बारह आरम्भिक कहानियाँ दी गई हैं। कहानी के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि का परिच देते हुए यशपाल ने अपने कहानी-संग्रह की भूमिका में लिखा है: "लेखक कभी-कभी विचारों के उ गार में ऐसी भी रचनाएँ लिखते हैं जिसमें तथ्य या भाव को घटना के माध्यम में प्रस्तुत न क केवल विचारों की शृंखला या शब्द-चित्र के रूप में पेश कर दिया जाता है। अथवा कभी कि विशेष व्यक्तित्व को उसके जीवन की किसी घटना का आधार लिये बिना ही पाठकों से परिचि कराने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार की घटनाहीन वर्णन-प्रधान रचनाओं की सारगर्भित और रोचकता के विषय में सन्देह न होने पर भी उन्हें कहानी की व्याख्या और परिभाष में ही क्यों समेटा जाय? कोई भी परिभाषा वस्तुओं के वर्ग की समता की द्योतक होती है × × × शब्दचित्रों, गद्य-काव्यों, आप बीतियों, विचार-चित्रों या कथात्मक निबन्धों को कहानी मानने से उनकी रोचकता, कौशल या कलात्मकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह कहा की कला से प्रेरणा पाकर उत्पन्न हुई कला की नवविकसित स्वतन्त्र शाखाएँ हैं।"

इसका आशय यह है कि लेखक कहानी में घटना को मुख्य तत्त्व मानता है, जिससे विही रचना कहानी की परिभाषा में नहीं आनी चाहिए। आज विश्व-भर में कहानी के इतने व्याप प्रयोग हो रहे हैं कि कहानी की परिभाषा इस तरह संकुचित कर देने में इस श्रेणी की अन रचनाओं को न जाने कितनी उपशाखाओं में रखना पड़ेगा और शब्दचित्र, (स्केच) आ बीती और—कथात्मक निबन्ध में भी किसी-न-किसी अंश में घटना रहती ही है, अतः इस आधा पर कहानी को अलग से छाँट लेना बहुत कठिन है। फिर भी इतना तो है ही कि कहानी के ना से लिखी जाने वाली हर रचना कहानी नहीं होती। उसमें विवरणात्मक प्रबन्धन के अतिरिक्त ए और चीज का होना अपेक्षित है और वह है घटनाश्रित या भावाश्रित चरमस्थिति (climax) यदि कहानी उस स्थिति की ओर स्वाभाविक ढंग से बढ़ती है और उसकी ग्राहिता बनी रहती है तो उसे कला की दृष्टि से एक सफल कहानी कहा जायगा, भले ही अन्य विषय, विचार या विश्ले षणगत त्रुटियों के कारण वह एक संरक्षणीय कहानी न बन सके। और यदि कहानी को उस चरमस्थिति तक ले जाने में लेखक को स्वाभाविकता से ज़रा भी हटना पड़ता है तो कहानी कल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि से भी कमजोर हो जाती है।

यशपाल के इस नये कहानी-संग्रह में कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें घटना-विकास प्रयत्नसाध्य है—और शायद उसका मूल उद्देश्य दो स्थितियों के वैषम्य का चित्रण ही है। 'चोरबाजारी के दाम' की कहानी इतनी है कि एक व्यक्ति जो कभी स्वयं दवाइयाँ चोर बाजार के भाव बेचा करता था, विभाजन के बाद स्वयं अपने मरते हुए बच्चे के लिए चोर बाजार से दवाई खरीदने के लिए विवश हो जाता है, जिसके लिए उसे अपना सब-कुछ बेच देना पड़ता है, पर फिर भी वह समय पर दवाई नहीं ला पाता और बच्चे की मृत्यु हो जाती है। इसी तरह 'गवाही' और 'तगमे की चोट' में भी स्थिति-वैषम्य का चित्रण करने के लिए ही घटना की कल्पना की गई है। इन सब कहानियों में एक-न-एक निष्कर्ष तो निकलता है, पर जो पाठक 'कला के क्षेत्र में अपना राई-रत्ती उगाहने की आशा' से इन कहानियों को पढ़ता है, उसे निराश होना पड़ता है। बहुत पहले की कहानियों में अवश्य इस शैली का प्रयोग हुआ है, परन्तु उनका स्थान एक विशेष श्रेणी के साहित्य में ही है।

परन्तु इसी संग्रह में 'कोकला डकैत' और 'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ ?' जैसी कहानियाँ भी हैं, जिन्हें अच्छी कहानियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। 'कोकला डकैत' में बहुत तीखा व्यंग है, जो नश्तर की तरह हृदय में चुभ जाता है। कोकला को डकैती के अपराध में सजा हुई, क्योंकि उसने हँसिये के जोर से कुछ राहगीरों से अठन्नियाँ वसूल कीं, परन्तु अठन्नी के जोर से बीसियों बार कोकला से जो छीना गया, उसके लिए किसी को सजा नहीं हुई, क्योंकि क़ानून की आँखों ने उस डकैती को डकैती नहीं समझा······

'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ ?' एक मनोवैज्ञानिक कहानी है। क्षय की रोगिणी माया के लिए अपनी सुन्दरता का झूठा विश्वास ही ट्रेजेडी बन जाता है। जिस पुरुष ने उसे यह विश्वास दिया है, उसीके प्रति अपने को समर्पित करने के लिए जब वह आतुर हो उठती है तो वह पुरुष उसे स्वीकार नहीं करता और माया उसी क्षण में जैसे निर्मूल होकर रह जाती है। कहानी में फ़ोटोग्राफ़ वाली बात में—अन्य स्त्री के नग्न चित्र के माया द्वारा अपना चित्र मान लिये जाने में—कुछ अस्वाभाविकता अवश्य है, जो खटकती है।

वैसे संग्रह की कहानियों में काफी वैविध्य है—समकालीन जीवन के विभिन्न चित्रों का लेखक ने यथार्थ की भूमि पर कुशलतापूर्वक अंकन किया है। कहानियों के चरित्र सजीव हैं, उनमें मानवीय सन्तुलन भी है, यद्यपि 'घटना' का मोह कहीं-कहीं चरित्र की रेखाएँ पूरी तरह उभरने नहीं देता। लेखक की दृष्टि स्पष्ट है और उसकी पहचान निश्चित है—वह ठीक जगह चोट करता है और जहाँ अपेक्षित हो वहाँ अपनी पूरी सहानुभूति भी देता है। 'मिट्टी के आँसू' और 'असली चित्र' ये दो कहानियाँ क्रमशः उदाहरण के रूप में रखी जा सकती हैं। झूठी सामाजिक विडम्बना का एक अच्छा कलात्मक चित्र 'कम्बल दान' शीर्षक कहानी में प्रस्तुत किया गया है। यदि सोद्देश्यता की दृष्टि से ही देखा जाय तो 'अखबार में नाम' शीर्षक कहानी को छोड़कर, जो शायद संग्रह की सबसे शिथिल कहानी है, शेष सब कहानियों में कुछ-न-कुछ स्पष्ट उद्देश्य लेखक के सामने रहा है। जीवन के खोखलेपन को साहस के साथ उघाड़ देना, यह यशपाल की अधिकांश कहानियों की विशेषता रही है, जो इन कहानियों में भी है। परन्तु साथ ही यह भी कहना होगा कि यह संग्रह यशपाल की कहानी-कला के विकास में एक नया मार्ग-चिह्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं बन पाया, इसमें लेखक का कृतित्व उसके पुराने धरातल से आगे नहीं बढ़ा। इसलिए इस संग्रह में हिन्दी की कहानी-परम्परा के लिए कोई नया संकेत नहीं है, ऐसा संकेत जो कहानी को और अधिक परिमार्जित और अधिक भारतीय बनाने में सहायक होता।

'कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए' मार्कण्डेय के कहानी-संग्रह 'पान फूल' की अन्तिम कहानी है, जिसे यशपाल की परिभाषा के अनुसार कहानी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि उसमें घटना नाम को भी नहीं है। वह एक व्यंगात्मक कथा निबन्ध-मात्र है, फिर भी उसकी एक अपनी विशेषता है। उसमें जीवन के एक सत्य को बहुत स्पष्टता और सादगी के साथ व्यक्त किया गया है और उसका कोण नया है। हिन्दी में पिछले दिनों जिस तरह की 'दीदी प्रेयसियों' की एक परम्परा-सी चल पड़ी थी सामान्य नारी उससे कितनी भिन्न है, इसका चित्रण लेखक इस कहानी के माध्यम से सफलतापूर्वक कर पाया है। वह अपनी कहानी के लिए ऐसी नारी का पता विज्ञापन द्वारा पाना चाहता है 'जो आम्र-वल्लरी की भाँति तन्वंगी हो, मल्हार के कोमल स्वर-सी ध्वनि हो जिसकी और छुई-मुई-सा संकोच। पारलौकिक प्रेम में हर क्षण डूबी रहती हो, तपस्विनी हो और कम-से-कम ब्याह के लिए माँ-बाप की आज्ञाकारिणी हो······'

हाँ, एक बात है। ऐसी नारियाँ समकालीन कथा-साहित्य में तो दिखाई देती ही हैं, उनकी कुछ सजीव अनुकृतियाँ—साहित्य के साँचे में ढली हुई मानवी प्रतिमाएँ भी जहाँ-तहाँ नज़र आ जाती हैं, जो साहित्य की भाषा बोलती हैं और एक या दूसरे उपन्यास की नायिका की तरह व्यवहार करती हैं। वे शायद मार्कण्डेय की अनुपलब्धि को झुठला सकती हैं!

मार्कण्डेय की अधिकांश कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं, जिनमें 'गुलरा के बाबा', 'घूरा' और 'मुन्शी जी' का उल्लेख किया जा सकता है। इन कहानियों में लेखक की यथार्थ दृष्टि का ही नहीं जीवन के साथ उसके घनिष्ठ सम्पर्क का भी परिचय मिलता है। लगता है कि वह जिस वातावरण को चित्रित कर रहा है उसमें वह स्वयं रहा है—उसकी रेखाएँ मांसल भी हैं और सप्राण भी। मार्कण्डेय ने अभी बहुत थोड़ा लिखा है, यह उसके रचना-काल का आरम्भ ही है, इसलिए कहीं-कहीं उसके उपकरण अधमँजे प्रतीत होते हैं, फिर भी, इन कहानियों को पढ़कर कहा जा सकता है कि उसकी सम्भावनाएँ असन्दिग्ध हैं। उसने अपने समय तक के कथा-साहित्य के अभावों को ग्रहण किया है, पर कहीं-कहीं, 'सवरइया' और 'रेखाएँ'-जैसी कहानियों में ये प्रभाव बहुत परिलक्ष्य हो गए हैं, जिससे ये कहानियाँ एक-दूसरी से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि एक निश्चित दृष्टिकोण लेकर चलने वाले लेखक की कृतियाँ नहीं जान पड़तीं। जिन कहानियों में लेखक ने घटना को विशेषता दी है, वे कहानियाँ अपेक्षाकृत कमज़ोर हैं, जैसे 'वासवी की माँ', 'रामलाल', 'नीम की टहनी' और 'पान फूल'। लगता है कि घटना-विकास के सम्बन्ध में वह किन्हीं परम्परागत धारणाओं को लेकर चल रहा है। 'पान फूल' में नीली का चरित्र जितना स्वाभाविक है, कहानी का वस्तु-संगठन उतना ही अस्वाभाविक है—दो बच्चियों की जिस भावुकता का चित्रण किया गया है, वह उस आयु की भावुकता नहीं हो सकती।

मार्कण्डेय की कहानियाँ इस दृष्टि से सोद्देश्य नहीं हैं कि उनमें से कोई-न-कोई निष्कर्ष निकाला जा सके, परन्तु वास्तविकता के अंकन की अपनी सोद्देश्यता है और इस दृष्टि से उसकी अधिकांश कहानियाँ आज के जीवन के लिए हैं, क्योंकि वे जीवन से ही ली गई हैं। 'गुलरा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात्रा' में चमेली के अन्धी हो जाने की बात खटकती है, अन्यथा वह एक याद रहने वाली कहानी है।[1]

उदयशंकर भट्ट

टूटे काँटे

'टूटे काँटे' श्री वृन्दावनलाल का नवीन प्रकाशित उपन्यास है। इस उपन्यास में १७३७ और उसके आस-पास के समय का सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक चित्र है। भारतवर्ष पर उन्हीं दिनों नादिरशाह का आक्रमण हुआ और दिल्ली के निरीह प्राणियों की किस क्रूरता-बर्बरता से हत्या हुई इसका विशेष चित्र उपन्यासकार ने इसमें दिया है। बाजीराव पेशवा, निजाम, भोपाल और मुहम्मदशाह में किस प्रकार राजनीतिक षड्यन्त्र चल रहे थे! किस प्रकार एक राज्य दूसरे को हड़प जाना चाहता था। साधारण मनुष्य कितना त्रस्त और बेचैन था। लूट-मार, डकैती, मार-धाड़-हत्या से जनता का जीवन कितना संशयग्रस्त, कितना विपन्न था और इतने पर भी राजमहलों में रंगरेलियाँ होती थीं। रुपया पानी की तरह बहाया जाता था।

उपन्यासकार ने इन सबको एक कथा-सूत्र में बाँधा है। भोला-भाला किसान और जाट मोहन फतेहपुर सीकरी का रहने वाला इस कथा का जहाँ नायक है वहाँ उपन्यास का भी। नूर-बाई इसकी नायिका। मालूम होता है प्रत्येक पात्र इस उपन्यास में मनुष्य के गुण-दोषों का एक प्रतीक है। शुबराती, बाजीराव पेशवा की सेना का सिपाही मुसलमान होते हुए भी मुग़ल-सेना के सिपाही और हिन्दू मोहन के प्रति मित्रता का व्यवहार करता है और मोहन उसके बदले निष्ठा तत्परता से मित्रता निभाता है। नूरबाई मुसलमान होती हुई भी मोहन के साथ भागकर उसे अपना पति स्वीकार कर लेती है। बाजीराव की प्रेमिका मस्तानी मुसलमान होती हुई भी बाजी-राव के प्रति एकनिष्ठ है। जहाँ यह चित्र है वहाँ हिन्दू हिन्दू की हत्या करता है, मुसलमान मुसलमान की।

उस समय राज-शक्तियों में परस्पर फूट के कारण जनता दुखी थी। फसल काटने के बाद किसान सिपाही बनकर किसी राजा या नवाब की छाया में प्रान्तों या राज्यों पर आक्रमण करते थे। छावनियों में सेना के लाव-लश्कर के साथ गाने-नाचने वाली स्त्रियाँ साथ रहती थीं। शराब पी जाती थी। जो सिपाही युद्ध में मर जाता था उसके परिवार को आजीवन निर्वाह के लिए पाँच रुपये भेज दिये जाते थे। कभी-कभी वे पाँच रुपये बीच में ही सरकारी आदमी हड़प लेते थे। प्रायः वेतन के अलावा सिपाही को लूट में भी भाग मिलता था। साधु-संत देश-देश में प्रचार करते उपदेश देते रहते थे। उदासी साधुओं की अपेक्षा बैरागी साधुओं का ही बाहुल्य था। वे कभी-कभी जनता और धर्म की रक्षा के लिए तलवार, त्रिशूल और भाले लेकर शत्रुओं पर टूट पड़ते थे। नादिरशाह के पंजाब के आक्रमण के समय कुरुक्षेत्र में साधुओं ने उसकी सेना से लोहा

1. **'तुमने क्यों कहा मैं सुन्दर हूँ' : ले०—यशपाल, प्र०—विप्लव प्रेस, लखनऊ।**
'पान-फूल' : ले०—मार्कण्डेय, प्र०—चेतना प्रकाशन, हैदराबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया और वे सभी मारे गए। मालूम होता है देश की रक्षा और प्रजा को सुखी-सम्पन्न रखने की ओर किसी भी राजा या नवाब का ध्यान नहीं था। साधारणतया सभी सरकारी कर्मचारी प्रजा को लूटते थे। फिर भी लोग धनी थे। बाजार, दुकानें सम्पन्न दिखाई देती थीं।

ये सब चित्र आपको इस उपन्यास में मिलते हैं। वर्माजी के प्रायः सभी उपन्यास इतिहास की भित्ति पर अवलम्बित हैं। अब तक के उनके उपन्यास बुन्देलखण्ड और उसके आस-पास का चित्र उपस्थित करते हैं। 'टूटे काँटे' का क्षेत्र उन सबसे अधिक व्यापक है। घटना-प्रधान इस उपन्यास में उस समय के जीवन का पूर्ण चित्र आ गया है। फिर भी प्रश्न होता है कि घटनाओं में चरित्र का क्या महत्त्व है? साधारणतया ३६० पृष्ठों के इस उपन्यास में कुछ ही चरित्र उभर पाये हैं। शेष घटनाओं की विभीषिका में उभर-उभरकर दब गए हैं। प्रमुख नायक व मोहन उसके मित्र शुबराती के चरित्र अपने में पूर्ण हैं। तोता, मोहन की बहू रोनी-जैसे चले थे अन्त तक वैसे ही हैं। नूरबाई के चरित्र में उठान है, उमंग है; पर ऐसा लगता है कि परिस्थितिवश यह सब उसने स्वीकार किया है। फिर एकाएक मोहन के प्रति उसका आत्म-समर्पण कुछ अमनोवैज्ञानिक लगता है। अन्त तक यह नहीं जान पड़ता कि नूरबाई और मोहन की प्रकृति में साम्य कहाँ था। एक ओर बादशाह और नवाबों के यहाँ उच्च कोटि की गायिका सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी नूरबाई, दूसरी ओर गँवार, अपढ़ सिपाही जाट मोहन। यह केवल परिस्थिति ही कही जायगी जिसमें बाध्य होकर उसने अपने पूर्वरूप को भुला दिया। साथ ही ब्रज के कृष्ण कन्हैया के प्रति उसके झुकाव का भी उसके पिछले जीवन में कहीं आभास नहीं मिलता। बाजीराव का रूप भी इस उपन्यास में नहीं निखर पाया है। हाँ नादिरशाह अपने पूर्ण बर्बर रूप में प्रकट हुआ है।

नादिरशाह के दिल्ली से चले जाने के बाद उपन्यास का रूप एकदम अन्तर्मुख होकर चलता है। फिर भी उसमें कहीं नीरसता नहीं आने पाई है। उपन्यास के प्राण क्लाईमेक्स-संघर्ष केवल उस जगह आते हैं जहाँ मोहन की पहली बहू रोनी तोता, अपने देवर के साथ मोहन से मिलती है। जिसे अब तक वह लड़ाई में मर जाने पर भूत के रूप में प्रसिद्ध सुनती रही थी। उस स्थल पर उपन्यासकार ने बड़े कौशल से अपनी उपन्यास टेकनीक के अनुसार उन दोनों को मिला दिया है और नूरबाई को उसे अपनी बहन मानने के लिए बाध्य कर दिया है।

उपन्यास के तत्त्वों पर विवेचन-दृष्टि डालते हुए मैं चाहता हूँ इसका नाम 'राजनीतिक-ऐतिहासिक उपन्यास' होता पर नादिरशाह के बाद लेखक ने बाजीराव के पुत्र का यज्ञोपवीत, मस्तानी की मृत्यु और बाजीराव की मृत्यु का संक्षिप्त समाचार देकर आधे से अधिक उपन्यास में मोहन, नूरबाई, तोता और रोनी की कथा को स्थान दिया है। भरतपुर, मथुरा के आस-पास वे पात्र घूमते रहते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि राजनीतिक घटनाएँ देश में उस समय नहीं हो रही थीं। फिर भी उनका कोई भी चित्र सामने नहीं आता। राजपूताना में उन दिनों क्या हो रहा था। क्षत्रियों की क्या अवस्था थी। राजपूत क्या सोचते थे इत्यादि प्रश्नों का उत्तर 'टूटे काँटे' में नहीं है। पर हम शायद सब बातों के उत्तर की उपन्यासकार से अपेक्षा भी नहीं रख सकते। हमें तो जो-कुछ उसने हमें दिया है उसी दृष्टि से देखना है। विरोध और संरोध को कहीं स्थान नहीं है। प्रत्येक उत्तर में एक प्रश्न निहित है। देखना यह है कि लेखक ने जो प्रश्न उठाए हैं उनका उत्तर कहाँ तक ठीक है, कहाँ तक सम्मत है। फिर उसकी शैली उपन्यास के केन्वेस के सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी प्रश्न उठता है। इन सब दृष्टियों से मेरा विश्वास है यह उपन्यास जिस उद्देश्य को लेकर लिखा गया है उसमें लेखक पूर्ण सफल हुए हैं।

वर्माजी की भाषा की शैली अपनी है, वह बुन्देलखण्ड की प्राकृतिक छटा से सप्राण हुई है। उसने इस उपन्यास में पूना से लेकर पंजाब तक चक्कर लगाया है उसमें न उसने कुछ छोड़ा और न नया कुछ ग्रहण ही किया। काश यह भी होता। नूरबाई के नृत्य-वर्णन में यद्यपि मद में भरकर लेखक ने नृत्य की गहराई तन्मयता को पकड़ा है पर कहीं-कहीं वह पुनरावृत्ति में रपट भी गई है। मैं हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकार श्री वर्माजी के इस उपन्यास का स्वागत करता हूँ। विश्वास है कि उनके अन्य उपन्यासों की ही तरह इसका भी स्वागत होगा।

नादिरशाह के काल का कोई भी उपन्यास अब तक नहीं था। मेरा विश्वास है उक्त विषय पर अधिकारी कलाकार ने हमें जो-कुछ दिया है उससे हिन्दी के एक अंग की पूर्ति हुई है।[1]

डॉ० शैल कुमारी

चाँदनी के खण्डहर

प्रेमचन्दोत्तर-काल में यथार्थवादी उपन्यासों की बाढ़-सी आ गई। यथार्थवाद का भवन-निर्माण एक ओर मार्क्स के सिद्धान्तों को लेकर और दूसरी ओर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद को लेकर होता रहा है। कहना अत्युक्ति न होगी कि उक्त प्रकार के उपन्यासों के रचयिता अनेक स्थलों पर वाद और विज्ञान को उसके कच्चे (row) रूप में ग्रहण करने की भूल कर बैठे। प्रथमतः साहित्य का किसी वाद का प्रचारक बन जाना उसके पतन का द्योतक है, द्वितीय जब कोई साहित्यकार संस्कृति और मानवता के विकास में अपनी कला के द्वारा सम्यक् योग नहीं दे पाता तो उसकी रचना उसके उत्तरदायित्व के प्रति विश्वासघात ही सिद्ध होती है। हिन्दी में आज एक ओर ऐसे उपन्यास आ रहे हैं जो समाज की वीभत्सता को ही उघाड़ना अपना ध्येय बनाकर चलते हैं और अधिकतर समाज के प्रति उत्तरदायित्व का भाव जाग्रत करने के स्थान पर कटुता, अरुचि और वितृष्णा ही मन पर छोड़कर समाप्त होते हैं, दूसरी ओर ऐसे उपन्यास हैं जो व्यक्ति को नग्न रूप में उपस्थित करते हुए उसके समस्त व्यापारों और व्यवहारों को खोखला सिद्ध करते हुए उसके आत्मविश्वास की ही जड़ खोदने में सफल होते हैं। डार्विन के अनुसार मनुष्य सबसे विकसित पशु है। इस नई विचार-धारा ने १६वीं शताब्दी में दुनिया में हलचल मचा दी थी। फ्रायड के मनोविश्लेषण-विज्ञान ने इस विचार-धारा को अग्रसर किया और व्यक्ति की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, काम और ईर्ष्या मानकर उसे पाशविक प्रवृत्तियों के बण्डल के रूप में हमारे सामने रख दिया। विज्ञान का कार्य किसी भी वस्तु के अंगोपांगों का विश्लेषण करना है; अपनी

१. **'टूटे काँटे' : ले०—वृन्दावनलाल वर्मा, प्र०—मयूर प्रकाशन, झाँसी।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस शक्ति को लेकर वह दोषी नहीं ठहराया जा सकता। किन्तु मनुष्य विज्ञान के प्रायः प्रत्येक रूप के व्यावहारिक मूल्यों का आदर करके उन्हें ग्रहण करता है। विज्ञान के केवल-मात्र विश्लेषणात्मक रूप को ग्रहण करना हानिकर हो सकता है। पुनश्च हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य बुद्धिजीवी भी है, वह केवल पशु नहीं है, उसके पास मनोबल और विवेक की अमूल्य सम्पत्ति है, जो सृष्टि के किसी भी अन्य जीव के पास नहीं है। मनुष्य का सबसे बड़ा सत्य है उसकी मानवता। यही उसका ईश अंश है, यही वह चिरसत्य है जिसको भुलाने के बाद ही वह पशु है। बुद्धि और हृदय, विवेक और संवेदना के सहारे मानव जिस आदर्शवाद का सृजन करता है, वह उसकी प्रकृति का प्रथम यथार्थ है। इस यथार्थ, इसी राख में छिपे हुए अंगारे के समान अनाहत मानवता को उद्बुद्ध करना साहित्यकार का दायित्व है; व्यक्ति को स्वान्वेषण में प्रवृत्त करके अपनी शक्तियों को खोजने के मार्ग में अग्रसर करना साहित्य का प्रथम लक्ष्य है। इतिहास साक्षी है कि विश्व के साहित्य में वही रचनाएँ चिरजीवी हो सकीं जो इस लक्ष्य को सामने रखकर चलीं।

गिरिधर गोपाल गीतकार के रूप में जाने जाते हैं। उपन्यासकार के रूप में यह उनका प्रथम प्रयास है। वस्तु-चयन तथा वर्णन-शैली दोनों ही दृष्टि से इसकी सफलता प्रशंसनीय है। उपन्यास छोटा, घटनाएँ कम; किन्तु प्रभाव गहरा और लक्ष्य vital यही इसकी विशेषताएँ हैं। कथावस्तु का चुनाव हुआ है युद्धोत्तरकालीन एक मध्यवर्गीय परिवार से। गतयुद्ध के फलस्वरूप आर्थिक कष्ट का अनुभव सबसे अधिक मध्यवर्ग ने किया। वह सबसे अधिक दया का पात्र इसलिए बन गया कि वही समाज का सबसे अधिक महत्त्वाकांक्षी वर्ग है, और धनाभाव में उसका सारा जीवन घुटा-घुटा, दबा-दबा और दर्दभरा हो जाता है। भारतीय मध्यवर्ग के अनेक परिवार सुशिक्षित हैं, अगली पढ़ी को अपने से भी अधिक शिक्षित और सुसम्पन्न बनाने के अभिलाषी हैं, वह भले और सुसंस्कृत समाज का सदस्य बनकर रहना चाहता है और सबसे ऊपर अपनी शिक्षा को लज्जित न करना चाहते हुए सचाई और ईमानदारी को निभाते रहना चाहते हैं। इस परीक्षा में वे बल ग्रहण करते हैं अपनी पारिवारिक शिक्षा (training) से तथा उन विशिष्ट संस्कारों से, जिनमें वे पले हैं। जीवन सरल नहीं है, संघर्ष पग-पग पर है, गुत्थियाँ भी कभी-कभी पड़ ही जाती हैं, किन्तु जन्म से पड़ने वाले ममता और स्नेह के संस्कार मार्ग-प्रदर्शन करते है :[1] मानवता को इस मूलभूत तत्त्व से ही प्रेरणा ग्रहण करके संघर्षरत व्यक्ति नवीन प्रभाव का स्वप्न देखने में समर्थ है और स्थिर क़दमों पर जमे रहकर जिन्दगी के अन्धेरे का सामना करने की शक्ति पाता है।[2]

वास्तव में आधुनिक उपन्यासों की राशि को देखते हुए, प्रस्तुत उपन्यास की वस्तु (theme) और नायक सच ही नवीन प्रकार के हैं। (उपन्यास किसी प्रेम-कथा की उलझनों का विश्लेषण नहीं करता)। उपन्यास का नायक वसन्त न तो कोई साम्यवादी विद्रोही युवक है और न विश्लेषणवाद के चक्कर में फँसा हुआ असाधारण (abnormal) चरित्र। वह एक शुद्ध पारिवारिक प्राणी है—अत्यन्त सामान्य और सरल भारतीय मध्यवर्गीय युवक उसके अपने परिवार के विशिष्ट संस्कार उसकी रग-रग में बसे हैं जो उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। परिवार का

१. द्रष्टव्य पृ० १२७।

२. द्रष्टव्य पृ० १२७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धा और विश्वास स्नेह और ममता का वातावरण उस मानसिक सन्तुलन विवेक और पुरुषार्थ का निर्माण करता है जिसके अभाव में बड़ी तेजी से व्यक्तिवादी बनता हुआ समाज मजबूरियों से निकलने का रास्ता खोजने की बजाय उनसे घिसता हुआ दम तोड़ रहा है और अपनी अस्वस्थ स्थिति में बुद्धि की टी० बी० का शिकार हो गया है।

जोशी द्वारा लिखित भूमिका, जिसमें उन्होंने नायक को 'जटिल प्रकृति' कहा है और उपन्यासकार को 'ऐसे रहस्यमय चरित्र का चित्रण' करने के लिए बधाई दी है, के प्रसंग में एक बात कहनी आवश्यक प्रतीत होती है। वसन्त निश्चय ही अणु-युग की उपज है। १६वीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप दुनिया बड़ी तेजी से धार्मिक विश्वासों पर पदाघात करके भौतिकवाद की तरफ दौड़ी थी। किन्तु पिछले महायुद्ध में प्रकट होने वाले विज्ञान के राक्षसी और मानव-संहारक रूप को देखकर तेजी से भौतिकतावाद की तरफ दौड़ते कदम आश्चर्य और भय से ठमक गए। विज्ञान से जिस बल को प्राप्त करने की आशा उसने की थी उसे खोखला देखकर वह अपने अन्तर को ही फिर से खोजने की ओर अग्रसर हुआ। वर्तमान शिक्षित नवयुवक धर्म के रूढ़ रूप को तो ग्रहण करने में असमर्थ है और साथ ही व्यावहारिक जीवन में भौतिक के प्रति विरक्त होना भी उसके लिए असम्भव है, अतः वह एक सहज स्वस्थ समन्वय करने में प्रयत्नशील है। उसके धर्म के मान उसके आन्तरिक व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं, यद्यपि उसका बाह्य, पुराने आदर्शों के अनुसार, सर्वथा अधार्मिक प्रतीत होता है। वास्तव में वर्तमान युग का युवक नैतिकता को कुण्ठाओं से मुक्त करके एक सहज, सरल और स्वस्थ रूप देना चाहता है। यह युवक उस युग की देन है जब भारतीय राष्ट्रीयता का आन्दोलन समाप्त-प्रायः था, जब दासता के जमाने में बनी मनोग्रन्थियों से वह छुटकारा पा रहा था, जब भारत पाश्चात्य सभ्यता के पहले धक्के से प्रकम्पित हो गई सन्तुलन की धुरी को पुनः प्राप्त करने की ओर अग्रसर हो रहा था।

शिल्प की दृष्टि से 'चाँदनी के खण्डहर' का अपना एक महत्त्व है। यों तो हम 'तीन वर्ष' और 'चित्रलेखा'-जैसे उपन्यास देख चुके हैं, जिनमें कुछ समय की सीमाओं को बाँधकर वस्तु का विकास हुआ है, किन्तु प्रस्तुत उपन्यास की विशेषता यह है कि यह एक बहुत ही छोटा-सा उपन्यास है और इसकी काल-सीमा है केवल २४ घण्टे। एक सुबह ६ बजे वसन्त इलाहाबाद जंक्शन पर उतरता है, वहाँ से उपन्यास आरम्भ होता है और दूसरी सुबह ६ बजे नवल स्वर्णिम प्रभात को देखता हुआ जब वह शय्या त्याग करता है, तभी उपन्यास का अन्त आ जाता है। इस बीच में भी कोई कहने लायक 'घटना' नहीं घटती। फिर भी वस्तु-गठन, कथा का प्रवाह, रोचकता और प्रभाव की मार्मिकता की दृष्टि से लेखक वास्तव में बधाई का पात्र है। इस उपन्यास के शिल्प-सौन्दर्य का मूल है सशक्त चरित्र-विधान जिसके सहयोग में उपस्थित हुए हैं कलात्मक कथोपकथन, संक्षिप्त मनोवैज्ञानिक सूत्र और सजीव वातावरण-चित्रण। किंचित् स्थानीय संकेत (local colour) के साथ वह और भी सजीव और आकर्षक बन गया है। लघु उपन्यास की मार्मिकता का बीज उसकी संक्षिप्त किन्तु सशक्त शैली है, वह अनेक घटनाओं का समावेश नहीं कर सकता, वह लम्बी और व्यापक भूमिका नहीं उठा सकता, वह अनेक पात्रों की चरित्र-योजना नहीं कर सकता। घटना-प्रधान न होकर वह भाव और विचार-प्रधान हो जाता है और अपने छोटे-से कोड़ में एक महान् सन्देश को लेकर चलता है, जिसकी सफल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मार्मिक अभिव्यंजना में ही उपन्यास की सफलता निहित होती है। छोटे उपन्यास का नायक सामान्य नहीं वरन् एक विशिष्ट व्यक्तित्व (personality) होगा, जो समस्त संवेदना को केन्द्रीभूत करता हुआ सन्निहित सन्देश का विकास करता है। अतः छोटा उपन्यास एक ओषधि-सार (concentrated chemical) की भाँति होता है जिसका प्रभाव भी उतना ही गहरा होता है। उस कार्य को पूर्ण करने के लिए जिस कुशलता और विदग्धता की आवश्यकता है वह 'चाँदनी के खण्डहर' के शिल्प-विधान में प्राप्त है।[1]

जनार्दन मुक्तिदूत

कठपुतली

पिछले कई वर्षों में उपन्यास-साहित्य में अनेक नये प्रयोग किये गए हैं; और अब हम बहुत कुछ अंशों में प्रत्येक उपन्यासकार से किसी न-किसी प्रयोग की आशा भी करने लगे हैं। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का उपन्यास 'कठपुतली' भी एक प्रयोग ही है। उपन्यास की कथा-वस्तु की जालियाँ बुनने के लिए कविता, दृष्टान्त, आख्यायिका, लोक-गीत, नाटकों के दृश्य, जीवन-चरित्र, आत्मकथा, निबन्ध, टिप्पणी (यदि कोई फार्म बच गया हो तो वह भी) आदि साहित्य-अभिव्यंजना के सभी 'फ़ार्म्स' का उपयोग किया गया है।

सबसे पहले हमें कथानक की, इस दृष्टिकोण से परीक्षा करनी चाहिए कि उसके पात्रों के लिए उपन्यासकार द्वारा दिया हुआ अभिव्यक्ति का माध्यम अत्याधिक गरिष्ठ या अनुपयुक्त तो नहीं और किस माध्यम की पाठक के मनोरंजन की दृष्टि से उपादेयता है। मनोरंजक साहित्य की पहली शर्त है जो केवल मनोरंजक न होकर मूल में स्वस्थ भी हो।

नायिका दीपाली का परिचय हमें अनावश्यक रूप से लाहौर के एक बुक-स्टाल पर होता है, जहाँ वह गाड़ी आने के समय के बीच के अवकाश को किसी तरह से काटना चाहती है। किसी तरह राम-राम करके गाड़ी आती है और योजनानुसार दीपाली का बॉय फ्रैण्ड (?)—नाटककार सुनील उसके साथ बनारस जाने के लिए आ पहुँचता है। गाड़ी में 'थर्ड-क्लास' के वातावरण से प्रतीत होता है कि दीपाली को उपन्यासकार ने सिर्फ़ पाठकों के लिए ही थर्ड-क्लास में सफ़र करवाया है। वरना वह क़तई थर्ड-क्लास में फिट नहीं होती। पर सवेरा होते-होते दीपाली उत्तरप्रदेश की सभ्यता) वह बनारस वासिनी हैं। पी-एच० डी० के लिए अपने चाचा के पास लाहौर में रहती हैं) को ताक पर धरकर जोर-जोर से "चैन की निंदिया जिया अलसाने हो रामा" गीत गाने लगती है। यद्यपि उपन्यास में लेखक ने दीपाली को पॉलिश्ड और आधुनिक युवती बताया है। बनारस पहुँचकर दीपाली अपनी छोटी बहन मीना की शादी में शामिल हो लेती है और इस बीच दीपाली और सुनील का परिचय विमल बाबू नामक बंगाली चित्रकार से हो जाता है और दोनों—बल्कि तीनों मिलकर इस सत्य का प्रतिपादन करना चाहते हैं कि कलाकार को विवाह नहीं करना चाहिए और जीवन के आर्थिक पहलू के प्रति सर्वथा उदासीन रहना

१. 'चाँदनी के खण्डहर', ले०—गिरिधर गोपाल, प्र०—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। बीच-बीच में उपन्यासकार जो वर्णन देता है उससे प्रतीत होता है कि उस पर लोक-गीत संग्रह का 'मेनिया' बुरी तरह हावी है। वह हर चिन्तन का आधार एक लोकगीत मानता है। मीना की विदा पर समवेदना प्रकट करने के लिए वह वधू को इस रूप में देखता है—

"हम तो बाबुल खूँटे की गैयाँ, जित हाँको हँक जायँ रे—सुन बाबुल मोरे।"

उपन्यास का आकार बढ़ाने की गरज से दीपाली और सुनील सारनाथ घूमते हुए लाहौर वापस लौट आते हैं। उपन्यासकार के कथनानुसार सुनील ने एक नाटक 'मिट्टी की मूरत' लिखा है जो नाटककार की अपनी जीवनी है। नाटक गाँव से चौथे क्लास तक पढ़ने के बाद रासधारियों की मण्डली के साथ हो लेता है और घूमता-घामता बम्बई पहुँचकर उन्हें छोड़ देता है और होटल में कप साफ करने से लेकर फिल्म-कम्पनी के एक्स्ट्रा तक का काम करता है। पता नहीं इस कथा में दीपाली-जैसी सुशिक्षिता और वह भी अंग्रेजी नाटकों पर थीसिस लिखने वाली विदुषी को क्या नवीनता दिखाई देती है कि वह उसे खेलने के लिए अपना सारा प्रभाव उपयोग कर देती है। आखिर नाटक स्टेज होता है और सफल होता है। दीपाली नायिका बनती है।

इस बीच धीरे-धीरे लाहौर में सुनील लोकप्रिय हो जाता है और उसके सम्पर्क में दीपाली की तीन सखी जीनत, पारुल और तेजकौर भी आ जाती हैं। जीनत इक़बाल पर एक पेपर लिख रही है और वह जब उसे लिटरेरी सोसायटी में पढ़ती है तो साहित्य-संसार में तहलका मच जाता है। इससे दीपाली जीनत से ईर्ष्या करने लगती है। इस घटना से कहानी के प्रसार में कोई सहायता नहीं मिलती।

सुनील दूसरा नाटक लिखता है 'गुड़िया और लोरी'। उसके स्टेज होने के बीच के समय में तेजकौर का मामा रिसालदार सरदार अर्जुनसिंह भी एक दिन सुनील से परिचित हो जाता है। अर्जुनसिंह सीधा-सादा गाँव का सिक्ख है और पूरे उपन्यास में सबसे अधिक मनोरंजक पात्र। उसका तकिया कलाम है—'दशम पादशाह दे सिंघों ने'.... ऐसा किया वैसा किया, इत्यादि। उसे लेखक ने इतना मूर्ख चित्रित किया है कि जब ब्रिटिश सेना की द्वितीय महायुद्ध में विजय होती है तो सेना की टुकड़ियों से अपने-अपने राष्ट्रीय गीत गाने को कहा जाता है। अर्जुनसिंह को कोई राष्ट्रीय गीत याद नहीं है तो वह निम्नलिखित लोकगीत राष्ट्रीय गीत की तरह अपनी टुकड़ी से गवाता है।

घुग्गी दन्द बटेरा, ओ घुग्गी दन्द बटेरा। हाँ घुग्गी दन्द बटेरा!
हाय हाय शेरा, हाय हाय शेरा, हाय हाय शेरा!
बले, बले, बले, बले!

[अर्थात् फ़ाख्ता के दाँतों (सरदार जी ने फ़ाख्ता के दाँत देखे होंगे) में बटेर आ गया। हाय रे शेर...शाबाश...शाबाश...शाबाश...शाबाश!]

सरदार जी के अनुसार यह भारत का राष्ट्रीय गीत सबसे अव्वल रहा।

सरदार जी ने अपनी डायरी में अंग्रेजों द्वारा गीत की तारीफ़ के साथ यह भी लिख लिया कि अंग्रेजों को भारत से जाना पड़ेगा....और दशम पातशाह दे सिंघों की नौकरी छूट गई।

'गुड़िया और लोरी' में दीपाली बीमारी के कारण अभिनय न कर सकी, इसलिए जीनत ने उसकी जगह भूमिका की और नायक के न होने के कारण सुनील और एक बूढ़े पात्र में दशम पादशाह दे सिंघों ने भी पार्ट किया। नाटक पुनः सफल हुआ और वह पंजाब यूनीवर्सिटी में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इण्टरमीडियेट के कोर्स में भी लग गया। इस बीच जीवन-यापन के लिए सुनील ने एक प्रेस में प्रूफ़रीडरी का काम भी कर लिया। पर प्रूफ़रीडरी जीनत के उससे विवाह करने में बाधक न हुई, यद्यपि जीनत एक अमीर कांग्रेसी मुसलमान की कन्या है। वे मुस्लिमलीग की तरफ़ झुके जा रहे हैं, पर अपनी कन्या को क़तई एक हिन्दू से विवाह करने में नहीं रोकते। जीनत के पूर्व प्रेमी जावेद का दिल टूटता है तो दया करके पारुल जावेद से विवाह कर लेती है। इन दोनों शादियों में वर-वधू पक्ष के लोग कुछ नहीं बोलते। अस्तु।

प्रेरणा के लिए सुनील अर्जुनसिंह की जमींदारी में सांदलबार पहुँचता है और वहाँ के 'जांगली' लोगों से आगामी नाटक 'जंगल रोता है' की प्रेरणा प्राप्त करके ऐसे वक्त वापस लाहौर लौटता है जब कि लाहौर में हत्याकाण्ड, आग और लूट का ताण्डव हो रहा है। जीनत के पिता भारत-विभाजन से पहले ही मुस्लिमलीगी हो जाते हैं और उनकी तथा जावेद की सहायता से जीनत (कल्याणी बनकर) दीपाली, तेजकौर, सरदार अर्जुनसिंह, सुनील आदि दिल्ली (शरणार्थियों के रूप में) सुरक्षित पहुँच जाते हैं। इधर के हिन्दू और उधर के मुसलमान अपने वर्षों के प्रेम का परिचय देते हैं। पारुल अब नर्गिस बन गई है। दीपाली, कल्याणी और तेजकौर एक ही स्कूल में पढ़ाती हैं। वे रोज गाँधीजी की प्रार्थना सभा में भाग लेती हैं। इधर सुनील के यहाँ पुत्र पैदा होता है और सुनील लिखना बन्द कर देता है। तेजकौर का विवाह केवल चौधरी नामक पत्रकार से हो जाता है। इस तरह सबके विवाह हो जाते हैं, पर दीपाली विवाह नहीं करती। वह एक परित्यक्त जारज बच्चे को गोद ले लेती है और एक दिन बिना किसी उद्देश्य के बनारस वापस चली जाती है।

मूल कथा तो यही है। इसमें इतना और जोड़ देना चाहिए कि गाँधीजी की मृत्यु का सबसे अधिक असर हुआ सुनील पर। यह सोचकर कि संसार कलाकारों, रहनुमाओं और मसीहाओं की क़द्र नहीं करता तो वह नाटक क्यों लिखे? उसने फिर कभी नाटक नहीं लिखे। पुनः होटल में 'कप-वसी' धोये या नहीं, यह लेखक ही जाने।

इस ज़रा-सी कथा को पूरे ४४८ पृष्ठों में लिखा गया है। मेरे ख़याल से इससे चौथाई भी जरूरत से ज़्यादा ही रहते। ख़ैर यह तो लेखक की अपनी स्वतन्त्रता है। हमें तो यह देखना है कि उपन्यास का विस्तार अनावश्यक तो नहीं है। प्रत्येक पात्र लोकगीत गाता है या आख्यायिकाएँ सुनाता है। प्रूफ़रीडरी के दिनों में सुनील भगतसिंह के सम्पूर्ण जीवन को बार-बार पढ़ता है और लेखक उसे उदारता से पाठकों की सूचना के लिए उपन्यास में भी दर्ज कर देता है। इसी तरह नायक के नाटक की लोरी या दृश्य भी उपन्यास में शामिल हैं, जिनसे कथा के प्रसार की गति दीर्घकाल तक रुद्ध रहती है। सच कहा जाय तो उपन्यास की असली कथा शुरू के २०० पृष्ठों के बाद आरम्भ होती है। उससे पहले के वर्णन लम्बे, सुस्त और शिथिल हैं, बल्कि उन्हें कठपुतली की भूमिका मानना ही ज़्यादा अच्छा होगा। जैसा कि लेखक ने समर्पण में कहा है 'श्री जवाहरलाल नेहरू को जिनके 'दो मसजिदें' नामक निबन्ध से मुझे इस उपन्यास की प्रेरणा मिली'। दो मसजिदों की कथा उपन्यास के पाठकों तक प्रतीक रूप में पहुँचाने के लिए कुछ नहीं तो कठपुतली के ३०० से अधिक पृष्ठ कुरबान कर दिये गए हैं। फिर कहीं-कहीं वर्णन अश्लील भी हो उठते हैं जिनकी न जरूरत थी और न उन्हें चूँकि ऐसा पंजाब में हुआ करता था ज्यों-का-त्यों धर देने की जरूरत थी। जरा मेले का वर्णन सुनिये—"भीड़ को चीरती हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीनों सखियाँ (दीपाली, जीनत और तेजकौर) बाहर की तरफ़ चल पड़ीं। लोगों की रगों में नया खून उछल रहा था, उनके चेहरों पर मुस्कानें नाच रही थीं। कोई कह रहा था—माल बुरा नहीं! कोई कह रहा था—दूध में बताशे घुले जा रहे हैं! फिर एक तरफ़ से आवाज़ आई—मेले की गुड़िया! किसी ने कहा—फ़ाख्ता नहीं कबूतरी! पास से एक आवाज़ उछली—हुस्न का छज्जा! ये सब आवाजें, ये मज़ाक मेले में रंग भर रहे थे। इसका बुरा मानना तो ठीक नहीं था।" इतना-सा ही अंश काफ़ी होगा। इससे क्या हम यह मानें कि पंजाब ने सभ्यता के नाम पर उच्छृङ्खलता ही दी है और संस्कृति के नाम पर पंजाब शून्य है?

भाषा कहीं-कहीं तो बहुत सुन्दर है और कहीं-कहीं अजीब अनगढ़-सी। ऊबड़-खाबड़, गैर मुहावरेदार और अंग्रेजी का अनुवाद....

सरदार अर्जुनसिंह, जिसने अंग्रेज़ी नहीं पढ़ी है, कहता है—"हमारे बीच में कोई-न-कोई काली भेड़ तो रहती ही है" जो 'there is always a black-sheep in the fold' का सीधा अनुवाद है, इत्यादि।

यद्यपि उपन्यास में राष्ट्रीय तत्त्वों की भरमार है पर वे बड़े अस्वाभाविक रूप में उपन्यास में पेश किये गए हैं। इस तरह से एक अच्छा-खासा उपन्यास अति-प्रयोगशीलता के कारण भूल-भुलैया बनकर रह गया। हम ४४८ पृष्ठों (पढ़ने को धीरज काफ़ी चाहिए) को दस बार भी पढ़कर यह समझने में असमर्थ हैं कि उपन्यास का ध्येय क्या है? पात्रों के जीवन का कोई लक्ष्य है या नहीं? सभी पात्र लेखक के हाथों की कठपुतलियाँ हैं। वह जैसे चाहता है नचाता है, मारता है, जिलाता है। इस दृष्टि से कि सभी पात्रों की अपनी कोई गति नहीं बल्कि वह लेखक की खींची हुई डोरी से परिचालित होते हैं, उपन्यास सफल है और नाम सार्थक। किन्तु अच्छा होता कि इस तरह के सुन्दर प्रयोग (जैसे कठपुतली में हैं) कठपुतली-जैसे निर्जीव उपन्यासों पर जाया न किये जायँ।[1]

विजयेन्द्र स्नातक

'ओ मेरे सपने'

आधुनिक जीवन के वैषम्य और विद्रूप को हास्य-विनोद के मृदुल-मोहक वातावरण में अङ्कित करने की सहज शैली का सुन्दर रूप हमें श्री जगदीशचन्द्र माथुर लिखित 'ओ मेरे सपने' में संकलित पाँच एकांकी नाटकों में दृष्टिगत होता है। हमारे मन-वचन-कर्म की असंगतियों के अन्तराल में एक ओर जहाँ हमारी मान्यताओं की निस्सारता रहती है, वहाँ दूसरी ओर कृत्रिमता, आडम्बर-प्रियता और अज्ञानता की एक ऐसी अन्तःसलिला धारा प्रवाहित होती रहती है जिसे देखते हुए भी हम देख नहीं पाते और अपनी मूर्खताओं की अजस्र परम्परा बनाते चले जाते हैं। नाटककार

१. कठपुतली : लेखक—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रकाशक—एशिया प्रकाशन, १०० बेयर्ड रोड, नई दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी विषमताओं और विडम्बनाओं पर कटाक्ष-व्यंग्य की प्रखर शैली से प्रहार करते हैं। मानसिक-सामाजिक व्याधियों के निराकरण और निदान का यही मार्ग प्रायः नाटकों में अपना जाता रहा है, किन्तु प्रस्तुत एकांकियों में कठोर व्यंग्य के दंश-प्रहार को सर्वथा दूर रखकर परिहास की ऐसी मनोरम शैली लेखक ने स्वीकार की है जो अभिव्यंग्य को व्यक्त करती हुई अपनी कोमलता तथा शालीनता को अक्षुण्ण बनाये हुए है। लेखक के पास परिहास-भावना 'ऑव ह्य मर' की इतनी पूँजी है कि वह मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन करते हुए 'स्मित-आन बना रहता है और पाठकों का मनोरंजन करता हुआ व्यंग्य-पुलक तक ही सीमित रहता है जीवन में आये दिन घटित होने वाली छोटी-मोटी बातों, घटनाओं और अनुभवों को विनोद के माध्यम से 'मिनिएचर' में झलकाने की ऊँचे दरजे की कला इन नाटकों में है और यही इन सफलता है।

साधारणतः नाटकों में बाह्य संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करके ही लेखक अपने चरि को उद्भासित और विकसित करते हैं। पात्रों को स्पन्दित करने के लिए भी द्वन्द्व और संघर्ष भूमिका बनानी पड़ती है। किन्तु इन नाटकों में न तो कोई उल्लेख्य द्वन्द्व है और न किसी प्रकार गम्भीर संघर्ष। यदि कहीं छुटपुट संघर्ष आया भी है तो उसे लेखक ने अपनी विनोदी वृत्ति से हित करके विकच हास्य की धवलिमा में छिपा लिया है। सामाजिक एवं मानसिक जटिल ग्रन्थि को खोलने का लेखक ने उपक्रम ही नहीं किया। जो भाव-ग्रन्थियाँ प्रस्तुत की हैं उनका आ प्रच्छन्न न होकर स्पष्ट और दृष्टिगोचर है। भावों की विवृति में किसी दार्शनिक शैली या गूढ़ पद वली का प्रयोग नहीं है। वैषम्य और विद्रूप के आर-पार देखने की पैनी दृष्टि लेखक के है अतः साधारण विनोद में भी वह अभिव्यंग्य को पकड़कर व्यक्त करने में नहीं चूकता।

इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने कोई गूढ़-गम्भीर तथ्य, गहन दर्शन अथवा उदात्त आद इन नाटकों में प्रस्तुत नहीं किया। जीवन की ऐसी कोई व्यापक या जटिल समस्या भी इनमें न जो अपना समाधान पाकर कल्याणकारी सिद्ध होती। लेखक की सृजन-प्रेरणा के मूल में भी ऐ कोई भाव नहीं रहा। उसने तो अपने व्यस्त जीवन के दो-चार फुरसत के क्षणों में दिल-बहल के लिए ही इन्हें लिखा है। अपने नाटकों के सम्बन्ध में लेखक स्वयं सशंक है कि 'कहीं गम्भी पाठकों और सुधी समालोचकों को कोणार्क के बाद शायद मेरे ये एकांकी हल्के जंचें। न इ नाटकों में कोई गहन दर्शन है, न किन्हीं प्रबल प्रेरणाओं का आघात-प्रतिघात, न किन्हीं उदा आदर्शों की आवेशपूर्ण व्यंजना!' दिल-बहलाव के लिए उद्देश्य-विशेष की छाप से रहित ह लिखने की तबियत को ही इनकी रचना का प्रेरक माना है। नाटक-रचना के मूल में गहन दर्श या उदात्त आदर्श की अनिवार्यता कदाचित् आज कोई भी नहीं मानेगा। जीवन की छोटी-मो बातें भी नाटक द्वारा व्यक्त की जा सकती हैं और उनकी संवेदना और सरसता में किसी को सन्दे नहीं होना चाहिए। सामाजिक विषमताओं और मानसिक विडम्बनाओं के उद्घाटन के लिए य लेखक व्यंग्य-दंश की दाहक मशाल न जलाकर फुलझड़ी के निरापद अग्नि-स्फुलिंगों के आलोक उन्हें चमका भर देता है तो यह उसकी सफलता ही कही जायगी। मानवीय दुर्बलताओं पर 'खड्ग हस्त और कुंचित-भ्रू' होकर प्रहार करना सर्वदा श्लाघ्य भी नहीं होता। 'ओ मेरे सपने' नाटकों में लेखक ने 'केरिकेचर' की शैली द्वारा कतिपय विद्रूपों से हमारा हास्य के वातावरण परिचय कराया है। इस शैली के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि 'केरिकेचर'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेखाओं में गम्भीर, गहन, सूक्ष्म तथ्यों को समेटना सामान्य कोटि के लेखक की क्षमता से बाहर की बात है। केरिकेचर के असन्तुलित होते ही स्वयं हास्यास्पद होने का खतरा तो सदा रहता ही है। हिन्दी में, इसी कारण हल्की और सरल, संयत और भावपूर्ण शैली में लिखे गए मर्मस्पर्शी हास्यपूर्ण एकांकियों का अभाव है। तीक्ष्ण और प्रहारपूर्ण व्यंग्य की शैली में तो बीसियों सुन्दर नाटक लिखे गए, किन्तु कोमल, मृदुल और आह्लादक शैली में नहीं। हर्ष का विषय है कि श्री माथुर ने अपना दिल बहलाव करते हुए एक उपेक्षित अंग का प्रसाधन भी कर दिया।

इन एकांकियों में जिन पात्रों की अवतारणा हुई है वे 'चरित्र चित्रण' की पूर्णता तक नहीं पहुँच सके। व्यक्तित्व का सहज चित्राङ्कन ही इन नाटकों में मिलेगा; वह भी कतिपय विशिष्ट क्षणों के व्यक्तित्व का। जिन क्षणों को लेखक ने चुना है वे प्रायः मानसिक दुर्बलता के हैं, किन्तु ऐसे नहीं कि समाज को डुबा दें या किसी मर्यादा को खण्डित करके नाश का ताण्डव प्रस्तुत करें। सम्भव है इसी कारण इन नाटकों में परिपूर्ण चरित्रों की सृष्टि नहीं हुई। लेखक ने अपनी सफाई में कहा है कि—'पात्रों के साथ छेड़-छाड़, कुछ चुहल, कुछ शरारत तो की गई है, लेकिन उनको बिल-कुल स्याह या सफेद नहीं रँगा गया।'

नाटकों की अभिनेयता की ओर लेखक का पूरा-पूरा ध्यान रहा है। नाट्य-वस्तु के चयन के लिए लेखक को किसी विशिष्ट प्रवृत्ति का संधान नहीं करना पड़ा, रोजमर्रा के जीवन में से ही उसने वस्तु को ग्रहण करके उपन्यस्त किया है। कथोपकथन अतीव सरल, तरल, कोमल और आक-र्षक हैं। शैली में कृत्रिमता का लेश भी नहीं। फड़कते होंठों पर आने वाले विनोदी-सम्वाद, कॉफी-हाउस और रेस्टराँ के किलकते वातावरण में गूँजने वाले लुभावने वाक्य, सिनेमा की हल्की-फुल्की अभिव्यंजना पर आधृत पैरोडी का शिल्प। पात्र-सृष्टि भी जानी-पहचानी है। कहीं परिवार-नियोजन में विश्वास करने वाले सन्तति-बहुल युवक हैं तो कहीं दफ्तर के कार्यभार से व्यस्त जीवन व्यतीत करने वाले अफसर जिन्हें अपने दाम्पत्य जीवन के उषाकाल में ही मध्याह्न का आभास होने लगा है। सिनेमा-प्रेमी मनचले युवकों का केरिकेचर प्रस्तुत करने में अतिरंजना भले ही हो किन्तु ऐसे मूढ़ों को मार्ग बताना 'सविता गहि भूमि पै डारिवो है।'

नाटकों की अभिव्यंजना-शैली की विशेषता यह है कि इनमें लेखक ने अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने के लिए इतने विचित्र उपमान ढूँढे हैं कि लेखक की उद्भावना शक्ति पर विस्मय होता है। प्रायः फिल्मी जीवन के गाने, कथानक और पात्रों की पृष्ठभूमि में अप्रस्तुत योजना की गई है। 'शादी वह दीवार है जो मनुष्य अपनी आत्मा रूपी अनारकली के चारों तरफ चिनता है ताकि वह घुटकर मर जाय।' दाम्पत्य जीवन पर व्यंग्य करते हुए लेखक ने अच्छे मार्मिक वाक्य कहे हैं। सन्तति-निग्रह के युग में दो बच्चों का एक साथ पैदा होना ही कुछ कम अभिशाप नहीं है। 'खिड़की की राह' एकांकी में गायक दिलीप की अर्थ-गर्भ उक्ति आज के प्रपंची समाज की कार्य-शैली का पूरा-पूरा परिचय देने में समर्थ है। दिलीप खिड़की की राह घर में आया—अर्थात् 'बैक डोर पॉलिसी' स्वीकार की और उसने कार्यसिद्धि इतनी क्षिप्रता के साथ की कि दरवाजे से आने वाले लोग देखते रह गए। 'समाज उसके आगे झुकता है जो खिड़की की राह कूदकर उसे दबा सके। जिसने दरवाजा पकड़ा, वह तो उसका गुलाम है।' प्रवीण धोखा खाता है और उर्मिला दिलीप के साथ—कलाकार के साथ (?)—नौ-दो ग्यारह होती है। 'ओ मेरे सपने' शीर्षक एकांकी में सिनेमा-प्रेमियों का केरिकेचर प्रस्तुत करते हुए, दूसरे दृश्य में तीनों का सरिता के घर पहुँचकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रणय प्रदर्शन अधिक युक्तिसंगत और स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता, फिर भी लेखक ने उ वर्णन अवश्य सजीव शैली में किया है। भारतीय फिल्मों के कथानक, संगीत, सम्वाद आदि भी लेखक ने प्रसंग-प्राप्त रिमार्क कसे हैं और फिल्मों की अस्वाभाविक शैली का अच्छा खींचा है। फिल्मी सितारों के पीछे मतवाले मूढ़ों की कसक-कहानी कहते समय उनके 'विश थिंकिंग' का वर्णन नाटकीय शैली में अभिराम है।

इस संग्रह के प्रत्येक नाटक के साथ लेखक ने रंगमंच की रचना का निर्देश देने के नि चित्र बनाए हैं जिनके आधार पर 'सैटिंग' तैयार की जा सकती है। अभिनय में रुचि रखने के लिए कुछ ज्ञातव्य बातें भी प्रारम्भ में लिखी हैं, जिनकी उपादेयता में किसी को सन्देह नहीं सकता। अन्त में 'मैं भी खेल चुका हूँ' शीर्षक एक लघु लेख है जिसमें लेखक ने अपनी अ नय-सम्बन्धी प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए अपने वे अनुभव लिखे हैं जो किसी भी अभिनेता लिए ग्राह्य हो सकते हैं। आजकल स्कूल, कॉलेज तथा अन्य अव्यावसायिक (एमेचर) ना संघ अभिनय की दिशा में तीव्रता से कदम बढ़ा रहे हैं। क्या ही अच्छा हो कि अनुभवी ले और अभिनय में रुचि रखने वाले कलाकार उन्हें उचित परामर्श और निर्देशन देकर सत्पथ आरूढ़ करें। लेख 'पर्सनल' होने पर भी अभिनय में रुचि रखने वालों के लिए उपयोगी है।

संक्षेप में, श्री माथुर के इन नाटकों में भले ही वस्तुगत मौलिकता या नाटकीय उद्भावना न हो किन्तु उनकी सरस और सहज अभिव्यंजना ही इनकी नवीनता है और यही इन विशेषता भी। गम्भीर समस्याओं में उलझने के बजाय लेखक यदि कभी-कभी दैनिक जीवन छोटी-मोटी विडम्बनाओं पर भी नजर रखे तो यह कला के क्षेत्र में स्पृहणीय प्रवृत्ति का सूचक है।[1]

विश्वम्भर 'मानव'

परिव्राजक की प्रजा

'परिव्राजक की प्रजा' में श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने छोटे-छोटे अनेक संस्मरणों के रूप में अपन आत्म-कथा लिखी है। शान्तिप्रिय के पिता संन्यासी हो गए थे। ग्रन्थ में इन्हीं संन्यासी (परि व्राजक) पिता की सन्तान (प्रजा) की जीवन-गाथा वर्णित है।

इतने बड़े ग्रन्थ से इस बात का पता नहीं चलता कि शान्तिप्रिय का जन्म कब हुआ पर इनका बचपन का नाम मुच्छन था। इनके पिता आजमगढ़ जिले में बरहँपुर गाँव के निवा थे। संस्कृत की शिक्षा के लिए वे काशी आए। बाद में संन्यासी हो गए। परिवार वहीं रह लगा। इनकी माँ की मृत्यु इनके बचपन में ही हो गई थी। बड़ी बहन कल्पवती बाल-विध थी। उसी पर इनके भरण-पोषण का भार पड़ा। इनके दो छोटे भाइयों की मृत्यु अल्पावस्था में ही हो गई। एक दिन पिता की दुःखद मृत्यु का समाचार मिला। छोटी बहन का विवाह

---

१. ओ मेरे सपने (एकांकी-संग्रह)—ले० जगदीशचन्द्र माथुर। प्र०—नीलाभ प्रकाशन गृह, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक गाँव में हुआ था। वह भी चल बसी। लेकिन इन्हें जीवन का सबसे बड़ा आघात उस समय लगा जब मार्च १६३६ में इनकी बड़ी बहन की मृत्यु एक अस्पताल में हो गई और उसे बचाने के लिए ये कुछ नहीं कर सके।

इस ग्रन्थ में दो ही व्यक्ति प्रमुख हैं—एक शान्तिप्रिय, दूसरी उनकी बड़ी बहन। बड़ी बहन करुणा की सजल मूर्ति है। वह बाल-विधवा अपने छोटे-से जीवन में माता-पिता, छोटी बहन और दो कोमल भाइयों की मृत्यु का आघात झेलती है और बच्चे के समान शान्तिप्रिय का लालन-पालन करती है। शान्तिप्रिय ने उन्हें धार्मिक, सुरुचिपूर्ण, आचार-विचार का ध्यान रखने वाली और परिश्रमी चित्रित किया है। उनकी तुलना मीरा और स्वर्ग की कल्पलता से की है। इस बहन के प्रति शान्तिप्रिय के हृदय में अत्यधिक श्रद्धा है; अतः वर्णन प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण और अतिरंजित हो गए हैं। अपने को बधिर और कृशकाय बतलाया है। इस कृशता की तुलना उन्होंने मृगशावक, शशक, कुड्मल और ओसबिन्दु से की है। ये उपमान उनके लिए कहाँ तक उपयुक्त हैं, यह तो वे ही लोग बता सकेंगे जिन्होंने उनके कभी दर्शन किए हैं।

इस आत्म-कथा में शान्तिप्रिय ने अपने साहित्यिक और सांसारिक जीवन के विकास के साथ अपनी बड़ी बहन के प्रति हृदय की समस्त श्रद्धा उंड़ेलते हुए अपने अभावों का खुला वर्णन किया है। यद्यपि लेखक के अकर्मण्य होने और विषम परिस्थितियों में संघर्ष से पलायन करने के कारण इस कृति से पाठकों को कोई सामाजिक प्रेरणा नहीं मिलती, फिर भी इसके कुछ स्थल बड़े मर्मस्पर्शी और पठनीय बन पड़े हैं।

वर्णन की दृष्टि से यह ग्रन्थ थोड़ा महत्त्वपूर्ण है। शान्तिप्रिय को कवि-हृदय मिला है और उसका प्रभाव उनकी गद्य-शैली पर भी पड़ा है। विभिन्न प्रसंगों के बीच सरयू-तट और सरोवर, खेत और अमराइयों, शरद चाँदनी और पटपर, कनेर, नीबू, नीम और बेर जिस किसी भी वस्तु को इन्होंने बाह्य वस्तु-वर्णन के रूप में ग्रहण किया है, उसे चमका दिया है। काशी तो बहुत ही सजीव होकर इनके संस्मरणों में आई है।

इन संस्मरणों में अनेक व्यक्तियों की चर्चा हुई है। राजनीतिक क्षेत्र में जिन महापुरुषों की चर्चा है, उनकी झाँकियाँ ही इस ग्रन्थ में मिलती हैं। नाम तो इन्होंने बहुत-से व्यक्तियों के लिये हैं जैसे महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, सरोजनी नायडू, गणेश शंकर विद्यार्थी और चन्द्रशेखर आजाद आदि; पर इसे राजनीतिक महापुरुषों का सम्पर्क नहीं कह सकते। इनमें से किसी को इन्होंने दूर से देखा-भर है, किसी का भाषण सुना है, किसी के पास खड़े हो गए हैं और किसी के बढ़कर चरण भी छू लिए हैं। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में थियॉसोफ़ीकल सोसाइटी, आर्य समाज और ईसाई प्रचारकों की चर्चा-मात्र है। इससे इनके मन की किसी गहरी प्रतिक्रिया का पता नहीं चलता।

शान्तिप्रिय अन्ततः साहित्यिक व्यक्ति हैं। इनके छोटे-छोटे दो कविता-संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। कवि के रूप में तो इन्हें ख्याति नहीं मिली, पर आलोचक के रूप में इन्होंने यश का अर्जन किया। यह वह युग था जब हिन्दी में आलोचना की परम्परा प्रारम्भ नहीं हुई थी और छायावादी काव्य को सहृदयता की दृष्टि से देखने वाले समीक्षक एक प्रकार से थे ही नहीं। उस युग में अपने ढंग से उस शाखा का भावात्मक विवेचन करके इन्होंने बड़ा समयो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पयोगी कार्य किया। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी में आलोचना के ऐतिहासिक विकास की चर्चा जब कभी होगी, तभी अन्य प्रभाववादी आलोचकों के साथ इनका नाम लिया जायगा। इस ग्रन्थ में कविताओं के लम्बे उद्धरणों से इस बात का आभास मिलता है कि अपने कवि-रूप के प्रति कुछ आवश्यकता से अधिक मोह इनके हृदय में अब भी शेष है। पर इस दिशा में इनकी स्थिति कुछ-कुछ वैसी ही रहेगी जैसी पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० देवराज और प्रभाकर माचवे की।

साहित्यिकों में प्रसाद और राय कृष्णदास की चर्चा थोड़ी अधिक है। अन्य साहित्यकारों में प्रेमचन्द, बनारसीदास चतुर्वेदी, कृष्णबिहारी मिश्र, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, उग्र, दुलारेलाल भार्गव, निराला, पन्त, महादेवी, 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा और रामकुमार का उल्लेख हुआ है। विभिन्न क्षेत्रों की इन सूचियों से ऐसा विश्वास जगेगा कि लेखक ने इस ग्रन्थ में अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक हलचल का परिचय दिया होगा। पर युग-चेतना शान्तिप्रिय जी में है ही नहीं। यह युग सभी दिशाओं में अनेक महान् घटनाओं का युग है; पर इस ग्रन्थ में किसी भी महान् घटना की कोई महान् प्रतिक्रिया नहीं पाई जाती। कहा जा सकता है कि राजनीति, धर्म, समाज और शिक्षा उनके क्षेत्र नहीं हैं और महात्मा गांधी, एनी बीसेंट, महामना मालवीय आदि की जो चर्चा हो गई है वह वैसे ही; पर साहित्य तो उनका क्षेत्र है। इस क्षेत्र में भी सिवाय एक प्रकार की मुग्ध दृष्टि के और कुछ नहीं पाया जाता।

दूसरी प्रवृत्ति जो थोड़ी खटकती है वह है इनका अधिकतर साहित्यिकों को स्वार्थ की दृष्टि से देखना। ये जिस किसी के सम्पर्क में आते हैं उससे आश्रय या आर्थिक सहायता की आशा करते हैं और क्योंकि ऐसा सदैव सम्भव नहीं होता; अपने हृदय के असन्तोष को ये छिपा नहीं पाते। प्रसाद, राय कृष्णदास, पन्त और महादेवी सभी से ये इस दृष्टि से असन्तुष्ट दिखाई देते हैं। इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द, मैथिलीशरण और 'निराला' पर भी दबे-छिपे व्यंग्य इन्होंने किए हैं। संस्मरणों में दो ही ऐसे सौभाग्यशाली व्यक्ति हैं जिन्हें शान्तिप्रिय की प्रशंसा प्राप्त हुई है—उनमें से एक है हिटलर, दूसरे श्री दुलारेलाल भार्गव।

यह आत्म-कथा कई समस्याएँ हमारे सामने उठाती है। पहली है मनोवैज्ञानिक। बाधाएँ सभी के जीवन में रहती हैं—कलाकार के जीवन में कुछ अधिक। जीवन-संघर्ष में व्यक्ति या तो परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है या फिर उनसे दब जाता है। दुःख से दबने वाला व्यक्ति आत्म-रक्षा के लिए प्रायः परमुखापेक्षी हो जाता है। संवदेनशील और अन्तमुखी स्वभाव के व्यक्ति के साथ उलझन यह रहती है कि वह सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से आशा तो बहुत कुछ करता है, पर अधिक खुलकर कुछ नहीं कह पाता। चाहता वह यह है कि सामने का व्यक्ति उसकी कठिनाइयों को स्वयं समझकर उन्हें दूर कर दे। यदि नहीं करता तो जैसे वह कोई अपराध करता है। ऐसी दशा में परोपजीवी स्वभाव के हीन-भावना युक्त दुर्बल प्राणी कभी-कभी व्यक्ति और संस्थाओं से आगे बढ़कर अपने जीवन के अभाव और पीड़ा के लिए सारे समाज को ही दोष देने लगते हैं, यद्यपि व्यक्ति और समाज का उतना बड़ा दोष नहीं होता।

दूसरी समस्या है साहित्यिक। व्यक्ति के साहित्य पर उसके जीवन की घटनाओं और स्वभाव का कहीं-न-कहीं प्रभाव पड़ता ही है। लेकिन यदि किसी व्यक्ति की यह धारणा बन गई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

है कि वह तो है निरीह और उसके चारों ओर का वातावरण है एकदम विपरीत; तो यह बहुत सम्भव है कि वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण विकृत हो उठे और प्रत्येक उस व्यक्ति को जो किसी रूप में उसके काम नहीं आया, निरपेक्ष और न्यायपूर्ण दृष्टि से वह न देख सके। इस आत्म-कथा में जिन बड़े साहित्यकारों के सम्पर्क में लेखक आया है उनके व्यक्तित्व और साहित्य में बहुत-सी ऐसी बातें उसे मिल सकती थीं जो पाठकों की उत्सुकता-वृत्ति को तुष्ट करके संस्कारों को व्यापक और कोमल बनातीं। आलोचक होने के कारण लेखक यह काम अत्यन्त विदग्धता से कर सकता था; पर खेद की बात है कि उसने अपने युग के सभी बड़े साहित्यकारों को बड़े सीमित और संकुचित दृष्टिकोण से ही देखा।

तीसरी समस्या है सामाजिक। यह मानते हुए भी कि शान्तिप्रिय जी में अपनी परिस्थितियों से ऊपर उठने की शक्ति नहीं रही, इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि बचपन से ही उनके अन्तर में एक ऐसा उज्ज्वल संस्कार निहित था जो धीरे-धीरे साहित्य के क्षेत्र में उन्हें खींच लाया। यदि शान्तिप्रिय जी साहित्य के क्षेत्र में न आए होते तो कहा नहीं जा सकता वे क्या होते। यह बात यद्यपि साहित्यिक आलोचना के बाहर की है, फिर भी क्योंकि एक साहित्यिक के जीवन से सम्बन्ध रखती है, अतः उपेक्षणीय नहीं है। आलोचना के क्षेत्र में अपनी क्षमता के अनुसार शान्तिप्रिय जी ने हमें कुछ-न-कुछ दिया ही है। उनकी नाम-मात्र की शिक्षा-दीक्षा और दुर्बल शरीर को देखते हुए यह भी स्पष्ट है कि जीविकोपार्जन के लिए वे कोई और काम कर भी नहीं सकते थे। आज के युग में यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि दो-एक साहित्यिकों को छोड़कर हिन्दी में कोई लेखक केवल अपनी रचनाओं के बल पर जीवित नहीं रह सकता। ऐसी दशा में यदि हम सभी मिलकर एक 'लेखक निधि' की स्थापना कर सकें और भविष्य में अपने संकट-ग्रस्त लेखकों की जीवन-ज्योति को असमय बुझने से बचा सकें तो एक महान् कार्य की नींव डाल सकेंगे। साहित्यिक से आलोक और आनन्द चाहे संसार-भर को मिले, पर उसका दर्द केवल साहित्यिक ही समझ सकता है।[1]

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

बालशौरि रेड्डी

तेलुगु साहित्य का इतिहास

तेलुगु साहित्य का इतिहास इतना विस्तृत है कि उसे सौ या सवा सौ पृष्ठों में समझाना कठिन है। ऐसी स्थिति में 'तेलुगु और उसका साहित्य' भूमिका आदि को मिलाकर १२५ पृष्ठों में तैयार की गई है। इसमें कितना विषय दिया जा सकता है, पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि इसमें लेखक ने तेलुगु-साहित्य के इतिहास की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है। उन्हीं के शब्दों सुनिए—"मैंने इसमें 'गागर में सागर' भर देने की विनम्र चेष्टा की है। तेलुगु साहित्य का इतिहास इतना विस्तृत और गम्भीर

१ लेखक—शान्तिप्रिय द्विवेदी, प्रकाशक—इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि इस ज़रा-सी पुस्तक में उसकी रूप-रेखा प्रस्तुत करना कठिन काम था। मैंने इस विषय का ध्यान रखा कि हिन्दी के माध्यम से आन्ध्रेतर भाषियों को तेलुगु-साहित्य का परिचय सरल ढंग से मिल जाय।"

तेलुगु साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। आधुनिक तेलुगु साहित्य के युग-प्रवर्तक स्वर्गीय श्री वीरेश लिंगम पंतुलुजी ने अपने 'आन्ध्र कवुल चरित्र' (आन्ध्र कवियों का इतिहास) में ग्रन्थ को अधिक सुगम व सरल बनाने की दृष्टि से कवि तथा काव्यों को तीन प्रधान भागों में बाँटा था जो क्रमशः (१) प्राचीन कवि (२) मध्य-युग के कवि तथा (३) आधुनिक कवि थे। श्री गुरजाड राममूर्तिजी ने अपने 'कवि जीवितमुल' (कवियों की जीवनियाँ) नामक ग्रन्थ को कवियों की रचनाओं के आधार पर (१) महाभारत के कवि (२) रामायण के कवि और (३) प्रबन्धों के कवि नाम से काल-विभाजन किया है। परन्तु विषय की दृष्टि से महाभारत, रामायण और प्रबन्ध ही नहीं बल्कि नाटक, कहानी, उपन्यास, जीवनियाँ, शतक, खण्ड-काव्य, रीति-ग्रन्थ आदि भी तेलुगु में समय-समय पर रचे गए हैं। तेलुगु का शतक साहित्य इतना समृद्ध है कि उसने अपना एक युग ही बना लिया है। ऐसी दशा में उपयुक्त ग्रन्थों का प्रतिनिधित्व करने वाला युग ही नहीं रहा।

इनके बाद श्री के० वेंकेट नारायणरावजी ने 'आन्ध्रवाङ्मय चरित्र संग्रहम' (आन्ध्र-साहित्य के इतिहास का संग्रह) नाम से एक तेलुगु साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया। उन्होंने इस ग्रन्थ को पाँच प्रधान खण्डों में विभक्त किया, जिनके उपखण्ड भी हैं। ये इस प्रकार हैं।

(१) प्राचीन कविता ई० पू० २८ से ई० सन् १००० तक
(२) पुराण कविता ई० स० १००१ से १३८०
  (अ) चालुक्यपोड्युग (१००१—१२००)
  (आ) काकतीययुग (१२०१—१३८०)
(३) काव्य तथा प्रबन्ध कविता ई० १३८१—१६५०
  (अ) रेड्डी, नायक, कर्नाटक युग (१३८१—१५००)
  (आ) श्री रायल युग (१५०१—१६५०)
(४) अर्वाचीन कविता ई० १६५१—१८६०
  (अ) मध्य युग—शतक (१६५१—१८००)
  (आ) सन्धियुग—(१८०१—१६००)
(५) नवयुग १६०१ से आज तक

इस पुस्तक में लेखक ने काव्य-रचना व काव्य-लक्षणों के आधार पर काव्य-विभाजन किया है जो अधिक युक्तिसंगत मालूम होता है। परन्तु इसमें भी इस समय मतभेद हैं। तेलुगु साहित्य के मर्मज्ञ आलोचक श्री कोरडा रामकृष्णय्याजी ने तेलुगु-साहित्य के इतिहास का निम्न प्रकार से विभाजन किया है।

(१) अज्ञात युग ई० पू०	२८ से १००० तक
(२) भाषान्तरीकरणयुग या कवित्रययुग	१००१—१३५०
(३) सन्धियुग या श्रीनाथयुग	१३५१—१५००
(४) प्रबन्धयुग या रायलयुग	१५०१—१७००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) दक्षिणदेश वाङ्मययुग १७०१—१९००
(६) आधुनिक युग १९०१—आज तक

उपर्युक्त सभी काव्य-विभागों में श्री कोरडा रामकृष्णय्याजी का युग-निर्णय काव्य, लक्षण, कवि तथा युग की परिस्थितियों के अनुकूल है। प्रत्येक युग का नाम अपने समय के साहित्य का परिचय दे रहा है।

परन्तु इस ग्रन्थ के लेखक ने काल-विभाजन में एक दूसरी पद्धति को ही अपनाया, किन्तु इस काल-निर्णय के सम्बन्ध में अपनी राय स्पष्ट नहीं की। इसके अलावा इसका युग-निर्णय अधिक भ्रमात्मक है। उदाहरण के लिए देखें—लेखक ने साहित्य के इतिहास का इस प्रकार वर्गीकरण किया है।

(१) अति प्राचीन साहित्य ई० स० ५००—१०००
(२) पुराण युग १००१—१३००
(३) काव्य काल १४००—१७००
(४) ह्रास काल १६५०—१९००
(५) आधुनिक काल १८५०—१९५० तक

इसमें पुराण युग ई० सन् १००१ से १३०० तक माना गया है। इसके बाद काव्य-काल १४०० से प्रारम्भ होता है। १३०१ से १४०० तक कौनसा काल था? समझ में नहीं आता। इसमें लेखक व प्रकाशक दोनों का ध्यान नहीं गया है। वैसी ही भूलें और देखिए—काव्य-काल १४०० से १७०० तक है और ह्रास-काल १६५० से १९०० तक माना गया है। ऐसी स्थिति में काव्य-काल को १४०० से १६५० तक ही मानते तो अच्छा होता। १७०० तक काव्य-काल ही था तो ह्रास-काल १७०१ से मानना चाहिए था। ऐसे ही ह्रास-काल १६५० से १९०० तक है तो आधुनिक काल १८५० से ही प्रारम्भ हो जाता है, जो पाठकों को संदेह में डाल देता है। इसे स्पष्ट करना चाहिए था।

पुस्तक की छपाई, सफाई व गेट अप सुन्दर एवं सुरुचिपूर्ण है। पुस्तक की शैली व विषय-प्रतिपादन का ढंग भी उत्तम है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखक तेलुगु व हिन्दी के अच्छे विद्वान् हैं और बहुत ही परिश्रम के साथ पुस्तक की तैयारी की है। ग्रन्थ के आरम्भ में तेलुगु-प्रदेशः जनता व भाषा और अन्त में विविध प्रवृत्तियाँ तथा पत्र-पत्रिकाएँ व संस्थाएँ निबन्ध जोड़कर लेखक ने स्वर्ण में सुगन्ध का कार्य किया है। भाषा विषय के अनुकूल है। गम्भीर विषयों को समर्थ भाषा में संक्षिप्त में समझाने का लेखक ने अच्छा प्रयत्न किया है। आन्ध्रेतर भाषियों को तेलुगु भाषा व साहित्य के विकास का ज्ञान कराने के लिए यह पुस्तक पर्याप्त एवं सुन्दर है।

इतना होते हुए भी यत्र-तत्र छपाई की भूलें रह गई हैं। ये भूलें लेखक की ओर से तो हो ही नहीं सकतीं, तेलुगु का ज्ञान न होने के कारण छपाई में ही हो गई होंगी, ऐसा मेरा विश्वास है। उदाहरण के लिए :

येद्लनिनन् की जगह—येट्लनिमन्[१], जेस्वु—जेरुवु[२], कोनबुद्धारेड्डी—गोनबुद्धारेड्डी[३],

१. पृष्ठ २३, पंक्ति २।
२. ,, ,, ,, ३।
३. ,, २४ ,, ५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विन्नकोट पेद्धन्न—विन्नकोट पेद्दना[४], अल्लसानि पेद्धन्न के स्थान पर अल्लसानि पेद्दना[५], छपवाना चाहिए था। यह भूल तो सर्वत्र हुई है। मुद्दु पल्लु के स्थान पर मुद्दु पल्कु[६] होना चाहिए। ऐसी ही भूल गजोपाख्यान गयोपाख्यान[७] के स्थान पर छपी है, जिससे अर्थ का अनर्थ हो गया है। बोंदेलपाटि के स्थान पर बोंद्देन्नपाटि[८], मोट्टूरि के स्थान पर मोट्ट् रि[९] छपे हैं।

इनके अलावा एक विचित्र गलती यह छपी हुई है कि अंग्रेजी के महान् कवि व नाटककार की कृति कामेडी ऑव एर्रर्स (Comedy of Errors)[१०] की जगह पर 'कामेडी ऑव टू एर्रर्स' छपा है। यह भूल कैसे हुई, पता नहीं चलता है।

लेखक ने श्री गोपीचन्द की रचनाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'असमर्थु नि जीवित यात्रा' तथा 'देवुनि जीवितं'[११] इनके छोटे-छोटे उपन्यास हैं। परन्तु स्मरण रहे कि 'देवुनि जीवितं' गोपीचन्द का उपन्यास नहीं बल्कि उनकी कहानियों का संग्रह है। उनके दो उपन्यास और हैं—वे 'परिवर्तनम्' और 'ना क्रोत्त नवल' (मेरा नया उपन्यास) हैं।

प्रगतिशील कवि श्री आरुद्र के बारे में परिचय वाक्य लिखा है कि 'कविता और विचार-धारा में ये अपने मामा से प्रेरित हैं।'[१२] परन्तु इस बात का कहीं ग्रन्थ में उल्लेख नहीं हुआ है कि इनके मामा कौन हैं। अधिकांश तेलुगुभाषी जनता को यह नहीं मालूम कि इनके मामा तेलुगु-प्रगतिशील साहित्य के प्रवर्तक श्री श्री रंगम श्री निवासराव (श्री श्री) हैं। ऐसी दशा में हिन्दी जगत् को कैसा मालूम होगा? सम्भवतः परिचय देना भूल गए होंगे।

इन त्रुटियों को अगले संस्करण में सुधारा जाय तो पुस्तक सुन्दर व उपादेय बन सकती है। विषय जो कुछ भी दिया है, सुन्दर एवं प्रामाणिक है। कुछ कवि और काव्यों के सम्बन्ध में जो मतभेद हैं, उनका विवरण ग्रन्थ-विस्तार के भय से देना छोड़ दिया मालूम होता है। हाँ, प्रत्येक काल के विषय में आरम्भ में उस युग की सामाजिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों का कुछ विस्तारपूर्वक परिचय करते तो अच्छा होता।

अन्त में हम इसके सम्पादक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' को बधाई देना चाहते हैं। उन्होंने भारतीय साहित्य परिचय नामक ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी जगत् को समस्त भारतीय भाषाओं व साहित्यों के विकास की रूप-रेखा का परिचय कराने का संकल्प किया है। इस ऐतिहासिक प्रकाशन के लिए श्री सुमन जी धन्यवाद के पात्र हैं। उनके इस स्तुत्य प्रयत्न की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही होगी।[१३]

---

४. पृष्ठ २७ पंक्ति १८।
५. ,, ४४ ,, ६।
६. ,, ४८ ,, १२।
७. ,, ८६ ,, १०।
८. ,, १२० ,, ८।
९. ,, १२६ ,, २।
१०. ,, ५२ ,, २४।
११. ,, १०३ ,, २४।
१२. ,, २०२ ,, २४।
१३. तेलुगु और उसका साहित्य, लेखक—हनुमच्छास्त्री, 'अयाचित'। सम्पादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन'। प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, बम्बई, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

द्विवेदी-पत्रावली

किसी भी साहित्य के अध्ययन की सामग्री में पत्र-साहित्य का अपना विशेष स्थान है। बहुत-सी बातें जो सार्वजनिक रूप से नहीं कही जा सकतीं या जो सार्वजनिक रूप से ज्ञात नहीं होतीं वे पत्रों में सहज ही स्वीकार कर ली या कह दी जाती हैं—वह भी ऐसे क्षणों में जब पत्र-लेखक अपने स्वभाव और अकृत्रिम रूप में होता है। यदि पत्र-लेखक कोई उच्चकोटि का साहित्यिक या कलाकार हुआ तो उसकी सरल एवं सजीव शैली साहित्य की निधि बन जाती है। उसमें उसका वास्तविक व्यक्तित्व निखर उठता है जिससे साहित्य के विद्यार्थी को उसे समझने में अमूल्य सहायता प्राप्त होती है। इतना ही नहीं साहित्यिक पत्रों का सम्यक् रूप से अध्ययन करने से युग-विशेष की साहित्यिक परिस्थितियों, व्यक्तियों, रचनाओं, भावनाओं, रचना-विशेष के मूल स्रोतों और प्रेरणाओं के रहस्योद्घाटन आदि के सम्बन्ध में हमारी जिज्ञासा-वृत्ति की परितुष्टि और ज्ञानपिपासा की शान्ति होती है; हमारी कल्पना में उस युग-विशेष का रूप साकार हो उठता है। पत्रों के साथ-साथ यदि आत्म-कथाओं और संस्मरणों का अध्ययन भी किया जाय तो निस्सन्देह हम युग-विशेष का मेरुदण्ड पहचान सकेंगे। किन्तु पत्र-साहित्य, आत्म-कथाओं और संस्मरणों का जितना अधिक महत्त्व है उतना ही उनका कलापूर्ण सर्जन कठिन है। संवेदनशीलता, विदग्धता, सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, युग-मन को पहचानने की क्षमता, उसकी परिस्थितियों और वातावरण की पृष्ठभूमि को ठीक-ठीक समझना और मूल्यांकन करना और स्वयं उस युग की भावनाओं में पैठना, इन बातों के साथ-साथ उन्हें संक्षेप में उपयुक्त एवं अर्थपूर्ण शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करना प्रतिभापेक्ष्य है। सभी लोग ऐसा नहीं कर सकते। शैली, बायरन, गोर्की, शॉ, रवीन्द्रनाथ आदि महान् कवियों और कलाकारों के पत्र आज विश्व-साहित्य में समादृत हैं और वे विश्व-साहित्य के आवश्यक अंग बन गए हैं। यह सन्तोष का विषय है कि हिन्दी में भी साहित्य-प्रेमियों का ध्यान इस ओर जाने लगा है। पुस्तक संग्रह साहित्य के इसी अनिवार्य रूप के अभाव की पूर्ति है।

हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्दनारायण मिश्र, 'प्रेमघन', द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त आदि के पत्रों का यदि संकलन कर दिया जाय तो आधुनिक हिन्दी-साहित्य की गति-विधि पर यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है। पद्मसिंह शर्मा और सत्यनारायण कविरत्न के पत्रों में जो विचक्षणता है, वह हिन्दी साहित्य की अपनी चीज है। द्विवेदी जी के मानव-रूप एवं साहित्यिक व्यक्तित्व दोनों ही का हिन्दी-साहित्य ऋणी है। प्रस्तुत पत्र-संग्रह से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि द्विवेदी जी साहित्यिक कार्यों में कितना व्यस्त रहते थे, किस प्रकार उदीयमान कवियों और लेखकों को प्रोत्साहित तथा उनका मार्ग-प्रदर्शन करते थे, खड़ी बोली हिन्दी को किस प्रकार तराश-खराश कर उसका भव्य रूप निर्मित करना चाहते थे, अपने व्यक्तिगत जीवन में वे कितने सरल, निर्लोभ, मितव्यय, संवेदनशील, निर्भीक, प्रखर, स्पष्टवादी समन्वयवादी और अनुशासनपूर्ण थे और किस प्रकार उन्होंने अपने जीवन की भाँति हिन्दी साहित्य को भी नीचे से ऊपर उठाकर उच्च भूमि पर स्थित कर दिया। उनके छोटे-छोटे उपयुक्त शब्द और वाक्य युग-चित्र उपस्थित करने में पूर्णतः सक्षम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। मैथिलीशरण जी को लिखे गए पत्रों के एक-एक शब्द और वाक्य में मैथिलीशरणजी की काव्य-काया की गठन का क्रम स्पष्ट झलकता है। श्रीधर पाठक, राधाकृष्णदास, पद्मसिंह शर्मा, रायकृष्णदास, लल्लीप्रसाद पाण्डेय, केशवप्रसाद मिश्र आदि को लिखे गए पत्रों से बीसवीं शताब्दी हिन्दी-साहित्य के प्रथम पैंतीस-छतीस वर्षों की बड़ी सुन्दर झाँकी मिलती है।

श्री 'विनोद' जी ने द्विवेदी जी के पत्रों का संकलन करके वस्तुतः हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों का उपकार किया है। आशा है वे शेष पत्रों का संग्रह भी शीघ्र ही प्रस्तुत करेंगे। पद्मसिंह शर्मा या बालमुकुन्द गुप्त के पत्रों का प्रकाशन भी भाषा और शैली की कलात्मकता की दृष्टि से वांछनीय होगा। 'विनोद' जी इस ओर भी प्रयत्नशील हों।[1]

महावीर अधिकारी

रजवाड़ा

'रजवाड़ा' श्री देवेशदास द्वारा मूल बंगला में लिखित इसी नाम की पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर है। इस ग्रन्थ में लेखक ने संस्मरणात्मक शैली में राजस्थान के अर्वाचीन इतिहास और प्राचीन गाथाओं का तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ को न उपन्यास कहना उचित है, न केवल-मात्र संस्मरण और न ही इतिहास। क्योंकि लेखक ने तीनों के वस्तु-तत्त्वों को लेकर एक सजीव साहित्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। लेखक ने स्वयं इस ओर संकेत करते हुए लिखा है कि अधिक निकट से जिन लोगों ने राजस्थान को देखा है वे न केवल इतिहास लिख सकते हैं और न मात्र संस्मरण। 'रजवाड़ा' में वर्णित "कहानियों में सत्य, सौन्दर्य, इतिहास और उपकथा इस तरह मिली हुई हैं कि साधारण व्यक्ति के लिए राजहंस की तरह नीर-क्षीर विवेचन करना सम्भव नहीं।" सामान्य पाठक को बहुधा विवेचना करना उतना सुखकर भी प्रतीत नहीं होता। वह इतिहास से विवेचना ग्रहण करता है, उपकथाओं से रोमान और सौन्दर्य की गरिमा को ग्रहण करके ही कृतकृत्य हो उठता है। 'रजवाड़ा' में ये तीनों ही तत्त्व प्रचुर मात्रा में हैं।

पूरी पुस्तक सत्रह अध्यायों में विभाजित है। (१) अभिसार की झलक, (२) हवाई यात्रा, (३) जयपुर की नूरजहाँ, (४) कृष्णाकुमारी की कहानी, (५) राज अतिथि, (६) शिकारी और स्वप्नदर्शी, (७) विवाह और प्रथम प्रणय, (८) सवाई राजा जयसिंह की कहानी, (९) राजपूत का युद्ध-वर्णन, (१०) रसिक जीवन, (११) दरबारी नृत्य, (१२) नई पीढ़ी का विकास, (१३) कत्थक नृत्य की कहानी, (१४) रूपसी रानी पद्मिनी, (१५) रक्षा-बन्धन, (१६) प्रेम-योगिनी मीरा, (१७) महाराणा प्रताप और चारण।

प्रथम अध्याय जय और पद्मा के अभिसार से प्रारम्भ होता है। जय एक सामान्य युवक है और पद्मा किसी रजवाड़े की राजकन्या। पद्मा के लिए प्रेम करना मात्र एक विलास है और वह जय से कहती है कि एक साथ उन्होंने जितने दिन सुख और आनन्द से गुजारे वही अपने-आप में

१. संकलनकर्ता, श्री बैजनाथसिंह 'विनोद'। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्य थे और वही विवेह; फिर वह कभी पन्ना को याद करके अपना समय नष्ट न करे। पन्ना का अभिसार पुराने राजस्थान के अभिसारों अथवा प्रेमाख्यानों से बिलकुल विपरीत कोटि का है। राजस्थान की धरती पर प्रेम ने उत्सर्ग जाना है। नये और पुराने के मध्य ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत करने के लिए यह कहानी एक प्रतीक बन गई है और इसके सहज निष्कर्षों को लेखक ने सभी कहानियों में योजनापूर्वक सँवारा है।

वस्तुतः इस ग्रन्थ की सभी कहानियाँ एक ऐसे मानस की उपज हैं, जिसमें अतीत का गौरव वर्तमान है और जो युग-सन्धि पर खड़ा होकर एक महान् परिवर्तन को घटित होते देख रहा है। लेखक ने सन् १९४७ और उसके बाद के इतिहास में होने वाली रक्तहीन देशी राज्यों की क्रान्ति से प्रेरणा ग्रहण करते हुए पाठक को प्राचीन आख्यानों तक पहुँचाया है। अस्तोन्मुखी ब्रिटिश साम्राज्य के पालित पुत्रों के विलासी जीवन और राजपूती शौर्य, बलिदान और पराक्रम का विशद वर्णन इस ग्रन्थ में सन्निहित है।

'सवाई राजा जयसिंह की कहानी', 'राजपूत का युद्ध वर्णन', 'रूपसी रानी पद्मिनी', 'रक्षा बन्धन', 'महाराणा प्रताप और चारण' के अन्तर्गत यही परम्परागत शौर्य और पराक्रम कूट-कूट-कर भरा है। 'रूपसी रानी पद्मिनी' का एक कथोपकथन इस प्रकार है :

"गढ़ के अन्दर बारह साल के वीर बालक बादल से उसकी चाची ने प्रश्न किया—'बताओ तो बेटा ! मैं जब तुम्हारे चाचा से मिलने के लिए जा रही थी, उस समय उन्होंने कैसा युद्ध किया ?'

"बादल ने कहा, "वे युद्ध-क्षेत्र में ऐसे लग रहे थे मानो धान काटते हुए चल रहे हों। मैं तो सिर्फ इतना ही कर रहा था कि वे तलवार से जिस फसल को काट रहे थे, मैं उसे लांघता हुआ उनके पीछे-पीछे चल रहा था। सम्मान के रक्त से सनी शय्या पर वे मरे हुए दुश्मन का गलीचा बिछाकर और एक यवन राजकुमार को अपना तकिया बनाकर सो गए हैं।

"हँसकर गोरा की पत्नी ने बादल से विदाई ली। बोली, 'बेटा ! मैं चली, देर हो जाने पर वे न मालूम क्या सोचेंगे !' कहकर वह चिता के लिए रवाना हो गई और सती की चिता भभककर जल उठी।"

'रजवाड़ा' में ऐसे स्थाल बार-बार आते हैं जिन्हें पढ़कर पाठक के रक्त में शौर्य हिलोरें लेने लगता है। भाषा और भावों में सामञ्जस्य का भरसक निर्वाह हुआ है, परन्तु कहीं-कहीं लेखक ने काव्य भी लिखने का प्रयास किया है जो प्रसंग के अनुकूल न होकर रसोद्रेक में भारी विघ्न पैदा करता है।

कुछेक बातें हैं जिन पर चर्चा करना अनुपयुक्त नहीं होगा। (१) राजस्थान की गाथाएँ लिखते समय बहुधा लेखक साम्प्रदायिकता के चक्र में फँस जाते हैं—रजवाड़ा का लेखक इस दोष से सर्वथा मुक्त है। (२) रजवाड़ा में लेखक ने अनेक स्थानों पर इतिहास की नवीन उपलब्ध सामग्री तथा अपने विश्लेषण द्वारा आख्यायिकाओं को नव रूप देने की चेष्टा की है। सुझाव यह है कि इस ग्रन्थ की शैली मुख्यतः भाव-प्रधान होने से वे रूखे सन्दर्भ रेगिस्तान की खुश्की पैदा करते हैं। (३) यदि लेखक इतिहास को मूर्तिमन्त करने पर ही अधिक जोर देता तो यह साहित्य आज के स्खलित-चरित्र युवक के लिए अमृत का काम करता। स्थान-स्थान पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुलनात्मकनैतिक निर्देश होने से पूरे-के-पूरे इतिहास को लेखक ने अपने व्यक्तित्व की सीमाओं से बाँधने की चेष्टा की है। यह दृष्टि कथा-साहित्य में ही श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती थी। (५) भाषा भी हिन्दी के पाठकों के अनुरूप नहीं है। गति पर बल नहीं है, चित्रकारी पर आग्रह अधिक है।

लेकिन इसके बावजूद भी लेखक ने कथाओं का निर्वाचन करने में अपने भावुक और प्राणवान व्यतित्व का परिचय दिया है। इन कथाओं में डूबकर उसने जितना लिखा है वह पाठक को भी उस रस के सरोवर में निमन्त्रित कर देता है। हिन्दी में इस शैली पर कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

इस ग्रन्थ की हीलिंग पावर का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसे मैंने रुग्णावस्था में पढ़ा और बार-बार अपने डूबते हुए दिल को उन मृत्युंजय नायकों के सामीप्य से बचाया जिनका उस पुस्तक में वर्णन है और दूसरों को भी यह पुस्तक पढ़ने का परामर्श दिया। गुण-दोष विवेचन की दृष्टि भी इस व्यक्तिगत मंगल भाव से अगर प्रभावित हो गई है, तो इसे भी मैं इस पुस्तक की विजय मानता हूँ।[१]

---

१. रचयिता—श्री देवेशदास। प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकें

क्रम पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
१ पुनरुद्धार	श्री कंचनलता सब्बरवाल	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
२ स्वप्नसिद्धि की खोज में	,, कन्हैयालाल माणिक-लाल मुन्शी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
३ साहित्य के रूप और तत्त्व	,, शिवनन्दन प्रसाद	पुस्तक भण्डार, पटना-४
४ श्रेयार्थी जमनालालजी (संक्षिप्त)	,, हरिभाऊ उपाध्याय	दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा, त्यागराय नगर, मद्रास-१७
५ आर्य संस्कृति के मूल सिद्धान्त	,, सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार	विजयकृष्ण लखनपाल, 'विद्याविहार', देहरादून
६ स्वाधीनता और उसके बाद	,, जवाहरलाल नेहरू	पब्लिकेशन डिवीजन, सूचना तथा प्रसार मन्त्रालय, दिल्ली
७ शल्य-वध	,, उग्रनारायण मिश्र	श्री दूधनाथ पुस्तकालय एण्ड प्रेस, कलकत्ता-७
८ औद्योगिक नीति और पंच-वर्षीय योजना		पब्लिकेशन डिवीज़न, दिल्ली
९ गांधी चरित मानस	,, विद्याधर महाजन	हिन्दी-भवन, जालन्धर और इलाहाबाद
१० मनुष्य की कहानी	,, जयचन्द विद्यालंकार	हिन्दी-भवन, इलाहाबाद
११ हिन्दी शुद्ध लेख	,, आर० सी० मौदल	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१२ आविष्कारकों की कहानी	,, बैजनाथ गुप्ता तथा प्रेमप्रकाश	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१३ वीरता की कहानियाँ	,, बैजनाथ गुप्ता तथा प्रेमप्रकाश	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१४ साहस की कहानियाँ	,, बैजनाथ गुप्ता तथा प्रेमप्रकाश	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१५ शिक्षाप्रद कहानियाँ	,, बैजनाथ गुप्ता तथा प्रेमप्रकाश	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१६ मीठी कसक	,, उमाशंकर शुक्ल	जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
१७	भारतवर्ष की विभूतियाँ	श्री (सम्पादक) डी० आर० टोलीवाल	ग्रेट इंडिया पब्लिशर्स, नागपुर
१८	आखिरी चट्टान तक	,, मोहन राकेश	प्रगति प्रकाशन, दिल्ली
१९	पहली पंचवर्षीय योजना	,, योजना कमीशन	पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली
२०	बाबा बटेसरनाथ	,, नागार्जुन	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२१	बाहर भीतर	डॉ० देवराज	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२२	सच्ची नागरिकता	श्री मनरो लीफ	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२३	एक क़दम आगे	,, मनरो लीफ	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२४	The Jewel of Hindi Literature	Prof. S. N. Sharma	27, Jagjivan Mansion, 2 Fanas Wadi, Bombay-2
२५	मूर्च्छना	,, रामगोपाल रुद्र	चाणक्य प्रकाशन, पटना
२६	हिमशिखर	,, रामगोपाल रुद्र	चाणक्य प्रकाशन, पटना
२७	शिञ्जिनी	,, रामगोपाल रुद्र	चाणक्य प्रकाशन, पटना
२८	मंजीर	,, रामकिशोर 'नवल'	चाणक्य प्रकाशन, पटना
२९	आरोह	,, आलोक	चाणक्य प्रकाशन, पटना
३०	सन्धि-सन्देश	,, कवि किंकर	श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, नया टोला, पटना-४
३१	सन्त-दर्शन	,, डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित	साहित्य-निकेतन, कानपुर
३२	धूल के फूल	,, परमेश्वर 'द्विरेफ'	नवयुग प्रकाशन, नागपुर
३३	ये घर, ये लोग	,, जितेन्द्र	युग मन्दिर, उन्नाव
३४	बहता तिनका	,, कमल जोशी	नवयुग प्रकाशन, दिल्ली
३५	सिन्दूर बिन्दी	,, इकबाल बहादुर	किताब महल, इलाहाबाद-१
३६	हिन्दी-निबन्धकार	,, जयनाथ नलिन	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
३७	सेक्स का स्वभाव	,, मन्मथनाथ गुप्त	आशा प्रकाशन, दिल्ली
३८	सिद्धार्थ	,, हरमन हेस अनु० श्री महावीर अधिकारी	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
३९	शराबी	,, 'उग्र'	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
४०	मानव की परख	,, देवीदयाल सेन	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
४१	अमृत और विष	,, अरुण एम० ए०	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
४२	भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी	,, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
४३	अखंड विश्व	,, आदर्श	आदर्श प्रकाशन, मन्दिर प्रयाग
४४	शैली	,, यतेन्द्र कुमार	भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
४५	बंगला और उसका साहित्य	श्री हंसकुमार तिवारी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
४६	अवधी और उसका साहित्य	डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
४७	मानव और मशीन	श्री लालकृष्ण अग्रवाल	एल० के०, अग्रवाल, बनारस
४८	कम्युनिस्ट पुराण	,, सीताराम गोयल	एशिया में स्वाधीनता संरक्षक संघ—कलकत्ता
४६	मैं कम्युनिस्ट क्यों नहीं हूँ	,, निरुपम भट्टाचार्य इत्यादि	प्राची प्रकाशन, १२, चौरंगी स्क्वायर, कलकत्ता
५०	व्रजभाषा	,, प्रो० धीरेन्द्र वर्मा	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
५१	राष्ट्रीय विकास में सार्वजनिक सहयोग		पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली
५२	प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास	डॉ० रांगेय राघव	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
५३	शेर ओ सुख़न	श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
५४	छितवन की छाँह	विद्यानिवास मिश्र	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
५५	माटी की मुसकान	,, रूपनारायण त्रिपाठी	विकास प्रकाशन, जौनपुर
५६	साहित्यिक निबन्ध	,, राजनाथ शर्मा	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
५७	किसान	,, हरगोविन्द गुप्त	गृहपति प्रकाशन, चिरगाँव, झाँसी
५८	चौलुक्य कुमारपाल	,, लक्ष्मीशंकर व्यास	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
५६	मृत्यु की ओर	,, सन्तोष	सज्जन प्रकाशन, दिल्ली
६०	साँझ	,, नारायणसिंह भाटी	पचिल प्रकासण, जोधपुर
६१	संन्यासी और सुन्दरी	,, यादवेन्द्रनाथ शर्मा 'चन्द्र'	रामपुरिया प्रकाशन, कलकत्ता
६२	भारतीय लोक साहित्य	,, श्याम परमार	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
६३	मीराबाई का जीवन-चरित्र	,, ललिताप्रसाद सुकुल	बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता
६४	नदी प्यासी थी	डॉ० धर्मवीर भारती	किताब महल, इलाहाबाद—१
६५	पारिभाषिक शब्दावलियाँ		गवर्नमेन्ट आफ़ इण्डिया
६६	हिन्दी कथा-साहित्य	श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई
६७	विचार-वीथिका	,, दुर्गाशंकर मिश्र	नवयुग ग्रन्थागार, लखनऊ
६८	अनुभूति और अध्ययन	,, दुर्गाशंकर मिश्र	नवयुग ग्रन्थागार, लखनऊ
६६	भारतीय तत्त्व चिन्तन	डॉ० जगदीशचन्द्र जैन	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
७०	सनसनाते सपने	श्री राधाकृष्ण	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
७१	बँगला की आधुनिक प्रेम कहानियाँ	श्रीमती मृदुला देवी	अखण्ड भारत प्रकाशन, कलकत्ता ३१
७२	भावना के फूल	श्री हनुमान नत्थानी	कमीनुद्दीन एण्ड सन्स बुकडिपो, रामपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
७३	जर्जर हथौड़े	श्री बरुआ	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
७४	सचित्र गृह विनोद	,, अरुण	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
७५	आदर्श भाषण कला	,, यज्ञदत्त शर्मा	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
७६	डूबते मस्तूल	,, नरेश मेहता	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
७७	भारतीय संस्कृति को तुलसी का योगदान	डॉ० बद्देव प्रसाद मिश्र	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर
७८	वैजयन्ती	,, 'चन्द्रमौलि'	सरस्वती सदन, बीकानेर
७९	प्रेमचन्द	सम्पादक,डॉ० इन्द्रनाथ मदान	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
८०	उर्दू साहित्य का इतिहास	श्री सैयद एहतिशाम हुसैन	अंजुमन तरक्की उर्दू (हिन्द), अलीगढ़
८१	सुरीले बोल	,, अजमत उल्ला खाँ	अंजुमन तरक्की उर्दू (हिन्द), अलीगढ़
८२	नवीना	,, गंगाप्रसाद पाण्डेय	रामनारायणलाल, इलाहाबाद
८३	पत्थर की आँख	,, कमल जोशी	रश्मि प्रकाशन, कलकत्ता
८४	कविताएँ १९५४	,, अजित कुमार : देवीशंकर अवस्थी	साहित्य निकेतन, कानपुर
८५	हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास	डॉ० दशरथ ओझा	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

60420

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा-साहित्य में राजकमल प्रकाशन द्वारा

एक समृद्ध प्रकाशन-माला का सूत्रपात

राजकमल-मूल्यांकन-माला

हिन्दी निबन्ध : श्री प्रभाकर माचवे

"निबन्ध क्या है, और हिन्दी-निबन्ध और निबन्धकारों के विकास और सद्यस्थिति पर इस पुस्तक में विवेचन है।...मेरा प्रयास है कि कुछ तथ्य, जो मुझे अपने पढ़ने-लिखने के सिलसिले में हस्तगत हुए, मैं अन्य सहृदयों तक पहुँचाऊँ।"

लेखक—**भूमिका में**

पृथ्वीराज रासो में कथानक-रूढ़ियाँ : श्री ब्रजविलास श्रीवास्तव

"कथानक-रूढ़ियों या कथानक-गत अभिप्रायों के अध्ययन का हिन्दी में सम्भवतः यह प्रथम प्रयास है।...कथानक-रूढ़ियों का अध्ययन केवल साहित्यिक मनोविनोद नहीं है। अब यह सम्पूर्ण मनुष्य को समझने के प्रधान उपकरणों में गिना जाने लगा है।...इस निबन्ध को मैं बहुत महत्वपूर्ण समझता हूँ....इससे साहित्य के अध्ययन की एक नई दिशा को उन्नति मिलती है।"

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—**भूमिका में**

आगामी प्रकाशन

हिन्दी रीति साहित्य : डॉ० भगीरथ मिश्र

पृष्ठभूमि, हिन्दी रीति-शास्त्र, रीति का तात्पर्य, परम्परा, आधार, विविध सम्प्रदाय: अलंकार-सम्प्रदाय के १८ आचार्य, रस-सम्प्रदाय के २२ आचार्य, ध्वनि-सम्प्रदाय के १५ आचार्य, विभिन्न रीति कवि, रीतिकाव्य की प्रवृत्तियाँ, रीतिकाव्य-संग्रह शीर्षक खण्ड।

मध्यकालीन हिन्दी-गद्य : श्री हरिमोहन श्रीवास्तव

"विषय कुछ ऐसा रहा है कि प्राकृत काल से लेकर ब्रजभाषा काल तक के प्राप्य प्रायः सभी गद्य-ग्रन्थों का विवरण, उनके उद्धरण और उदाहरण तथा उनमें विकसित होती हुई गद्य की प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए चलना पड़ा है।"

लेखक—**भूमिका में**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमसे प्राप्य नये उत्कृष्ट प्रकाशनों की सूची

आलोचना, साहित्य, संस्कृति

प्रेमचन्द और गोर्की :
सम्पादिका शचीरानी गुर्टू ६)
हिन्दी के आलोचक : ८)
हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि :
विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ६)
कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक-विवेचन : डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ४)
कबीर साहित्य की परख :
परशुराम चतुर्वेदी ५)
आचार्य केशवदास :
डॉ० हीरालाल दीक्षित ६)
साहित्यानुशीलन : शिवदानसिंह चौहान ६)
कथाकार जयशंकर प्रसाद :
हरस्वरूप माथुर २)
आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ :
नामवरसिंह १॥)
छायावाद की काव्य-साधना :
प्रो० 'क्षेम' एम० ए० ४॥)
हिन्दी दशरूपक :
डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ६।)
बौद्ध-दर्शन तथा भारतीय दर्शन (दो भागों में) : भरतसिंह उपाध्याय १६)
हिन्दू परिवार मीमांसा :
हरिदत्त विद्यालंकार १०)
भारतीय तत्त्व-चिन्तन :
डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ६)
राजस्थान की जातियाँ :
बजरंगलाल लोहिया १२)
कला क्या है : ताल्सताय ||≋)||
सांस्कृतिक प्रश्न :
जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द २॥)

काव्य

त्रिपथगा : भगवतीचरण वर्मा २)
गीत-गुंज :
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' १॥)
धूप के धान : गिरिजाकुमार माथुर ३)
संकलिता : राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह २॥)
सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य नाटक :
सिद्धनाथ कुमार ४॥)
धरती और स्वर्ग : डॉ० देवराज ३)
मुक्तिका : जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द २॥)

कोष

ज्ञान शब्द कोष :
सम्पादक मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव १२)

उपन्यास

एक था : शीला शर्मा २)
कली मुसकराई : सत्यप्रकाश संगर ३)
हेमा : राजेन्द्र शर्मा ३)
पच्चीसवाँ घण्टा :
अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन ६)
उमड़ती घटाएँ : गुरुदत्त वैद्य ६)
मनुष्य और देवता :
भगवती प्रसाद वाजपेयी ३॥)
पवित्र पापी : नानकसिंह ||≋)||
लहरें : रामदेव ६)
पथ से दूर : कमल शुक्ल २)
सेठ बांकेमल : अमृतलाल नागर १॥)
प्रदीप : हितवल्लभ गौतम ५)
समाधान : रामावतार त्यागी २)
रजिया की बेटी : अनु० नरोत्तम नागर ७)
तावीज : अनु० मगनलाल जैन १॥)
मनुष्यानन्द : पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ४)
राजनेता : अनु० चन्द्रदत्त पाण्डेय ६)

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-बम्बई

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ॰ धर्मवीर भारती
सम्पादक डॉ॰ रघुवंश
समिति डॉ॰ व्रजेश्वर वर्मा
श्री विजयदेवनारायण साही

जन. ५५

२४ आलोचना

रि ८४ ३७ आ १४, प्र-

साहित्य (?) : सम्पादकीय
स्थायी मूल्य : डॉ॰ रांगेय राघव
अपना समीक्षा-शास्त्र :
(१) सम्भावनाएँ : डॉ॰ नगेन्द्र
(२) आवश्यकता : डॉ॰ भगीरथ मिश्र
हिन्दी के सामाजिक कथा-नायकों का विकास : श्री राजेन्द्र यादव
हिन्दी का भावी रूप : डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा
डॉ॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
श्री सुमित्रानन्दन पन्त

राजकमल प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक आलोचना

पूर्णाङ्क १४ जनवरी, १९५५

…य १२) एक अंक का ३)

सूची

▲ सम्पादकीय
—जनवादी साहित्य --- १

▲ निबन्ध
—साहित्य का स्थायी मूल्य :
डॉ० रांगेय राघव --- ६
—हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र (सम्भावनाएँ) :
डॉ० नगेन्द्र --- १७
—हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र (आवश्यकता) :
डॉ० भगीरथ मिश्र --- २२
—हिन्दी के सामाजिक कथा-नायकों का विकास
राजेन्द्र यादव --- २७

▲ प्रस्तुत प्रश्न
—हिन्दी का भावी रूप :
डॉ० धीरेन्द्र वर्मा --- ५२
—हिन्दी का भावी रूप :
डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या --- ५६
—हिन्दी का भावी रूप :
सुमित्रानन्दन पन्त --- ५८

▲ अनुशीलन
—दृश्य काव्य में हास्य-तत्त्व :
डॉ० रामकुमार वर्मा --- ६४
—'कान्हड़ दे प्रबन्ध' और उसका पाठ :
डॉ० माताप्रसाद गुप्त --- ६८

▲ मूल्यांकन
—नयी कविता :
बालकृष्ण राव --- ७७
—तीन नये काव्य-संग्रह : 'बावरा अहेरी', 'रात बीती', 'धरती और स्वर्ग' :
डॉ० जगदीश गुप्त --- ८५
—'अंचल' के नये गीत :
गंगाप्रसाद मिश्र --- ९५
—हिन्दी कहानियाँ : शिल्प और शैली :
डॉ० देवराज उपाध्याय --- ९८
—छोटी-बड़ी कहानियाँ :
वीरेन्द्र कृष्ण माथुर --- १०१
—दो कहानी-संग्रह :
मोहन राकेश --- १०३
—टूटे काँटे :
उदयशंकर भट्ट --- १०७
—चाँदनी के खण्डहर :
डॉ० शैल कुमारी --- १०९
—कठपुतली :
जनार्दन मुक्तिदूत --- ११२
—ओ मेरे सपने :
विजयेन्द्र स्नातक --- ११५
—परिव्राजक की प्रजा :
विश्वम्भर 'मानव' --- ११८
—तेलुगु साहित्य का इतिहास :
बालशौरि रेड्डी --- १२१
—द्विवेदी-पत्रावली :
डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय --- १२५
—रजवाड़ा :
महावीर अधिकारी --- १२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४८,४२१

आलोचना

गुरुकुल कांगड़ी
पुस्तकालय
४८,४२१

सम्पादकीय

'जनवादी' साहित्य (१)

साहित्य और समाज में गहरा सम्बन्ध है, इस विषय में कोई मतभेद सम्भव नहीं। परन्तु जैसे ही हम एक कदम आगे बढ़कर इस सम्बन्ध की विशेष छानबीन करने लगते हैं, कठिनाई उत्पन्न होने लगती है। कई प्रश्न खड़े होते हैं। यह सम्बन्ध किस प्रकार का है ? 'समाज' से क्या अर्थ लिया जाय ? और सबसे गहन यह कि यह सम्बन्ध किन स्तरों पर और किन रूपों में साहित्य में अभिव्यक्त होता है ? अन्त में उस अभिव्यक्ति की भूमिका किसी कृति अथवा कृतिकार की श्रेष्ठता एवं महत्ता सिद्ध करने में क्या होती है ! आज तक साहित्य में सामाजिक सम्बन्धों का अनुशीलन करने वाले जो आलोचकगण रहे हैं, उन्होंने अधिकतर इस सम्बन्ध की कभी कम और कभी अधिक अभिव्यक्ति का अन्वेषण-मात्र करके सन्तोष किया है अथवा उपपत्तियों के रूप में कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है, जिन्हें निष्पक्षता के कारण आत्यन्तिक अथवा सर्वव्यापी मानने से उन्हें स्वयम् संकोच होता रहा है। इस संकोच के एकमात्र अपवाद मार्क्स के वे अनुयायी हैं जिनका न्यस्त स्वार्थ किसी राजनीतिक दल अथवा राजसत्ता से सम्बद्ध है।

उनके अनुसार इस समस्या का अन्तिम हल उन्हें प्राप्त हो गया है। यह हल क्या है, इस सम्बन्ध में अब मतभेद की सम्भावना नहीं है। साहित्यकार अथवा समीक्षक के लिए काम सिर्फ इतना रह गया है कि वह इस हल के पक्ष में शीघ्रातिशीघ्र कमर कसकर तैयार हो जाय और जो भी इस हल के विरुद्ध हैं उनका विनाश कर डाले। एक ऐसा पत्थर हाथ लग गया है जो कसौटी और पारस दोनों का काम देता है। प्राचीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन भी हो जाता है और भविष्य के लिए सेना भी सज्जित हो जाती है। इसमें दूसरा कार्य अधिक आवश्यक है और इस सेना की सज्जा में सत्य को छिपाने, घटाने, बढ़ाने, सब प्रकार के प्रयोग क्षम्य हैं। कम्यूनिस्ट आलोचक वी० जे० जेरोम के शब्दों में :

"मार्क्सवादी सिद्धान्त का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि मार्क्सवादी लोग 'जन' से अलग हो जायँ बल्कि इसलिए कि वे 'जन' के साथ जुड़ जायँ। अपने वर्ग के शत्रुओं के साथ मार्क्सवादी अपने मतवैषम्य को सामने रखते हैं; जो साथी हैं, अथवा हो सकते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके साथ मतसाम्य को आगे रखते हैं।''[१]

इस कसौटी को आजकल 'जनवाद' का नाम दिया जाता है और यह साहित्यिक दृष्टि 'जनवादी' साहित्यिक दृष्टि कहकर पुकारी जाती है। चूँकि इस 'जनवादी' दृष्टिकोण के दावे बहुत विशाल हैं और सामयिक हिन्दी आलोचना में इस विषय में उलझन और अस्पष्टता है अतः इसकी छानबीन करना आवश्यक है। अनेक बार 'जन' शब्द के समान 'जनवादी साहित्य' को अत्यन्त व्यापक अर्थ में लिया जाने लगता है और उस समय सामान्य जनता के लोक-साहित्य के रूप में इसे स्वीकार करने का भ्रम किया जाता है। दूसरी सीमा अव्याप्त दोष की भी है जहाँ कुछ विचारक साहित्य में प्राचीन आचार्यों के साधारणीकरण की व्याख्या इस रूप में करने का प्रयत्न करते हैं।

कुछ दिन पहले तक इस 'जनवादी' शब्द से हिन्दी के पाठक अपरिचित थे। अंग्रेज़ी या अन्य यूरोपीय भाषाओं में भी इसका या इसके पर्यायवाची शब्द का प्रचार बहुत पुराना हो, ऐसा नहीं है। स्पेनिश गृहयुद्ध के आसपास साहित्य में 'पापुलर फ्रण्ट' की जो लहर आई उसमें ही पहले-पहल इस जनवादी नारे का असली शोर सुनाई पड़ा। अधिकतर रिवाज अपने को 'प्रोग्रेसिव' या 'प्रगतिशील' कहने का था। कभी-कभी जनवादी का भी नाम आ जाता था। ये 'प्रगतिशील' साहित्यकार भी बड़े आँके-बाँके सजीले नौजवान थे। इन्होंने बड़े-बड़े सपने देखे, आतङ्ककारी दैत्य खड़े किये, एक-एक इश्तिहार पर हजारों वर्ष तक आने वाली मानवता का क्रय-विक्रय किया, एक कविता या कहानी पर पुरानी मित्रताएँ बिगाड़ दीं, एक वक्तव्य पर परम्परागत शत्रुताएँ भुला दीं, और बड़ी गम्भीरता के साथ मानवता की रक्षा करने पर तुल गए। वे ईमानदार थे, साहसी थे और सचमुच भविष्य के सम्बन्ध में जी-जान से चिन्तित थे। उनमें से कितनों ने स्पेनिश प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए अपने प्राण होम किये, कितनों ने कविता लिखना बन्द कर गुप्त पुलिस में नौकरी की, अन्तर्राष्ट्रीय ब्रिगेड में शामिल हुए; जो न हो सके उन्होंने चीख-पुकार भरे पैम्फलेट ही लिखकर सन्तोष किया और कुछ ऐसे भी थे जो इन सब के बीच, आने वाले द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए, सोवियत् रूस के समर्थक एकत्र करते रहे, जो वी० जे० जेरोम के अनुसार ज्यादा ठोस काम था।

यह सब ऐतिहासिक नाटक सरीखा लगता है, जिसकी यवनिका रूस-जर्मनी पैक्ट ने गिराई। इस ज्वर से आक्रान्त होकर जिन लेखकों की विभूति युद्धग्रस्त साहसिकता या अख-बारी कलाबाज़ी से कुण्ठित होने से बच रही उनमें से कुछ तो आज तक स्पेण्डर, आडेन या कोस्लर की तरह तीखे दर्द से छटपटा रहे हैं; कुछ शायद शान्ति-सम्मेलनों या अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालयों में दिखाई पड़ेंगे और कुछ शायद फार्मोसा या कोरिया में अपनी उस 'जनवादी' शिक्षा का दाय चुकता कर रहे होंगे जो उन्होंने स्पेनिश गृहयुद्ध में सीखा था। गृहयुद्धों के प्रेमी इन 'जनवादी' कलाकारों से उलझें तो वे बड़े-बड़े तर्क उपस्थित करेंगे। पर इतना निश्चित है कि उनके तीन-चौथाई तर्क समान होंगे चाहे वे बीसवीं देशान्तर रेखा के उत्तर में पाये जायँ अथवा दक्षिण में।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 'प्रगतिशील' या 'समाजवादी यथार्थवाद' जैसे शब्दों का चलन कुछ कम हो गया है। चीन की 'पीपुल्स डेमाक्रेसी' के उदय के बाद हिन्दी में नये आवेश के साथ 'जनवादी साहित्य' का रिवाज चला है, यद्यपि भारतवर्ष की नई-पुरानी मिली-जुली मुद्रा की भाँति पुराने सिक्के बाजार से बिलकुल

१. वी० जे० जेरोम : कल्चर इन ए चेंजिंग वर्ल्ड, पृ० ७८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गायब नहीं हुए हैं। शब्द चूँकि नया है, अतः उसका स्वाद भी नया है और कभी-कभी तो हमारे सम्मान्य आलोचक भी भूल कर जाते हैं कि शब्द बदल देने से वी० जे० जेरोम की स्थापना में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

सबसे पहला प्रश्न इस 'जन' शब्द को ही लेकर उठता है, क्योंकि इन्द्रजाल का एक बड़ा भाग इस जन के ही तात्पर्य में निहित है। रूसो ने जब बड़े जोर-शोर से दार्शनिक एवं सामाजिक चिन्तन-धारा में इस 'जनसाधारण' की अवतारणा की तभी उसमें रहस्यवाद के कण मौजूद थे, इतना तो मार्क्स और उनके अनुयायी भी स्वीकार करते हैं। बाद में चलकर, कम-से-कम यूरोप में, यह 'जन' दो स्पष्ट वर्गों में बँट गया। मार्क्स ने स्पष्टीकरण के नाम पर सर्वहारी वर्ग और उसके 'जन' होने की घोषणा की। यह सर्वहारा वर्ग 'जन' क्यों है इसका प्रमुख कारण मार्क्स ने उसकी बहुसंख्या नहीं बतलाया, यद्यपि स्थान-स्थान पर वह बहुसंख्या का संकेत भी करता है। मार्क्स के अनुसार कतिपय ऐतिहासिक नियम, जिनकी विवेचना मूलतः दार्शनिक है, सर्वहारा वर्ग के सिर पर 'जन' का सेहरा बाँधने के लिए जिम्मेदार हैं। इन नियमों के अनुसार सर्वहारा समस्त जन के 'ऐतिहासिक उत्तरदायित्व' का वहन करता हुआ, 'जन' का प्रतीक बन जाता है। आगे चलकर मार्क्स के कम्यूनिस्ट अनुयायियों ने यह भी जोड़ा कि सर्वहारा स्वयम् उस ऐतिहासिक उत्तरदायित्व का वहन कर, 'जनत्व' को प्राप्त होने में अक्षम है। इस 'दार्शनिक-ऐतिहासिक' भूमिका को सम्पन्न करने का कार्य कम्यूनिस्ट पार्टी ही कर सकती है, जो दार्शनिक-ऐतिहासिक नियम की जानकारी से सन्नद्ध है। यह भी, कि यह 'जनत्व' को प्राप्त कराने वाला मन्त्र हर कोई नहीं जानता। जो जानता है वह कम्यूनिस्ट हो जायगा, यदि नहीं होगा तो नहीं जानता। दर्शन तक तो बात ठीक थी, किन्तु कार्यक्षेत्र में अवतरित होने पर स्पष्टीकरण का यह प्रयास इस तरह गुरुमुखापेक्षी और रहस्यवादी हो गया कि रूसो की स्थापना इससे कुछ अधिक स्पष्ट जान पड़ती है। आज आवश्यकतानुसार इस 'जन' का अर्थ सर्वहारा, किसान वर्ग, निम्न-मध्यम वर्ग, राष्ट्रीय पूँजीपति और अब तो हर उस व्यक्ति, वर्ग, अथवा संस्था से लिया जाने लगा है जो कम्यूनिस्ट पार्टी और सोवियत् रूस के पक्ष में है।

हिन्दी की सामयिक आलोचना के क्षेत्र में यह दावा किया जाता है कि 'जनवादी' साहित्य अथवा साहित्यिक दर्शन सूक्ष्म, भ्रान्तिबहुल और अस्पष्ट अनिर्वचनीयता के विरुद्ध साहित्यिक उद्देश्य के रूप में एक ठोस, प्रत्यक्ष और पकड़ में आने वाला मानदण्ड प्रस्तुत करता है। इस ठोस मानदण्ड की स्थापना डॉ० रामविलास शर्मा इन शब्दों में करते हैं :

"प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।"

यदि हम इस महान् सूत्र की चकित कर देने वाली गहराई और नवीनता पर ध्यान न भी दें तो भी इसमें ठोसपन कहाँ है, यह प्रश्न बना ही रहेगा। इसको ठोस बनाना हमारे 'जनवादी' आलोचक चाहते भी नहीं। वे किसान-मज़दूर 'संघर्ष' की बात करते हैं, प्रगतिशील 'ताक़तों' का हवाला देते हैं, ह्रासोन्मुख 'शक्तियों' का भय दिखाते हैं और साहित्यकार एवं समीक्षक से माँग करते हैं कि वह इन्हें पहचाने और साहित्य-रचना प्रारम्भ कर दे। हमारे पिछले सम्पादकीय पर कृपा-दृष्टि करते हुए एक सहयोगी कम्यूनिस्ट मासिक-पत्र ने लिखा है—

"शोषित पीड़ित जनता की आत्मोपलब्धि की संवेदना से तादात्म्य स्थापित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना, समाज की कुत्सा की आलोचना करना, समाज को परिवर्तित करने वाली समाज-चेतना को संगठित होने में सहायता देना—आज के उपन्यासकार ने अपने लिए यही कर्तव्य निर्धारित किये हैं ?"

प्रश्न उठता है कि आप समाज को बदलने वाले मजदूरों के किस संगठन की बात कर रहे हैं, आई० एन० टी० यू० सी०, हिन्द मजदूर सभा, या आई० ए० टी० यू० सी० की ? जिस शोषित पीड़ित जनता की ओर आपका संकेत है वह कौनसी है ? जिसने आन्ध्र के चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी को वोट दिये, या कांग्रेस को या सोशलिस्ट पार्टी को ? हम अपने गम्भीर एवं साहित्यिक पाठकों से क्षमा चाहते हुए कहना चाहते हैं कि ये प्रश्न चिन्तन की इस स्थिति में स्वाभाविक और आवश्यक हैं, क्योंकि 'जनवादी' साहित्य के चरम उद्देश्य एवं श्रेष्ठता की समस्या इनके उत्तर पर ही निर्भर करती है; क्योंकि वर्ग-संघर्ष, पूँजीवाद, जनशक्ति, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इन सबका अर्थ तभी निकलेगा जब उसकी कड़ी वर्तमान, प्रत्यक्ष 'जनजीवन' के साथ जोड़ दी जायगी; और क्योंकि हमारे 'जनवादी' बन्धुगण जान-बूझकर स्पष्टतः इन बातों का उत्तर नहीं देना चाहते।

रहस्यवाद दो प्रकार का होता है। एक तो वह जिसमें साधक को सचमुच ज्ञात नहीं होता कि उसका प्रेय है क्या। वह केवल उसका आभास मात्र पाता है और भक्ति करता है। ऐसे रहस्यवादी हमारे सन्त थे। यह ऋजु रहस्यवाद है। दूसरा रहस्यवाद वह होता है जिसमें साधक खूब अच्छी तरह जानता है कि वह क्या चाहता है, किन्तु उसे साफ़-साफ़ कहना शरम या खतरे की बात समझकर शब्दों का आडम्बर खड़ा करता है। हिन्दी में 'जनवाद' के प्रणेता, ये सामाजिक रहस्यवादी, इसी श्रेणी में आते हैं। यह किस कोटि का रहस्यवाद है, इसका उल्लेख करने की हम आवश्यकता नहीं समझते।

'जनवादी' आलोचकों के समस्त ग्रन्थों एवं वक्तव्यों का मनन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने में नितान्त असफल रहे हैं कि हिन्दी साहित्यकार अथवा साहित्य की एक-मात्र कसौटी यही है कि वह कहाँ तक भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को आगे बढ़ाता है, उसके विकास में सहायक होता है।

सैद्धान्तिक विवेचना के सिलसिले में 'जनवादी' आलोचकों के तर्कों का प्रारम्भ कला की उपयोगिता से होता है। वे कला के दो परस्पर-विरोधी शिविर स्थापित करते हैं जिनमें, उनके अनुसार, इतना वैषम्य है कि किसी भी प्रकार का सामञ्जस्य सम्भव नहीं। एक तो वे हैं जो 'कला कला के लिए' मानते हैं, दूसरे कला को जन के लिए, समाज के लिए। 'कला कला के लिए' मान लेना ही उनकी दृष्टि में प्रतिक्रियावाद, जन-विरोध, फलतः विनाश का लक्षण है। साथ ही यह भी कि कला की उपयोगितावादी दृष्टि 'जनवादी' साहित्य की विशेषता है। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि जिस 'जन' के लिए कला को उपादेय बनाया जा रहा है, वह स्वयम् सामाजिक रहस्यवाद के कुहासे में लिपटा हुआ है। अब उपयोगितावादी तलवार की विशेषता एवं इतिहास में किन व्यक्तियों के हाथ से वह चलाई जा चुकी है उसको भी देख लिया जाय। इस सम्बन्ध में हम प्लेखानाव का एक उद्धरण देने का लोभ नहीं संवरण कर सकते :

"मैं यह जोड़ना चाहता हूँ कि प्रत्येक राजसत्ता, जहाँ तक उसकी कुछ भी दिलचस्पी कला में होती है, सदा कला की उपयोगितावादी दृष्टि के ही पक्ष में होती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और यह बात समझ में भी आती है; यह तो उसके स्वार्थ में ही है कि सभी विचारधाराएँ उस उद्देश्य को सिद्ध करें जिसकी सिद्धि में वह स्वयम् संलग्न है। और चूँकि राजनीतिक सत्ता, जो कभी ही कभी क्रान्तिकारी होती है, अधिकतर रूढ़िवादी बल्कि प्रतिक्रियात्मक होती है, अतः यह मानकर चलना बहुत ही गलत होगा कि कला की उपयोगितावादी दृष्टि क्रान्तिकारियों अथवा अग्रगामी विचारकों की अनोखी विशिष्टता है। रूसी साहित्य का इतिहास चित्र की भाँति इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है कि हमारे साम्राज्यवादी 'अभिभावकगण' इस कलात्मक दृष्टि के विरुद्ध बिलकुल नहीं थे। इसमें से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :

सन् १८१४ ई० में वी० टी० नेरेज्नी के उपन्यास 'रूसी गिलब्लास' के प्रथम तीन खण्ड प्रकाशित हुए। इस उपन्यास को फौरन शिक्षा-मन्त्री राजुयोवस्की की आज्ञा से जब्त कर लिया गया और इन महानुभाव ने इस अवसर पर जीवन तथा साहित्य के सम्बन्ध पर इन शब्दों में अपने उद्गार व्यक्त किये :

'ऐसा अक्सर होता है कि उपन्यास लेखकगण दुराचारों का प्रतिरोध करते हुए भी उनका चित्रण ऐसे रंगों में करते हैं या उन्हें इतने विस्तार से वर्णन करते हैं कि नवयुवक इन दुराचारों के प्रति आकर्षित हो जाते हैं, जिनका वर्णन न करना ही बेहतर था। किसी उपन्यास के साहित्यिक गुण जो भी हों, उसका प्रकाशन तभी होना चाहिए जब उसका कोई नैतिक उद्देश्य हो।'''[1]

यह प्रश्न आज भी महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के सम्मान्य आलोचकों में से कितने हैं जो जार के शिक्षा-मन्त्री के इन पवित्र विचारों से सहमत हों, और यह निर्णायक अधिकार वर्तमान या भविष्य के किसी जार के शिक्षा-मन्त्री को देने के लिए तैयार हैं? इसके विपरीत एक वक्तव्य यह है कि किसी उपन्यास की नैतिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक स्थापना जो कुछ भी हो भ्रष्टता के उच्छृङ्खल उदाहरणों के अतिरिक्त उसके प्रकाशन को रोकने का अधिकार तो किसी शिक्षा-मन्त्री को होना ही नहीं चाहिए। हम सशक्त जनमत में विश्वास करते हैं और अपने नवयुवकों अथवा जनसाधारण को दुश्चरित्रता के लिए इतना लालायित नहीं मानते, कि एक उपन्यास प्रकाशित हुआ और उनका आचरण बिगड़ा, अथवा उनका मतिभ्रम हुआ। इसके साथ ही हम समाज के कल्याणकामी लेखकों और विचारकों से इस बात की पूरी आशा रखते हैं कि वे अपने प्रभाववान उदाहरणों से इन कुत्सित पुस्तकों को नगण्य बना दें। परन्तु इस भय से हम किसी भी मन्त्री के हाथ में इतना खतरनाक हथियार सौंपने के लिए तैयार नहीं हैं। कितने साहित्यकार एवं समीक्षक हैं जो इस वक्तव्य से सहमत हैं?

स्पष्ट है कि उपयोगितावाद का तर्क अपने में पूर्ण नहीं है, बल्कि निरर्थक भी है। उसी प्रकार हम निवेदन करना चाहते हैं कि 'कला कला के लिए' की निष्पत्ति भी साहित्य अथवा साहित्यकार की समूल व्यर्थता सिद्ध करने के लिए प्रामाणिक नहीं है। यूरोप के साहित्य में जर्मनी, फ्रान्स, इंग्लैण्ड आदि में कभी भी उपयोगितावाद का इतना आग्रह नहीं था। यह धारा रूस से आई है, इसलिए कि रूस को कभी भी मुक्त विचारों की प्रतिद्वन्द्विता का स्वाद नहीं मिला। सोवियत क्रान्ति के बाद यह परम्परागत पूर्वाग्रह और भी प्रबल हो गया। इसी तरह प्राचीन संस्कृत आचार्यों अथवा मध्यकालीन भारतीय सन्तों को कभी भी

१. प्लेखानाव—कला और सामाजिक जीवन, पृष्ठ १७८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'स्वान्तः सुखाय' और 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' में इतना घोर विरोधाभास नहीं दिखाई पड़ा। फारसी साहित्य में तो, लगता है, निष्प्रयोजन अथवा रहस्य-दर्शन के निमित्त-लिखने वाले कवि ही अधिक लोकप्रिय और जनता के निकट हुए हैं। उपयोगितावादी तो अधिकतर दरबारों में ही पाये जाते थे। जो कभी अनवरी की तरह प्रतिष्ठा का अमृतपान करते थे और कभी फिरदौसी की भाँति अपमान और ग्लानि में प्राण भी दे देते थे। परन्तु रूस ने जार या कमिस्सार की नैतिक पराकाष्ठा द्वारा कोई ऐसा लक्ष्यवेध किया हो, जो यूरोप, भारत अथवा ईरान के आचार्यों के बस की बात न रही हो, ऐसा अभी तक तो नहीं सिद्ध हो सका है।

इस विश्लेषण से कुछ आवश्यक निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम तो यह कि प्रचलित अथवा प्रचालित अर्थ में 'जन' शब्द अत्यन्त भ्रामक, अस्पष्ट और अन्तर्विरोधपूर्ण है; द्वितीय यह कि उस 'जन' की उपयोगिता सामान्य नैतिकता अथवा सामान्य मानव-संवेदना या सहानुभूति से किस प्रकार भिन्न होगी, यह अस्पष्ट है; और इसीलिए उपयोगितावाद का सारा इन्द्र-जाल ही थोथा है; कम-से-कम समीक्षात्मक अन्वेषण को पहले से अधिक प्रत्यक्ष नहीं बनाता। तृतीय, 'जनवादी' सिद्धान्तशास्त्रियों के पास इसका निर्णय देने की कोई कसौटी नहीं है कि इस उपयोगिता की अभिव्यक्ति साहित्य में, अन्य वैचारिक माध्यमों से अलग, किस आधार पर होगी और वह आधार साधारणीकरण प्रभविष्णुता, सौन्दर्य अथवा अन्य प्रचलित कसौटियों से किस प्रकार भिन्न है। स्पष्ट शब्दों में वह क्या है जो साहित्य को साहित्य बनाता है, श्रेष्ठ साहित्य बनाता है, इस प्रश्न का कोई भी उत्तर 'जनवादी' समीक्षकों के पास नहीं है। सच तो यह है कि वे इस प्रयास में कोई रुचि रखते भी नहीं—केवल रहस्यवादी वाग्जाल खड़ा करके अपने 'जनवाद' और 'श्रेष्ठता' के मानदण्डों को गड्डमड्ड कर देना चाहते हैं। काम जिगरे का है इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि शास्त्रार्थ द्वारा सिद्ध करना है कि जो कम्युनिस्ट पार्टी के पक्ष में है वह श्रेष्ठ है; कम-से-कम जो पक्ष में नहीं है, या विरोध में है, वह अश्रेष्ठ तो है ही। इसके लिए सामाजिक रहस्यवाद में एक और गहरी डुबकी लगाने की आवश्यकता पड़ती है।

वस्तुतः यदि 'जनवादी' साहित्य के प्रणेतागण अपने को एक साहित्यिक धारामात्र मानकर सन्तोष कर लेते, उसी प्रकार जैसे साहित्य में रोमांटिक, क्लासिकल, छायावादी अथवा रीतिकालीन धाराएँ होती हैं तो सिद्धान्तों की इतनी विसंगतियाँ न उत्पन्न होतीं। किन्तु 'जनवादी' का प्रयोग साहित्य-विशेष अनुसार श्रेष्ठता का मान स्थापित करने के लिए होता है। जैसा हमने ऊपर कहा है, काम जिगरे का है, इसलिए अधिकतर यह संकेत अव्यक्त रहता है। इस दुहरी धार का सबसे उत्साहपूर्ण उपयोग सामयिक साहित्यकारों के कण्ठ पर विभिन्न प्रकार की छुरियाँ चलाने और मालाएँ पहनाने के लिए किया गया जिससे हिन्दी के पिछले दस वर्षों के पाठक भली भाँति परिचित होंगे। किन्तु इस सम्बन्ध में सब से अधिक कष्टप्रद प्राचीन आचार्य सिद्ध होते हैं। न उनसे मनचाहा वक्तव्य दिलाया जा सकता है, न उनकी श्रेष्ठता से इन्कार किया जा सकता है। परिणाम यह है कि 'जनवादी' आलोचना प्राचीनों के सम्बन्ध में प्रश्न से पलायन, अन्तर्विरोध एवं रहस्यवाद का कोष बन गई है। इस सम्बन्ध में सब एक-से हैं चाहे वह शब्दाडम्बर के बीच एक-दूसरे को कितना ही 'कुत्सित समाजशास्त्री' क्यों न कहें।

डॉक्टर रामविलास शर्मा इस प्रश्न से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीधे कतर कर निकल जाते हैं। उनके मत में इस प्रकार के प्रश्न पूछे ही नहीं जाने चाहिएँ, शायद इसलिए कि इनका उत्तर देने में उन्हें कठिनाई पड़ती है। उनका निर्णय है :

"प्रगतिशील होने से ही क्या साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है, यह प्रश्न भ्रामक है। इसी तरह श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील रहता है, इस धारणा का शुद्ध कला वाला आधार भी भ्रामक है।"

उसी प्रकार श्री शिवदानसिंह चौहान की समीक्षा-पद्धति का आत्मसाक्षात्कार इन शब्दों में होता है :

"दूसरा प्रश्न है कि क्या वह प्राचीन साहित्य (बीते काल में रचे गए साहित्य) का सही मूल्यांकन कर सकती है ? प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में यह प्रश्न गौण है कि अमुक रचना में स्थायित्व के गुण हैं अथवा नहीं हैं। इस प्रश्न का उत्तर तो समय ही दे चुका होता है। कालिदास को महान् लेखक और उनकी रचनाओं को स्थायी साहित्य सिद्ध करने की चेष्टा निरर्थक है।"

श्रीचौहान जी से हम विनम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहते हैं कि आपका वचन मृषा है। कालिदास को महान् लेखक और उनकी रचनाओं को स्थायी सिद्ध करने का मूल्यवान कार्य उन आपके 'प्रतिक्रियावादी' आलोचकों ने किया है जिनकी अथक सौन्दर्य-तृष्णा पुरानी और भूली हुई हस्तलिखित प्रतियों की खोज में उन्हें देश-विदेश घुमाती है और यह साहस प्रदान करती है कि मानवता की समस्त सांस्कृतिक उपलब्धि का वे मूल्यांकन करें। हम आलोचक का दायित्व इससे कहीं अधिक मानते हैं कि उत्सव के बाद हर प्राचीन महान् कलाकार से अपने 'जनवाद' का नेग माँगने के लिए उपस्थित हो जाय।

जब 'जनवादी' आलोचक प्राचीनों के विषय में समय का हवाला देते हैं, अथवा प्रश्न से कतराते हैं, तो उनका तात्पर्य या तो यह होता है कि आलोचक एक रहस्यवादी ऐतिहासिकता के पक्ष में हथियार डाल दे, या फिर वे अपने को समसामयिक कलाकारों के लिए उस ब्रह्म जैसे अनिर्वचनीय समय का ठेकेदार मानते हैं, क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया गया है कि समय की यह रहस्यवादी कसौटी जो आज तक के कलाकारों पर लागू होती आई है, आज के या भविष्य के कलाकारों पर लागू नहीं होगी। और यदि ऐसा नहीं है तो श्रेयस्कर हो कि ये 'जनवादी' आलोचक तब तक खामोश रहें जब तक समय अपना निर्णय हम सब के विषय में न दे दे। इस बीच कम्यूनिस्ट पार्टी के सहायतार्थ पचासों अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य वे कर सकते हैं और साहित्य का वातावरण भी कुछ अधिक निर्मल हो जायगा।

वस्तुतः जनहित के उद्देश्य को कोई भी विवेकपूर्ण कलाकार अपनी कला से बहिष्कृत नहीं कर सकता। परन्तु जनहित के इस उद्देश्य में सामयिक संघर्ष में विरोधी लगने वाली विचारधाराओं का समावेश अनिवार्य होगा। दूसरे, जनहित में काम करने वाली अन्य सामाजिक शक्तियों से, विशेषतः राज्य से, जो सम्प्रति इसका सशक्त माध्यम है या हो सकता है, साहित्य के 'जनहित' के आदर्श को पृथक् रखना होगा। इसलिए नहीं कि राज्य द्वारा अभीप्सित जनहित और साहित्य के जनहित में परस्पर विरोध है। परन्तु दोनों के क्षेत्र, प्रेरणा-स्रोत, आग्रह एवं कार्यविधि में इतना अन्तर है कि आज तक विश्व में जहाँ कहीं भी सीमाओं का अतिक्रमण हुआ है, वहाँ अनिष्ट ही अधिक हुआ है। फलतः साहित्य को इस प्रकार की केन्द्रित शक्तियों से आघात ही पहुँचा है, चाहे इसका प्रतिपादन प्लेटो, कैथोलिक चर्च, फ़ासिज्म, मार्क्स अथवा किसी अन्य के नाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर किया गया हो। तीसरे, जनहित की कल्पना लेखक की गहराई, आत्म-साक्षात्कार और दृष्टि-विस्तार द्वारा भी नियोजित होगी। यह सब-का-सब इतना ही निश्चित कर सकता है कि एक प्रवृत्ति, संयमन, आशंसा, जागरूकता—व्यापक मानवीय संवेदना—के रूप में यह 'जनहित' साहित्यकार के मानस में विद्यमान रहे। हम जानते हैं कि इतना बड़ा दायरा रखने पर 'जन-अहित' अथवा सम्प्रति जन-अहित दीखने वाली वस्तु भी इसमें आ सकती है। किन्तु दायरे को छोटा, ठोस और नियामक बना देने पर अधिक अनिष्ट की सम्भावना है और यह अत्यन्त विवादग्रस्त वस्तु सारी समीक्षा का इति-अन्त तो नहीं ही बन सकती।

(अगले अंक में समाप्य)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

निबन्ध

डॉ० रांगेय राघव

साहित्य का स्थायी मूल्य

साहित्य का अन्तिम मूल्य क्या है ? यह प्रश्न समस्त विचारकों के चिन्तन के मूल में है। वह युगपरक है, उसका भाव से ही मूल सम्बन्ध है, वह स्थायी महत्त्व रखता है, वह सामाजिक जीवन को बिम्बित करके चुप नहीं रह जाता, वरन् मानवों में एक व्यापक दृष्टिकोण जाग्रत करता है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समाज के नियमों का सन्तुलन करता है और सर्वोपरि वह मनुष्य की भावभूमि का स्तर उठाते हुए उसे उदात्ततर बनाकर आनन्द देता है,—यही विचार अधुना अपने को विभिन्न रूपों में तर्क-वितर्क के रूप में प्रस्तुत करते हैं और यही मूल्यों को निर्धारित करने का वह संघर्ष है, जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में होती है।

हम यही कहेंगे कि ऊपर जो विचार हैं वे एक-दूसरे के पूरक हैं और मूलतः यह सब व्यापक 'मानवतावाद' के विभिन्न अंश हैं, जिसका कि आधार मनुष्य की सत्ता का ही अभिव्यक्त स्वरूप है।

: १ :

'मानवतावाद' क्या है ?

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपने को सुखी बनाना चाहता है और उसके लिए उसने समाज बनाया है, साहित्य का सृजन किया है। इस जीवित रहने की इच्छा—अर्थात् जिजीविषा को ही उसने इतना विकसित और व्यापक बनाया है।

जिजीविषा के निम्नलिखित रूप हैं —

(१) मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध, ताकि मनुष्य रह सके, खा-पी सके और अपना विकास कर सके।

(२) मनुष्य का प्रकृति से सम्बन्ध, ताकि मनुष्य वे साधन एकत्र कर सके, जिनके प्रयोग से वह जीवित रह सके और अपने को समृद्ध बना सके।

(३) मनुष्य का प्रकृति से संघर्ष, ताकि मनुष्य अपना नाश करने वाली शक्तियों को परास्त करता रहे और अपने को जीवित रख सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) मनुष्य का मनुष्य से संघर्ष, ताकि कोई एक-दूसरे को दबा न सके, बल्कि सब ही विकास कर सकें।

(५) मनुष्य की प्रकृति की खोज, ताकि वह जहाँ एक ओर अपने ज्ञान को बढ़ाये, दूसरी ओर वह यह भी जान सके कि सृष्टि क्या है, क्यों है, कैसे है, कब से है, कब तक है इत्यादि।

जिजीविषा के यही मूल रूप हमारे आज तक के चिन्तन के आधार रहे हैं और आज भी हैं। पहली, दूसरी, तीसरी बात को सहज ही स्वीकार कर लिया जाता है। चौथी बात के लिए संसार में आज भी संघर्ष हो रहा है और पाँचवीं बात के लिए आगे भी निरन्तर कार्य होता रहेगा, क्योंकि 'जिजीविषा' का 'उदात्त रूप' उसीमें अपना विकास निरन्तर प्राप्त करता है।

साहित्य इन पाँचों की सुन्दरतम रूपों में अभिव्यक्ति है। प्रश्न अपने मौलिक रूप में इसी प्रकार है, किन्तु उसे खण्ड-खण्ड करके देखा जाता है। यदि हम इस पूर्ण रूप को देखें तो हमारे सामने खण्डित रूप नहीं जाग सकेंगे, वरन् हम अपनी 'सापेक्ष पूर्णता' के अधिक-से-अधिक निकट हो सकेंगे।

सिद्धान्त के रूप में जो इतना सहज है उसकी अभिव्यक्ति आज निम्नलिखित रूपों में तर्क बानकर उपस्थिति प्राप्त करती है—

(१) वे लोग जो वर्ग-संघर्ष के माध्यम से साहित्य और मनुष्य को यांत्रिक बनाते हैं वे रूढ़िवादी दृष्टिकोण से देखते हैं।

(२) वे लोग जो आत्मवाद के नाम पर व्यक्ति को समाज से निरपेक्ष बनाकर देखते हैं वे अवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हैं।

पहला सम्प्रदाय जड़वादी है, दूसरा वास्तविकता को झुठलाने वाला। पहला अपनी बात को अन्तिम सत्य मानता है, दूसरा संशयवादी है। पहला रूसी साम्यवाद को ज्यों-का-त्यों भारत पर लागू करता है, दूसरा समाज की वैज्ञानिक व्याख्या से ही बरगला उठता है। पहला समाजीकरण में व्यक्ति को अस्वीकृत करता है, दूसरा व्यक्ति के नाम पर समाजीकरण का तिरस्कार करता है। पहला शताब्दियों से चले आए मनुष्य की अपूर्व गाथा को यन्त्रवत् देखता है, दूसरा आज तक के विकास को अस्वीकार करके किसी प्रकार का भी तारतम्य ही स्वीकार नहीं करना चाहता।

पहला कुत्सित समाज-शास्त्री है, दूसरा समाज-शास्त्र को ही नहीं मानता। इन दोनों के बीच का रास्ता ही ठीक है।

मार्क्सवाद से ही पहले सम्प्रदाय के लोग प्रेरणा लेते हैं और दूसरे सम्प्रदाय के लोग उसे ही अत्यन्त अपूर्ण और विदेशी समझते हैं, ऐसा कि वह भारतीय प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। दोनों के बीच बहुत बड़ी खाई है। साहित्य में पहले सम्प्रदाय की अभिव्यक्ति नीरस राजनीतिक रचनाओं में प्रकट होती है और दूसरे सम्प्रदाय की अभिव्यक्ति प्रयोगवाद का रूप धारण करती है। पहले सम्प्रदाय के पीछे वे लोग इकट्ठे होते हैं जो मूलतः विध्वंसवादी हैं, अतिक्रान्तिवादी और अराजकवादी हैं, और अवसरवादी हैं, तो दूसरे सम्प्रदाय के पीछे वे लोग आ खड़े होते हैं जो अपने पुराने व्यक्तिवादी दृष्टिकोणों को सहायता दिलवाना चाहते हैं, जिनमें पलायनवादी, कला कला के लिए वाले, निरपेक्ष शाश्वतवादी और इसी प्रकार के वे अन्य लोग हैं जो इतिहास की विराट् गति को किसी प्रकार रोक देना चाहते हैं, चाहे वे अपने कार्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का परिणाम स्वयं जानते हों, या नहीं जानते हों। वे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर दर्शन की उन अनबूझ उलझनों में जा डूबते हैं, जिनसे आज कोई हल नहीं निकलता और विशेष सामाजिक व्यवस्थाओं में जन्म लेने वाले विचारों को वे देश-काल से अलग करके शाश्वत काल तक का समाधान कर लेने के लिए मजबूर करते हैं।

दोनों ही एक से प्रगति-विरोधी हैं।

पहले सम्प्रदाय के लोग यह मानते हैं कि 'प्रगति' हो चुकी, अब आगे और नहीं होनी है, मार्क्स के सिद्धान्त ही अन्तिम सत्य हैं, और दूसरे सम्प्रदाय के लोग किसी और पुराने ही दर्शन को शाश्वत मानते हैं और व्यक्ति की नीयत देखकर उसके सामाजिक कार्य तथा उनके परिणामों को नहीं देखते।

बातचीत में बहुधा रूस को बीच में खींच लिया जाता है और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य या समाजीकरण के पक्षपाती अपने-अपने पक्ष की बात रूस से ही लेते हैं।

यह द्वन्द्व बढ़ता जा रहा है और इसके स्पष्टीकरण की अब साहित्यिक आवश्यकता हो गई है; क्योंकि यह विचार साहित्य पर प्रभाव डाल रहे हैं और इसीलिए प्रगतिशील साहित्य को जाँचने के आज एक से अधिक दृष्टिकोण हैं, जिनमें प्रमुख भेद इस प्रकार किया जा सकता है—एक वे हैं जो रूस से प्रेरणा ही नहीं प्राप्त करते, वरन् रूसी परिस्थिति को ज्यों-का त्यों भारतीय परिस्थिति पर लागू करना चाहते हैं, दूसरे वे हैं जो रूस को एक ऐसी जगह समझते हैं जहाँ भौतिक समृद्धि के नाम पर समस्त व्यक्तिगत चिन्तन की स्वतन्त्रता छीन ली गई है, अतः उसकी जगह एक नया रास्ता निकालना चाहते हैं। दूसरे प्रकार के इन विचारकों में से कुछ लोग यह भी कहते हैं कि मूलतः कोई भी 'विचार' अपने-आपमें बहुत श्रेष्ठ होता है, परन्तु उसकी बुराई या निर्बलता तभी प्रकट होती है जब उसे व्यवहार में लाने की चेष्टा की जाती है।

वस्तुतः यह समस्त दृष्टिकोण एक उलझन के आधार पर खड़ा होता है। अपनी 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' नामक पुस्तक में मैंने इन प्रश्नों को हल करके स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था। किन्तु विचारकों में फिर भी कुछ शंकाएँ रह गई हैं, उन्हें मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

प्रगति निस्सन्देह केवल परिवर्तन नहीं है। प्रगति विकास में मिलती है। विकास का अर्थ स्पष्ट ही मनुष्य का कल्याण है। किसी भी व्यापकत्व की दुहाई देने वाला सिद्धान्त इसका विरोध नहीं कर सकता। पहले जहाँ वन थे, वहाँ अब सुन्दर नगर बने हुए हैं। पहले प्राणिमात्र को वन में विचरण करने की स्वतन्त्रता थी। सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि भयानक जीव-जन्तु निरन्तर मनुष्य की जान को खतरे में रखते थे। अब मनुष्य ने उन सबको अपने पास से दूर खदेड़कर या नष्ट करके अपने जीवन को भयहीन बनाया है। यह जो जीवन को 'भयहीन' बनाने की क्रिया है, इसे 'प्रगति' ही कहना होगा, यद्यपि यह 'प्रगति' केवल मनुष्य की 'प्रगति' है, इसने हिंस्र पशुओं और जीवों की स्वतन्त्रता में व्याघात डाला है।

हमारे सारे दर्शन और जीवन के विचार, केवल इसी मूलाधार पर टिके हुए हैं और वह मूलाधार—मनुष्य का ही कल्याण है। हमारे सारे पुराने और मध्यकालीन धर्म भी इसी वस्तु-सत्य पर आश्रित हैं। अहिंसा का प्रचार करके जीव-मात्र की रक्षा करने वाला जैन धर्म भी अपने सिद्धान्त को केवल श्रावकों पर ही लागू करता है, संसार के साधारण गृहस्थों पर उसे लागू नहीं करता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि व्यापक पारलौकिक दृष्टि से देखा जाय तो यह 'प्रगति' मूलतः मनुष्य का 'जीवित बने रहने का स्वार्थ' ही है, और कुछ नहीं। परन्तु बड़े-से-बड़ा, पारलौकिक सिद्धान्तों को मानने वाला भी, इस स्पष्ट सत्य से इन्कार नहीं कर सकता कि मनुष्य के 'स्वार्थ' के बिना काम भी नहीं चल सकता। महाभारत में भी यह प्रश्न उठाया गया है। अहिंसा के विषय में विचार करते समय यह सवाल उठाया गया है कि यदि पूर्णतः अहिंसा को माना जाय तो फिर मनुष्य का जीवन-निर्वाह किस प्रकार हो; क्योंकि पशु, पक्षी, और जीव-जन्तुओं की ही भाँति वनस्पति भी प्राणधारी है और उसे खाने वाला मनुष्य हिंसा ही करता है। महाभारतकार ने अन्त में इसकी सुलझन यों प्रस्तुत की है—

मनुष्य को ईश्वर ने सर्वश्रेष्ठ बनाया है। यदि मनुष्य जीवित नहीं रहेगा, तो ईश्वर की एक श्रेष्ठ कृति नष्ट हो जायगी। ईश्वर ने ही यह भोजन संसार में नियत किया है। अतः जीवित रहने के लिए इतनी हिंसा तो नितान्त ही आवश्यक है।

महाभारतकार का यह स्पष्टीकरण वास्तव में मनुष्य का स्वार्थ ही है।

मनुष्य का स्वार्थ अन्य प्राणियों की भाँति अपनी जीवन-रक्षा में है। इस जीवन को मनुष्य ने पहले हिंस्र पशुओं से बचाया था। कालान्तर में सामाजिक जीवन में रहते हुए उसने अपने सत् के, सुन्दर के, शिव के जितने दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं, वह मनुष्य के जीवन को सुन्दरतर बनाने के लिए ही प्रस्तुत किये हैं। पहले, मनुष्य अपने समाज की विषमशील परिस्थिति को भाग्य पर लागू करते थे, क्योंकि वे उनका कारण नहीं समझ पाते थे। अपनी 'हिन्दी-साहित्य की धार्मिक और सामाजिक पूर्वपीठिका' में दार्शनिक जनक के विषय में विस्तार से लिख चुका हूँ, जिसने इस संसार के दुःख से दुखी होकर संसार का त्याग कर दिया था, परन्तु बाद में कोई मार्ग नहीं पाने पर, फिर राज्य सँभाला था और अपने को सब सुख-दुःख के प्रति उदासीन बना लिया था। उच्चराजन्य वर्ग का व्यक्ति होने पर भी, क्षत्रिय-स्वार्थ में बद्ध जनक ने संसार का कल्याण करने का यत्न किया था। परन्तु समाज का विकास नहीं जानने के कारण राजा जनक मार्ग नहीं खोज सका। इस कथा को मैंने यहाँ दो कारणों से दुहराया।

एक तो इसलिए कि मैं व्यक्ति को समाज का अंग मानता हूँ, और व्यक्ति का स्वार्थ सदैव उसकी समाज-व्यवस्था पर निहित होता है, यह मेरे सामने अत्यन्त स्पष्ट है।

दूसरे इसलिए कि व्यक्ति समाज से अभिन्न होने के कारण मशीन नहीं हो जाता, वह चेतन रहता है, यह मेरी दृष्टि में अत्यन्त स्पष्ट है। व्यक्ति का समाजीकरण उसका हनन नहीं है, उसके निरन्तर होते रहने वाले विकास का पर्याय है।

जब यह सत्य हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है तब हम निस्संकोच कह सकते हैं कि प्रगति मूलतः मनुष्य के सामाजिक कल्याण के दृष्टिकोण का नाम है, जो केवल परिवर्तन में नहीं हो जाती, जैसा कि हेगेल मानता था, वरन् उस विकास में होती है जो एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति में पहुँचने पर मनुष्य के जन-समाज को अधिक सुन्दर या समृद्ध, या स्वतन्त्र इत्यादि बनाती है।

यहाँ विकास की मोटे तौर पर होने वाली कड़ियों को दुहरा लेना आवश्यक है। यहाँ हम मार्क्स की व्याख्या देते हैं।

पहले आदिम साम्यवाद था। समूह का एकत्र होकर रहना, शिकार मिल-बाँटकर खाना, व्यक्तिगत सम्पत्ति का न होना, सामूहिक यौन-सम्बन्ध होना, सामूहिक गीत गाना इत्यादि देखे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथ्य प्रायः ही संसार की जातियों के आदिम रूपों में मिलने वाले सत्य हैं। उस समय द्वेष इसीलिए नहीं था कि जलने की आवश्यकता नहीं थी। चोरी नहीं थी, क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। देखने को यह समय, यह व्यवस्था बहुत ही स्वप्न-भरी और मनोहारी लगती है। परन्तु इस परिस्थिति में मनुष्य प्रकृति के अन्य पशुओं की भाँति ही था। धीरे-धीरे 'आग' का जन्म हुआ अर्थात् मनुष्य ने 'आग' पर काबू पा लिया। अब समाज का विकास हुआ। अब मनुष्य की शक्ति बढ़ने लगी।

कबीले एक दूसरे से लड़ने लगे। हारने वाले को गुलाम बनाया जाने लगा। देखा जाय तो जिस व्यवस्था ने मनुष्य को गुलाम बनाया, वह बहुत बुरी होनी चाहिए, परन्तु समाज के विकास के क्रम में दास-प्रथा एक समय उपयोगी सिद्ध हुई, क्योंकि अब मनुष्य के समाज ने 'प्रगति' की। प्रगति !! वह कैसे ?

वह इस प्रकार कि उत्पादन के साधनों पर उसका पहले से अधिक अधिकार हुआ, समाज ने अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाईं। जिस समय समाज में दास-प्रथा का विकास हो चुका, उसकी 'प्रगति' समाप्त हो गई, समाज में 'सामन्तीय व्यवस्था' ने पदार्पण किया। भारत में यह परिस्थिति, यह परिवर्तन-क्रम महाभारत-युद्ध के बाद से प्रारम्भ हुआ और चाणक्य तक पूर्ण हुआ, यहाँ धीरे-धीरे विकास हुआ। पश्चिम में स्पार्टाकस दास के सशस्त्र-विद्रोह के भी प्रमाण मिलते हैं, जो असफल हो गया था।

सामन्तीय व्यवस्था में 'दास' 'भूमिबद्ध किसान' बना, और समाज में जहाँ पहले से अधिक समृद्धि आई, मनुष्य को 'मनुष्यत्व' के नाम पर अधिक सम्मान भी दिया गया। उसके बाद पूँजीवादी व्यवस्था ने पदार्पण किया और जहाँ समाज और भी अधिक समृद्ध हुआ, मनुष्य के 'मनुष्यत्व' को और भी अधिक स्वतन्त्रता देने की घोषणा हुई वहाँ 'शोषण' सामंतीय शोषण की तुलना में 'अधिक हृदयहीन' हो गया।

इस शोषण के अन्त में समाजवादी व्यवस्था ने अपना सिर उठाया, जिसकी अपनी विशेष परिस्थितियों में रूस और चीन ने अपने-अपने देशों में स्थापना की। मैं उनमें नहीं हूँ कि मनुष्य की किसी भी परिस्थिति को उसकी युगसापेक्षता से अलग करके देखूँ और उसे शाश्वत मान लूँ। रूस और चीन में अभूतपूर्व उन्नति हुई है किन्तु उसके साथ ही व्यक्तित्व पर प्रतिबन्ध भी दिखाई दिये हैं। किन्तु वह देश-विशेषों की विकासशील परिस्थितियाँ हैं और वे न तो सार्वभौम हैं, न वे मूल सिद्धान्त के ऊपर ही प्रहार हैं, वे तो उस सिद्धान्त को लागू करने के उन देशों के अपने तरीके हैं। यहाँ हम यह कहना ही आवश्यक समझते हैं कि मूलतः मनुष्य की प्रगति समाज का कल्याण है, केवल व्यक्ति का नहीं; और प्रगति वास्तव में वही है जो व्यक्ति की भी स्वतन्त्रता को मानती है, और व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी समाज की स्वतन्त्रता की ही भाँति उसके विकास में निरन्तर बढ़ती है। यदि इनमें से एक भी दबता है, तो वहाँ कुछ गड़बड़ जरूर है और वह गड़बड़ ही समाज और व्यक्ति के सामरस्य में बाधा उपस्थित करती है और वही प्रगति को रोकने वाली वस्तु है।

अतः हमारे सामने यह स्पष्ट है कि आदर्श व्यवस्था वह है जहाँ समाज में शोषण नहीं है और व्यक्ति अपना विकास करने के लिए स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र का अर्थ यह नहीं कि वह निरंकुश है। परन्तु घुटा हुआ, दमित नहीं है। इन दोनों का संतुलन कठिन है यह तो खैर स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है ही, किन्तु कठिन होने के कारण ही न तो हम व्यक्ति को समाज से अलग करके देख सकते हैं, न समाज को ही व्यक्तित्व का विनाश करते देखकर ठीक कह सकते हैं।

व्यक्ति और समाज के इस पारस्परिक सम्बन्ध का विकास प्रत्येक देश की विचार-धारा से प्रभावित मिलता है। हम यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि भारतीय चिन्तन में वैष्णव मत ने जो मानवतावादी विचार-धारा शताब्दियों से फैलाई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है और इसीलिए भारतीय विचारक समाज और व्यक्ति के अन्योन्याश्रय के प्रति अधिक जागरूक रहे।

: २ :

अत्यन्त दुरूह, अपरिभाष्य और कठिन शब्द कहकर कुछ विचारक 'मानवतावाद' को व्यर्थ कहते हैं। उनका कहना है कि आज तक बर्बर-से-बर्बर व्यक्ति भी 'मनुष्यत्व' का विरोधी नहीं रहा है और अपनी राय में 'अच्छा' ही समझकर करता रहा है। फिर इसी 'मनुष्य के कल्याण' के लिए विभिन्न विरोधी किन्तु महान् कवि भी मिलते हैं, जैसे तुलसी और कबीर। इनके अतिरिक्त कुछ कवियों ने केवल 'सौन्दर्य' का ही वर्णन किया है और वे कल्याण-अकल्याण के झगड़े में नहीं पड़े जैसे 'बिहारी' आदि। अतः 'मानवतावाद', 'कल्याण', 'बहुजनहिताय' आदि 'लघु' हैं, व्यर्थ हैं, अपरिभाष्य हैं। और यह मान लेते हैं कि व्यक्ति एक धारा—एक गढ़ी हुई समाज-विकास की विचार-धारा के अन्तर्गत हैं—मशीनवत् हैं और परतन्त्र हैं, जब कि 'स्वेच्छा' बहुत बड़ी शक्ति है और 'स्वेच्छाकृत साहित्य' ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह व्यक्ति के विकास का परिणाम है और साहित्य 'व्यक्ति' द्वारा ही बनता है।

हम इन्हीं आक्षेपों का उत्तर देते हैं।

पहली बात तो यह है कि कोई भी संसार की परिभाषा अपने-आपमें पूर्ण नहीं है, वह एक से अधिक मनुष्य की विशेष शब्दावली में बँधी स्वीकृति है। गणित में भी 'बिंदु' वह है जिसकी कि न लम्बाई है न चौड़ाई, किन्तु पेंसिल से निशान लगाये 'बिंदु' को हमें बिंदु कहकर इसलिए मानना पड़ता है कि उसके बिना काम नहीं चलता। हमारी स्वीकृतियों के सत्य 'सापेक्ष' हैं, पूर्ण नहीं, प्रगतिशील हैं, अन्त नहीं। अतः न हम 'सत्य', 'स्वेच्छा' 'सौन्दर्य, और 'शिव' की ही ऐसी परिभाषा दे सकते हैं, न 'मानवतावाद', 'कल्याण' और 'बहुजनहिताय' की; जैसी कि भावना के क्षेत्र में माँगी जाती है। हम तो केवल एक ही मर्यादा से इनको जाँच सकते हैं—और वह इसी आधार को मानती है कि 'वह एक से अधिक मनुष्य की विशेष शब्दावली में बँधी स्वीकृति है।'

हम 'लघुत्व' की बात करते हुए कहते हैं कि वास्तव में हम 'जीवन' का तात्पर्य नहीं जानते।

यह सृष्टि विराट् है, गहन है, अपरिमेय है और स्वयंजात है, न हम आकाश के विराट् विस्तार को जानते हैं, यह भी नहीं जानते कि सूर्य का गतिपथ क्या है, कैसा है, परन्तु इस छोटी-सी पृथ्वी पर हम रहते हैं और महाभारतकार के शब्दों में—हम इस मार्ग का आदि और अन्त नहीं जानते, केवल मध्य जानते हैं। इस सृष्टि में कोई 'जीवित रहने की इच्छा' के अतिरिक्त 'आत्म-हत्या' को रोक नहीं सकता। हम आत्म-हत्या करने के लिए स्वतन्त्र हैं। पर करते नहीं। क्यों? आत्मा को मानना, न मानना अलग वस्तु है, परन्तु सब जीवित रहना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहते हैं और वह भी तब जब कि मृत्यु निश्चित है और उसका समय अनिश्चित है ! इसी को दार्शनिक युधिष्ठिर संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य कहा करते थे। फिर यह 'जिजीविषा' क्यों है ? 'क्यों ?' का कोई उत्तर नहीं, वही 'जिजीविषा' है, इसीके लिए मनुष्य ने कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र, विभिन्न वाद, काव्य-साहित्य और न जाने क्या-क्या बनाये हैं। इसीको लेकर हमें भी चलना होगा, जिसके अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं है।

: ३ :

यह 'जिजीविषा' मनुष्य के विकास के साथ अपने सुन्दरतर रूप में अभिव्यक्त हुई है और 'एक की जिजीविषा' ही 'बहुजन जिजीविषा' के उदात्त रूपों में प्रकट हुई है, इसीका सुसंस्कृत रूप 'मानवतावाद' है। बर्बर-से-बर्बर अपने-आप तो नहीं कहता कि वह मनुष्य-विरोधी है, अंग्रेज भी हिन्दुस्तान पर इसीलिए राज्य करते थे कि भारतीयों को सभ्य बना सकें, परन्तु मैंने पहले स्पष्ट किया है कि इसका मानमूल्य हम 'बहुजनहित', 'कल्याण' की कसौटी पर करते हैं और यही 'मानवतावाद' की कसौटी है। इसी मानवतावाद के विकास को समाज के विकास के अतिरिक्त और देखा ही नहीं जा सकता। समाज के भीतर विभिन्न वर्ग होते आये हैं और जब तुलसी, कबीर और बिहारी का प्रश्न आता है तब हमें स्पष्ट ही समाज के उत्पीड़क और उत्पीड़ितों के तत्कालीन रूपों को देखना पड़ता है और उस संघर्ष में हमें यह देखना पड़ता है कि किसका कार्य किसके पक्ष में अधिक था। उदाहरण के लिए कबीर ने उत्पीडक हिन्दू-मुस्लिम-धर्म का विरोध करके निम्नवर्ग अर्थात् 'बहु जनहित' की रक्षा की। तुलसी इस क्षेत्र में उत्पीड़कों के अधिक साथ वे यद्यपि वे भी उतना कठोर व्यवहार दलितों के साथ नहीं चाहते थे। किन्तु तुलसी ने 'कल्याण' 'बहु जनहित' और 'मानवतावाद' की रक्षा की थी 'मुस्लिम साम्राज्य' के विरुद्ध स्वर उठाकर, क्योंकि 'मुस्लिम साम्राज्य' तब अत्याचार करता था। यदि हम पूरी परिस्थिति को नहीं देखेंगे तो सदैव ही हमें गड़बड़ मिलेगी। बिहारी ने यद्यपि 'सौन्दर्य' की बागडोर पकड़ी और उच्च वर्गों का साथ दिया, परन्तु उसने जिन चित्रों का सृजन किया वे प्रेम और आनन्द का भी द्योतन करते थे, अतः वह स्थायी महत्त्व प्राप्त कर सके ! किन्तु बिहारी में क्योंकि 'सामाजिक तथ्य' कम है, बिहारी उतने बड़े कवि भी नहीं हुए, न माने जाते हैं, जितने कि तुलसी और कबीर थे। और वैष्णव-चिन्तन से प्रभावित जिस 'राधाकृष्ण-युगल' को बिहारी ने चित्रित किया है, उस आराधना के मूल में ही 'समन्वय' का दृष्टिकोण था, जो यदि स्पष्ट नहीं था, तो वहाँ भी अन्तर्निहित ही था। अब अन्तिम बात है कि व्यक्ति की स्वेच्छा समाज से अलग होती है और व्यक्ति जब साहित्य बनाता है तब समाज से अलग हो जाता है। यह दोनों ही तथ्य अनर्गल हैं। न कभी व्यक्ति 'स्वेच्छा' को समाज से अलग कर सका है, न व्यक्ति समाज से अलग होकर साहित्य रच सका है। 'समाज से अलग' न होने का तात्पर्य है कि वह समाज का ही वर्णन करता है, समाज के लिए ही करता है। 'स्वेच्छा' 'निरंकुशता' से अलग है। 'निरंकुशता' अन्यों के अधिकारों पर चोट करती है। 'स्वेच्छा' अपनी सामाजिक 'अति' के रूप में निरंकुशता है। 'स्वेच्छा' का वास्तविक अर्थ होना चाहिए—'व्यक्ति की प्रतिभा का विकास और उसकी शक्ति', वह होनी चाहिए और आदर्श समाज यही है जिसमें उसका विकास हो सके और अधिक-से-अधिक हो सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस प्रकार एक पिता के तीन पुत्र हों और उन्हें सर्वांग शिक्षण की सुविधा हो, तब वे अपनी प्रतिभा के अनुकूल विकास करें, किन्तु किसी को भी एक-दूसरे को दबाने का अधिकार न हो, वही आदर्श परिस्थिति है। इसी स्थिति को व्यापक रूप देने से 'मानवतावाद' का जन्म होता है; जो 'बहुजनहित' और 'कल्याण' पर आधारित है। हमारा सारा ज्ञान 'सापेक्ष' है और इसीलिए हमारा 'मानवतावाद' का दृष्टिकोण भी 'सापेक्ष' है, मनुष्य-कृत है, मनुष्य-हित है, और मनुष्य के ही भविष्य के लिए है। जिस प्रकार जंगली शेर को मनुष्य 'पिंजड़े' में बन्द करके मनुष्यता का कल्याण करता है और बर्बर सिंह की 'स्वेच्छा' को स्वीकार न करके अपने कल्याण को ही श्रेष्ठ कहता है, उसी प्रकार साहित्य भी अपने उदात्त रूप में व्यक्ति की 'स्वेच्छा' को बन्दी करके 'बहुजनहित' के 'लघु' स्वार्थ को ही 'स्तुत्य' कहता है, क्योंकि उसकी यह 'लघुता' ही उसके सारे 'अस्तित्व' की 'एक-मात्र महानता' है, जिसके परे की 'व्यापकता' का कोई मूल्य नहीं है। 'बर्बर दास-प्रथा' से निकलकर सामन्तीय उत्कर्ष ने अपने प्रगति काल में जब 'आत्मा को समान' और 'व्यक्ति को दासत्व से मुक्त' किया था तब सार्वभौम 'रति' को साहित्य का 'मूल' कहा था। जब हम 'सामन्त काल' से आगे आये हैं और 'पूँजीवाद' के शोषण को हटाकर 'नये समाज' की नींव रख रहे हैं, तब हम 'रति' को व्यक्ति की ही परिसीमा में रखकर नहीं देखते, उसकी जिजीविषा' को समाज के समकक्ष, सापेक्ष रख कर देखते हैं और व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध देखकर उसकी 'रति' नामक 'जिजीविषा' को 'मानवतावाद' का नाम देते हैं और यही 'मानवतावाद' साहित्य का स्थायी मूल्य है ऐसा निर्विवाद मानते हैं, क्योंकि यह 'मानवतावाद' मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का पर्याय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर नगेन्द्र

हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र (सम्भावनाएँ)

हिन्दी-आलोचना-शास्त्र !—यह विषय जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही विषम भी। इस समस्त शब्द को सुनकर मेरे मन में चार प्रश्न अनायास ही उठ खड़े होते हैं : (१) क्या भाषा के आधार पर आलोचना-शास्त्र की परिकल्पना तर्क-संगत है ? (२) क्या हिन्दी-आलोचना-शास्त्र-जैसा कोई स्वतन्त्र विधान विद्यमान है ? (३) यदि विद्यमान है तो उसका विकास किस प्रकार किया जा सकता है ? और (४) क्या स्वतन्त्र भारत में, जब प्रादेशिक भावना की दीवारों को तोड़-कर भारतीय चेतना का उदय हो रहा है, इस प्रकार का प्रयत्न आवश्यक तथा उपयोगी होगा ? प्रस्तुत विषय का विवेचन मैं इन्हीं चार प्रश्नों के आधार पर करूँगा।

पहला प्रश्न है : क्या भाषा के आधार पर आलोचना-शास्त्र की परिकल्पना तर्क-संगत है ? मेरा अनुमान है कि आलोचना-शास्त्र से अभिप्राय शायद साहित्यालोचन की सिद्धान्त-संहिता का है, जिसे अंग्रेजी में 'प्रिंसिपल्स ऑफ़-लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' कहते हैं और प्राचीन भारतीय वाङ्मय में जिसके साहित्य-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि अनेक नाम थे। मेरा विचार है कि काव्य शब्द को सृजनात्मक साहित्य का वाचक मानकर हिन्दी में हमें काव्य-शास्त्र शब्द को इस अर्थ में रूढ़ कर देना चाहिए। काव्य-शास्त्र वस्तुतः काव्य-सम्बन्धी तथ्यों अथवा नियमों का आकलन-मात्र नहीं है—वह काव्य का दर्शन है अर्थात् काव्य के माध्यम से व्यक्त मानव-सत्य का अनुसन्धान एवं उपलब्धि है। सत्य का अनुसन्धान और उपलब्धि क्या भाषानुसार खण्डित किये जा सकते हैं ? यह शंका मेरे मन में, और मैं समझता हूँ आप में से अनेक के मन में, उठ सकती है ? तो क्या बंगला-काव्य-शास्त्र, असमिया-काव्य-शास्त्र, उर्दू-काव्य-शास्त्र, मराठी-काव्य-शास्त्र और इसी प्रकार हिन्दी काव्य-शस्त्र का संस्कृत या भारतीय-काव्य-शास्त्र से स्वतन्त्र तथा परस्पर-भिन्न अस्तित्व है ? इस प्रश्न की पहली प्रतिक्रिया तो नकारात्मक ही होती है—लगता है कि तब तो दर्शन को भी भाषावार विभक्त करना पड़ेगा : हिन्दी-दर्शन, उड़िया-दर्शन, कन्नड़-दर्शन ? सामान्यतः दिक्कालावच्छिन्न सत्य का, अनुसन्धान की सुविधा के लिए, पूर्व और पश्चिम, या अधिक-से-अधिक प्रजाति या राष्ट्र के आधार पर पृथक् अध्ययन कर लीजिए, परन्तु एक ही राष्ट्र की समानमातृका भाषाओं में उसे बाँटना तो नितान्त अनुचित होगा। किन्तु यह बात नहीं है। दर्शन, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया है, सत्य की उपलब्धि-मात्र नहीं है, उसका अनुसन्धान भी तो है—यों कहना चाहिए कि अनुसन्धान ही अधिक है, क्योंकि उपलब्धि के उपरान्त तो वाणी मौन हो जाती है; अनुसन्धान की प्रक्रिया सर्वथा दिक्कालावच्छिन्न नहीं हो सकती; क्योंकि अनुसन्धाता की अपनी शक्ति, सीमा तथा परिस्थिति का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सत्य की उपलब्धि तो सामान्य रहती है और रहेगी, किन्तु उस उपलब्धि के लिए अनुसन्धान की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया विशिष्ट ही होती है। इसी विशिष्टता के आधार पर दर्शन अथवा काव्य-दर्शन के विशिष्ट रूप की परिकल्पना करना तर्कहीन नहीं है। संस्कृत और अंग्रेजी से हिन्दी का अपना स्वतन्त्र काव्य है, अतः उसके माध्यम से सत्य के अनुसन्धान की प्रक्रिया भी स्वतन्त्र हो सकती है—दूसरे शब्दों में हिन्दी का अपना स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र हो सकता है।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि क्या हिन्दी में इस प्रकार का अपना कोई स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र विद्यमान है? हिन्दी में काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का अभाव नहीं है। रीति-काल में पूरी दो शताब्दियों तक निरन्तर रीति-ग्रन्थों की रचना होती रही और सहस्रावधि ग्रन्थ प्रकाश में आये—आधुनिक युग में भी लगभग अर्ध-शताब्दी से इस क्षेत्र में अनवरत कार्य हो रहा है। जिसके फलस्वरूप वर्तमान काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ भी कम संख्या में उपलब्ध नहीं हैं। रीति-युग में जहाँ केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, श्रीपति, सोमनाथ, दास और प्रतापसाहि-जैसे सर्वांग-विवेचक आचार्य हुए, वहाँ आधुनिक युग में भी पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक अनेक उद्भट विद्वानों ने इस अंग की श्रीवृद्धि की है; और आज भी, मेरी धारणा है कि हिन्दी-साहित्य का सबसे पुष्ट अंग आलोचना ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कदाचित् यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है। परन्तु प्रश्न परिमाण का नहीं है, गुण का भी नहीं है—प्रश्न यह है कि क्या इस ग्रन्थ-समुदाय पर आधारित हिन्दी-काव्य-शास्त्र का संस्कृत और वर्तमान युग में अंग्रेजी अथवा अधिक-से-अधिक यूरोपीय काव्य-शास्त्र से, स्वतन्त्र अस्तित्व है? इस प्रश्न के उत्तर में सहसा 'हाँ' कहना कठिन है, क्योंकि रीति-युग का विवेचन दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ और भानुदत्त आदि का ही उपजीवी है। तुलनात्मक अध्ययन से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि हिन्दी के रीतिकारों ने परम्परागत काव्य-शास्त्र के विकास में भी कोई विशेष योग-दान नहीं किया, स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र के निर्माण का तो प्रश्न ही क्या? अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण इस बात के साक्षी हैं कि हिन्दी के रीति-ग्रन्थों में यदि कहीं तथाकथित स्वतन्त्र विवेचन दृष्टिगत भी होता है तो वह या तो किसी अप्रचलित संस्कृत-ग्रन्थ में ही मिल जाता है, या अपने-आपमें नगण्य सिद्ध हो जाता है, या हिन्दी-रीतिकार की भ्रान्ति का परिणाम-मात्र होता है। वर्तमान काव्य-शास्त्र-ग्रन्थों में अनेक आचार्य हिन्दी के उदाहरण तक देने में असमर्थ रहे हैं। उनके लक्षण आदि तो संस्कृत से उद्धृत हैं ही, उदाहरण भी संस्कृत उदाहरणों के ही अनुवाद हैं। ऐसी स्थिति में हमारे साहित्य में ऐसा क्या है जिसे हम हिन्दी का अपना काव्य-शास्त्र कह सकें?—इसमें सन्देह नहीं कि इस आलोचना में बहुत-कुछ तथ्य है, परन्तु दृष्टिकोण में थोड़ा-सा परिवर्तन कर देने से चित्र इतना विकृत नहीं रह जायगा। वास्तव में हिन्दी-रीति-शास्त्र का मूल्यांकन करते हुए आज भी हम संस्कृत-काव्य-शास्त्र के मानदण्डों का प्रयोग करते हैं—यह भी उसी भूल की पुनरावृत्ति है जो हमारे प्रायः सभी प्राचीन तथा अनेक नवीन रीतिकारों ने की है: अर्थात् लक्ष्य और लक्षण की असंगति। संस्कृत में लक्ष्य-काव्य और लक्षण-ग्रन्थों में पूर्ण सामंजस्य था: भामह, वामन, आनन्दवर्धन तथा कुन्तक आदि ने सिद्धान्त-विवेचन का आधार उपलब्ध काव्य को ही बनाया था। उन्होंने चाहे निगमन शैली का अवलम्बन किया हो या आगमन शैली का, परन्तु संस्कृत-काव्य का आधार कहीं नहीं छोड़ा—इसीलिए उनके लक्षण और लक्ष्य के बीच प्रत्यक्ष तथा जीवन्त सम्पर्क आद्यन्त बना रहा; जिसने उनके काव्य-शास्त्र को रूढ़ि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बद्ध नहीं होने दिया। हिन्दी का रीतिकार इसी जीवन्त सम्बन्ध-सूत्र को नहीं पकड़ पाया : परिणाम यह हुआ कि वह प्राचीन लक्षणों का अनुवाद करके उनकी सिद्धि के लिए नये उदाहरण रचता रहा। इस प्रकार सारा क्रम ही उलट गया—आवश्यक यह था कि वह हिन्दी में उपलब्ध लक्ष्य-काव्य के आधार पर निगमन शैली से लक्षण-रचना करता या हिन्दी-काव्य के आधार पर संस्कृत-सिद्धान्तों का परीक्षण एवं पुनराख्यान करता, परन्तु वह लक्षण को सिद्ध करने के लिए लक्ष्य की रचना करने लगा। आज हम फिर इसी दृष्टि से हिन्दी-रीति-साहित्य का मूल्यांकन करके उसी भूल की आवृत्ति कर रहे हैं—परिणाम यह होता है कि उसमें जो थोड़ा-बहुत अपना है वह भी संस्कृत-काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कसने से उपेक्षित या तिरस्कृत हो जाता है और हमें लगता है कि हमारे पास कुछ नहीं है।

परन्तु स्थिति इतनी दयनीय नहीं है। हिन्दी के प्राचीन तथा नवीन हिन्दी-काव्य में—और काव्य-शास्त्र में भी इतनी सामग्री निश्चय ही विद्यमान है कि उसके आधार पर हिन्दी के अपने विशिष्ट काव्य-शास्त्र के अस्तित्व की परिकल्पना असंगत नहीं कही जा सकती : कम-से-कम हिन्दी के पास इतना मूलधन अवश्य विद्यमान है कि उसके आधार पर एक अच्छे काव्य-शास्त्र का निर्माण किया जा सकता है जो संस्कृत तथा अंग्रेजी का उपजीवी न होकर हिन्दी की अपनी सम्पत्ति होगी। मैं कुछ उदाहरण देकर अपनी स्थापना को पुष्ट करता हूँ। पहले लक्षण-ग्रन्थों को ही लीजिए—इसमें सन्देह नहीं कि हमारे अधिकांश लक्षण ग्रन्थ संस्कृत-अलंकार-शास्त्र या कवि-शिक्षा-ग्रन्थों के ही उपजीवी हैं, परन्तु उनमें ऐसी पर्याप्त सामग्री है जो नई है : उदाहरण के लिए रस अथवा शृंगार रस के सार्वभौम महत्त्व की प्रतिष्ठा जैसी हिन्दी में है, वैसी संस्कृति में नहीं है। संस्कृत का मान्य सिद्धान्त, समग्रतः ध्वनि ही रहा है : आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने ध्वनि को सर्वप्रभुत्वसम्पन्न सत्ता से मण्डित कर दिया था और रस, अलंकार आदि उसीके अधीनस्थ हो गए थे। हिन्दी रीति-शास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त रस ही हुआ : रीति-युग में शृङ्गार रस की ऐसी सहस्रधारा प्रवाहित हुई कि ध्वनि, अलंकार आदि उसमें निमग्न हो गए—यहाँ शृङ्गारवाद के रूप में एक पृथक् सम्प्रदाय ही उठ खड़ा हुआ। आप कहेंगे कि शृङ्गार के रसराजत्व के सूत्र भी तो संस्कृत से ही प्राप्त हुए थे—परन्तु सूत्र तो सभी के कहीं-न-कहीं से प्राप्त होते ही हैं, महत्त्व उस स्वतन्त्र और व्यापक रूप-आकार का है, जो शृङ्गार ने हिन्दी-काव्य-शास्त्र में धारण कर लिया था। वास्तव में हिन्दी के आचार्य की दृष्टि ही बदल गई थी—और इसका एक अद्भुत प्रमाण यह है कि महाराज रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के कोटि-क्रम का विधान किया है; यह ध्वनि के लिए सबसे बड़ी चुनौती और रस की सार्वभौम प्रभुता का अन्तिम प्रमाण था। देव ने अनेक प्रकार से रस का प्रबल पृष्ठपोषण और ध्वनि का पूर्ण तिरस्कार किया। यहाँ तक कि उन्होंने व्यंजना को रस-कुटिलता के कारण अधम ही कह दिया। अलंकार के क्षेत्र में अतिशय तथा वक्रता आदि के स्थान पर हिन्दी में सादृश्यमूलक उपमादि की प्रतिष्ठा हुई, गुणों में माधुर्य की (चिन्तामणि आदि ने उसे काव्य का सर्वस्व माना है) और शब्दालंकारों में अनुप्रास की। यह सब शृङ्गार रस की ही महिमा थी जिसका चमत्कार नायिका-भेद के क्षेत्र में भी अधिक प्रकाशित हुआ—शुक्ल जी-जैसे शास्त्रनिष्ठ आलोचक को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी में नायिका-भेद का विधान कहीं अधिक समृद्ध एवं सर्वांगपूर्ण है।—हिन्दी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्द-शास्त्र तो प्रायः स्वतन्त्र रूप में विकसित हुआ ही है—दास आदि ने तुक की विवेचना करके एक स्वतन्त्र परिपाटी का शिलान्यास किया। इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; परन्तु उनके लिए इस समय न अवकाश है, और न आवश्यकता ही। आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी-रीति-शास्त्र का मूल्यांकन पूर्णतया संस्कृत के आधार पर ही न होकर स्वतन्त्र बुद्धि से भी किया जाय। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि हिन्दी के रीतिकारों की त्रुटियों और भ्रान्तियों को भी प्रमाण मान लिया जाय। हमारा रीति-शास्त्र संस्कृत पर आश्रित रहा है, अतएव संस्कृत-काव्य-शास्त्र के प्रकाश में उसका अध्ययन होना तो ठीक ही है और ऐसा अनेक विद्वान् कर भी चुके हैं। किन्तु मेरा निवेदन केवल यही है—उसके साथ-साथ स्वतन्त्र दृष्टि से भी हिन्दी-रीति-शास्त्र का पर्यालोचन अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि हमको यह नहीं भूल जाना चाहिए कि हिन्दी के रीतिकार एक सर्वथा भिन्न युग तथा भिन्न साहित्य के प्रतिनिधि थे। संस्कृत की ऋणी होने पर भी उनकी काव्य-चेतना स्वतन्त्र थी। इस प्रसंग में मुझे अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि-आलोचक ड्राइडन की एक प्रसिद्ध उक्ति का अनायास ही स्मरण हो जाता है। वे लिखते हैं—'हमें हर जगह यह दुहाई नहीं देनी चाहिए कि अरस्तू का मत भिन्न था। आज यदि अरस्तू होता तो वह भी अपना मत बदल देता।' काव्य-शस्त्र का यह ज्वलंत सत्य है, इसकी उपेक्षा कर देने से हिन्दी में जो कुछ स्वतन्त्र है, वह भी उपेक्षित हो जाता है।

रीति-विवेचन के अतिरिक्त हिन्दी के प्राचीन काव्य में भी इतनी प्रभूत सामग्री है कि उसके आधार पर अपने स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र का निर्माण अत्यन्त सफलता पूर्वक किया जा सकता है। आरम्भ से ही हिन्दी की अपनी विशिष्ट काव्य-चेतना रही है, जो स्वतन्त्र काव्य-रूपों में अभिव्यक्त होती आई है—जैसे रासो-काव्य का अपना स्वतन्त्र स्वरूप है; जिसे आप संस्कृत के महाकाव्य तथा खण्डकाव्य के लक्षणों में नहीं बाँध सकते, आल्ह खण्ड-जैसे वीर-गीतों का भी अस्तित्व पृथक् ही है। हिन्दी का सन्त-काव्य, काव्य की मूल चेतना और अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से, संस्कृत-काव्य-शास्त्र के लक्षणों में नहीं आता। इसी युग के प्रेमाख्यानक-काव्यों की परम्परा को शास्त्रीय प्रबन्ध-काव्य की कसौटी पर आँकना उचित नहीं है। भक्ति-युग में गीति और प्रबन्ध के अपूर्व समन्वय से जो एक नवीन किन्तु अत्यन्त प्रबल काव्य-रूप आविर्भूत हुआ उसको आप न संस्कृत-रूढ़ मुक्तक की परिभाषा में बाँध सकते हैं, न प्रबन्ध की, और न पाश्चात्य गीति-काव्य की। इसी प्रकार रीति-काल में सवैया तथा घनाक्षरी में जो अद्भुत् रस-व्यंजना हुई वह न संस्कृत के मुक्तक की परिधि में आती है और न अंगरेज़ी के गीत की: उसमें मुक्तक की अपेक्षा कहीं अधिक आत्म-तत्त्व और गीत की अपेक्षा कहीं अधिक वस्तु-तत्त्व विद्यमान रहता है। इन सभी अभिव्यंजना-रूपों का अध्ययन संस्कृत के लक्षणों अथवा सर्वथा भिन्न देश-काल में विकसित यूरोपीय काव्य-शास्त्र की परिभाषाओं के द्वारा करने के स्थान पर हिन्दी की प्रकृति और स्वरूप—हिन्दी की अपनी विकासोन्मुखी काव्य-चेतना तथा उसके सहज माध्यम काव्य-रूपों के विश्लेषण द्वारा कदाचित् अधिक सफल हो सकेगा। काव्य-शास्त्र के उस चिरन्तन सिद्धान्त के अनुसार यहाँ भी आलोचक को अपनी आलोचना-दृष्टि आलोच्य में से ही प्राप्त करनी होगी—और इसमें इन कवियों की अपनी उक्तियाँ, जो आत्म-निरीक्षण के क्षणों में स्वतः उद्गीथ हो गई हैं, आपका पथ-प्रदर्शन करेंगी। तुलसी और घनानन्द-जैसे कवियों में इस प्रकार का आत्मा-लोचन पर्याप्त मात्रा में मिलेगा: आप कल्पना कीजिए कि रीति के उस रूढ़ि-ग्रस्त युग में घना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नन्द में आत्म-तत्त्व के पोषक इस प्रकार के अनेक उद्धरण सहज ही मिल जाते हैं :

लोग तो लागि कवित्त बनावैं पै मोहि तो मेरे कवित्त बनावत !

तुलसीदास अपने मंगलाचरण में ही वाणी और विनायक का विचित्र संयोग करके अपनी कल्याणमयी सौन्दर्य-भावना की व्यंजना कर देते हैं ।

हिन्दी के आधुनिक काव्य-शास्त्र तथा काव्य के विषय में तो और भी अधिक क्षेत्र है। मैं यह मानता हूँ कि आरम्भ में जो रीति-ग्रन्थ लिखे गए उनमें स्वतन्त्र दृष्टि का प्रायः अभाव है—आधार चाहे भारतीय काव्य-शास्त्र रहा हो या पाश्चात्य । परन्तु यह भी अनुपयोगी नहीं था, भारतीय दृष्टिकोण को समझने के लिए सर्वश्री अर्जुनदास केडिया, जगन्नाथप्रसाद 'भानु' और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के ग्रन्थों की उपादेयता अतर्क्य है, इसी प्रकार 'साहित्यालोचन' आदि ने पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त करने में बड़ी सहायता की है और इस दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व आज भी नगण्य नहीं है । परन्तु हिन्दी-काव्य-शास्त्र का स्वतन्त्र रूप इनमें न मिलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि की समीक्षा में ही मिलता है । इधर आधुनिक काव्य और उससे सम्बद्ध अनेक प्रतिभाशाली कवियों की भूमिकाओं में हिन्दी-काव्य-शास्त्र के विकास के लिए अत्यन्त पुष्ट आधार मिलता है । छायावाद में पन्त आदि सक्षम कलाकारों ने जिस नवीन सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष किया है वह हिन्दी की अपनी विभूति है, जो बंगला और अंगरेजी की रोमानी छाया से स्वतन्त्र है । कला की अन्तश्चेतना और बाह्य अभिव्यंजना दोनों के विकास में उसका अपना विशिष्ट योगदान है, जिसका उचित मूल्यांकन अभी होना है । 'यशोधरा' और 'द्वापर'—'तुलसीदास', 'बापू' और 'कुरुक्षेत्र'—और इन सबकी मुकुट-मणि—'कामायनी'—आधुनिक हिन्दी-काव्य की अनेक अनुपम कृतियाँ हैं : आप उन्हें संस्कृत या अंगरेजी के किस काव्य-रूप के अन्तर्गत लक्षण-बद्ध करेंगे ? गद्य में भी इसी प्रकार विस्तृत क्षेत्र है : शुक्लजी के या सियारामशरण के निबन्धों को, अथवा महादेवी के रेखा-चित्रों को आप बलात् 'ऐसे' की किस परिभाषा में बाँध सकेंगे ? प्रसाद के नाटकों के साथ भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-विधान के आरोप के कारण कितना अन्याय होता रहा है ? मैंने अनेक साहित्य-मर्मज्ञों को यह कहते सुना है कि 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास नहीं है, वह उपन्यास और जीवनी के बीच की कोई वस्तु है । यहाँ कदाचित् आपके या किसी के मन में एक भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है और वह यह कि कहीं मैं इन ग्रन्थों को आदर्श साहित्य-रूप मान लेने की सिफ़ारिश तो नहीं कर रहा हूँ । न ही मैं इनके दोषों की उपेक्षा नहीं करना चाहता—और न इन्हें परिपूर्ण ही मानकर चलता हूँ । मेरा मन्तव्य केवल यही है कि हिन्दी-आलोचना शास्त्र का विकास हिन्दी के आलोच्य साहित्य से निरपेक्ष होकर नहीं होना चाहिए । उसके निर्माण और विकास के लिए परिपुष्ट आधार विद्यमान है : आज उसके सम्यक् उपयोग की आवश्यकता है । यह उपयोग किस प्रकार हो सकता है ? इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि हिन्दी-साहित्य की परम्परा को आधार मानकर भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों के सामंजस्यपूर्ण पुनराख्यान के द्वारा यह महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध हो सकता है । इसका दिशा-निर्देश आचार्य शुक्ल और कवि प्रसाद के विवेचन में मिल जाता है : शुक्लजी ने भारतीय सिद्धान्तों का पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के अनुसार विवेचन-व्याख्यान किया है और प्रसादजी ने पाश्चात्य सिद्धान्तों का भारतीय चिन्ता-पद्धति के अनुसार ।

इस प्रकार आरम्भ में मैंने जो चार प्रश्न उठाये थे— उनमें से तीन का उत्तर मैं अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतानुसार दे चुका। अब चौथा प्रश्न शेष रह जाता है। उसका उत्तर देकर मैं इस वक्तव्य का उपसंहार करता हूँ। आज जब प्रादेशिक भावनाएँ भारतीय चेतना में संश्लिष्ट हो रही हैं: इस प्रकार का प्रयत्न क्या आवश्यक तथा उपयोगी होगा? इस प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने के उपरान्त हिन्दी-साहित्य तथा भाषा दोनों का भारतीय आधार पर विकास होना आवश्यक है, परन्तु हिन्दी के विकास के लिए वे ही नियम लागू होने चाहिएँ जो मनोविज्ञान आदि में व्यक्तित्व के विकास के लिए निर्धारित हैं। व्यक्तित्व के विकास के लिए वातावरण में उपलब्ध सभी तत्त्वों का उचित उपयोग आवश्यक होता है, परन्तु आधार व्यक्तित्व की मूल-प्रवृत्तियाँ ही रहती हैं। इसी प्रकार हिन्दी भाषा एवं साहित्य का विकास संस्कृत तथा द्रविड़ भाषाओं में निहित भारतीय परम्पराओं तथा पाश्चात्य चिन्ता-धाराओं के पोषक तत्त्वों द्वारा होना सर्वथा श्रेयस्कर है; किन्तु उसका आधारभूत व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहना चाहिए: इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के संश्लिष्ट व्यक्तित्व का विकास ही श्रेयस्कर है। व्यक्तित्व खोकर विकास कैसा? संस्कृत-काव्य-शास्त्र का भाण्डार अत्यन्त विभूति-सम्पन्न है, इसमें कौन सन्देह कर सकता है—भरत से लेकर जगन्नाथ तक प्रसरित यह समृद्ध परम्परा हमारी अमूल्य थाती है: उसका उचित अध्ययन अभी नहीं हुआ है। उधर प्लैटो से लेकर क्रोचे तक विस्तृत चिन्ता-धारा भी हमें विदेशी शोषण की क्षति-पूर्ति में मिली है, उसका भी हमारा ज्ञान बड़ा कच्चा है। इन अभावों की पूर्ति के लिए हिन्दी के मेधावी आलोचकों के सामुदायिक प्रयत्न की अपेक्षा है: और उनके लिए यह कार्य किसी प्रकार दुष्कर नहीं है, क्योंकि यदि आप आत्म-श्लाघा न मानें तो मैं एक बार फिर निवेदन कर दूँ कि हिन्दी का आलोचना-साहित्य आज कदाचित् उसका सबसे पुष्ट अंग है। इस प्रकार हिन्दी के स्वतन्त्र आलोचना-शास्त्र का सम्यक् विकास किया जा सकेगा जिसका मूल आधार होगा, हिन्दी के माध्यम से काव्य के चिरन्तन सत्यों का अनुसन्धान, जो भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों की समृद्ध परम्पराओं से पोषण प्राप्त करेगा, परन्तु उनकी व्याख्या या अनुवाद-मात्र होकर नहीं रह जायगा।

डॉक्टर भगीरथ मिश्र

हिन्दी का अपना समीक्षा-शास्त्र (आवश्यकता)

हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में आज हमारे सामने कई प्रश्न हैं और समीक्षा के विकास के पथ पर आगे बढ़ने के पूर्व, हमें इनके उत्तर प्राप्त करने हैं; अन्यथा, न तो काव्य-शास्त्र या समीक्षा-शास्त्र का ही कोई निश्चित रूप बन पायगा, जिसमें हमारी कोई विशिष्ट देन हो सके और न उसके विकास के मार्गों में ही कोई सामंजस्य सम्भव हो सकेगा। प्रश्न ये हैं—(१) हमें आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय काव्य-समीक्षा के सिद्धान्तों का क्या और कैसे उपयोग करना चाहिए? (२) हम पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों से क्या और कैसे ग्रहण कर सकते हैं? (३) क्या हिन्दी का कोई अपना निजी समीक्षा-शास्त्र हो सकता है? यदि हाँ, तो उसका विकास, किस प्रकार किया जा सकता है? ये तीन प्रमुख प्रश्न हैं, जिन पर हमें विचार करना है। इन्हीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सम्बन्धित और भी छोटे-मोटे प्रश्न हो सकते हैं जिनमें से अधिकांश का समाधान, इन्हींके समाधान के साथ हो सकता है।

पहले प्रश्न का पूरा विस्तार इस प्रकार होगा। क्या आज की समीक्षा के लिए प्राचीन भारतीय समीक्षा-पद्धतियाँ आवश्यक हैं? यदि आवश्यक हैं तो किस अंश तक हम उनका उपयोग कर सकते हैं? उनका उपयोग समीक्षा के आधुनिक रूप को कहाँ तक प्रगति और विकास देने में समर्थ होगा और उसके द्वारा कहाँ तक नवीन रचनाओं की प्रेरणा मिल सकेगी, साथ ही उनका यथार्थ मूल्यांकन हो पायगा? मैं समझता हूँ कि ये प्रश्न अधिकांश आलोचकों और लेखकों के मन में उठते होंगे और इनके भिन्न-भिन्न उत्तर भी हमारे सामने आते हैं। कुछ लोग इन प्राचीन पद्धतियों को आज के लिए बिलकुल निकम्मी समझते हैं और उनको, किसी रूप में भी आधुनिक आलोचना-पद्धति के लिए उपयोगी नहीं मानते। कुछ लोग, दूसरी ओर इन्हींको कसौटी मानकर आधुनिक रचनाओं को कसते हैं और उनके आधार पर खरी न उतरने वाली कृतियों को देखकर निराश होते हैं। मेरी समझ में ये दोनों ही दृष्टियाँ एकांगी हैं। जिस समय ये सिद्धान्त बने थे, तब से हमारे दृष्टिकोण और संस्कारों में बहुत कुछ विकास और परिवर्तन हुआ है, अतः उन सिद्धान्तों को यथावत् आधार मानकर हम अपना काम नहीं चला सकते। प्रमुख प्राचीन काव्य-सिद्धान्त, अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, अनुमिति और औचित्य हैं। इन सबकी कसौटी पर कसकर भी, हम ऐसा अनुभव करते हैं जैसे हमने किसी रचना का पूर्ण महत्त्व और प्रभाव स्पष्ट नहीं कर पाया। इन सिद्धान्तों पर कसने से आचार्य-वाक्य प्रमाण ठहरते हैं, पर कवि की अपनी मौलिकता को हम प्रकट नहीं कर पाते। संस्कृत-साहित्य में प्राप्त काव्य में समस्त लक्षणों और तत्त्वों को सामने रखकर भी काव्य की व्यापक, गम्भीर महत्ता हृदयगंम नहीं कर पाते जो कि उसी साहित्य की ही, कवि और काव्य-प्रशस्तियों में प्रकट है। अतः निश्चित है कि हमें आज की दृष्टि से नये सिद्धान्त स्थिर करने चाहिएँ, जो काव्य और साहित्य के समग्र महत्त्व को प्रकट कर सकें।

परन्तु, एक बात का ध्यान हमें रखना है। संस्कृत-साहित्य के अनेक काव्य-सिद्धान्त, सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्त्व रखते हैं, अतः हम उनका पूर्णतया त्याग नहीं कर सकते। उनका उपयोग हमें नवीन, विकसित रूप में करना चाहिए। इस दृष्टि से अलंकार, रस और ध्वनि-सिद्धान्त आज भी हमारे लिए उपादेय हैं। आज के कवियों ने अपने प्रयोगों में अलंकारों का विकास किया है। अलंकारों के नवीन प्रयोगों और उनके भेद-प्रभेदों के विकास को आज की कविता में अध्ययन करके, यह निश्चित किया जा सकता है कि अलंकार कविता में अनिवार्य हैं या नहीं। पूर्ववर्ती अलंकारों का आज किस प्रकार विकास हुआ है, यह अध्ययन की वस्तु है। अलंकार के आधार पर जो काव्य-सौन्दर्य स्पष्ट होगा, वह अन्य आधारों पर नहीं। रस की दृष्टि से भी आज की रचनाओं में नवीन भावों की अभिव्यक्ति और पूर्वनिर्दिष्ट भावों की विवृति हुई है; देश-प्रेम, मानव-प्रेम धीरे-धीरे स्थायी भाव-से बनते जा रहे हैं, नये भाव भी अभिव्यक्त हुए हैं; जिन्हें पुराने लक्षण-बद्ध भावों के क्षेत्र में बन्द नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त रस भावानुभूति की प्रक्रिया पर भी आधुनिक मनोविज्ञान-प्रबुद्ध दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार शब्द-शक्तियों और ध्वनि-सिद्धान्त के क्षेत्र में भी सुन्दर प्रयोगों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होगा। ये सिद्धान्त इतने व्यापक हैं कि इन पर किसी भी भाषा के काव्य को परखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है।

बहुत-कुछ इसी प्रकार की बातें हम दूसरे प्रश्न के उत्तर में भी कह सकते हैं। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय आलोचना-पद्धति के कुछ रूपों को आज भी हम उपादेय ठहराते हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य आलोचना के भी कुछ रूप हमारे लिए नवीन और आवश्यक हैं। ऐतिहासिक आलोचना और व्याख्यात्मक आलोचना इनमें प्रमुख हैं। ऐतिहासिक आलोचना के आधार पर ही हम किसी कृति का युग की पृष्ठभूमि में मूल्यांकन कर सकते हैं। जो कृति आज महत्त्वपूर्ण है सौ वर्ष बाद आवश्यक नहीं कि उसका महत्त्व उतना ही बना रहे। अतः कवि और उसकी कृति के साथ न्याय करने के लिए ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति आवश्यक है। व्याख्यात्मक आलोचना और भी अधिक उपादेय है। हम व्याख्यात्मक आलोचना के आधार पर, किसी भी कवि के निजी विशिष्ट काव्यादर्श को स्पष्ट कर सकते हैं। ऐसे ही किसी युग-विशेष की प्रवृत्तियों के विश्लेषण से युग की विशिष्ट काव्य-चेतना को समझकर उस युग के काव्यादर्शों को ढूँढा जा सकता है।

प्रश्न यह उठता है कि वैयक्तिक काव्यादर्शों और युग-विशेष के काव्यादर्शों की क्या आवश्यकता है? उसकी आवश्यकता अनेक दृष्टियों से है। जिस प्रकार हमारी सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक और उपकरण युगानुकूल बदलते रहते हैं, कुछ मूलभूत बातें और तत्त्व आती-जाती हैं और कुछ बातें बीच में कुछ समय तक उपेक्षित रहकर फिर नवोदित होती हैं, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी नवीन तत्त्वों का समावेश और प्राचीन तत्त्वों का तिरोभाव और नवोदय होता रहता है और इस प्रकार काव्यादर्श का विकास भी देखा जा सकता है, साथ ही इसके आधार पर नये सिद्धान्तों को भी खोजा जा सकता है। यदि इस प्रकार कवि के वैयक्तिक तथा युग के विशिष्ट प्रयोगों को प्रत्यक्ष न किया जाय, तो काव्य और उनके शास्त्र दोनों का ही विकास रुक जाता है। अतः व्याख्यात्मक समीक्षा-पद्धति हमारे बड़े काम की है।

काव्य और साहित्य व्यक्ति की सृष्टि और समाज की वस्तु हैं। अतएव व्यक्ति और समाज का ज्ञान प्रस्तुत करने वाले अनेक शास्त्र, काव्य में लागू होते हैं। वरन्, हम कह सकते हैं समाज और व्यक्ति के यथार्थ जीवन को सँजोये रखने वाली वस्तु काव्य ही है। ऐसी दशा में अनेक शास्त्रों के आधार पर भी काव्य की समीक्षा और उसका अध्ययन किया जा सकता है। जैसे मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र की दृष्टि से तथा समाजवादी कसौटी पर काव्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। परन्तु यह आलोचना की कोई नई प्रणाली नहीं, वरन् शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति के ही ये विविध रूप हैं। काव्य को जैसे हम काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों की कसौटी पर कस सकते हैं, वैसे ही समाज-शास्त्रीय या मनोशास्त्रीय कसौटी पर। यह शास्त्रीय या निर्णयात्मक आलोचना का विस्तार है।

वैयक्तिक काव्यादर्शों का विकास पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में खूब देखने को मिलता है, परन्तु उनका उपयोग व्यापक काव्य-सिद्धान्तों के निर्माण में उतना नहीं किया गया। वैयक्तिक काव्यादर्शों के अध्ययन का प्रयत्न हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र के भीतर बहुत कम हुआ है। जब तक समस्त हिन्दी-काव्य के क्षेत्र से वैयक्तिक और युग के काव्यादर्शों का वास्तविक अध्ययन न किया जाय, तब तक हिन्दी-काव्य के आधार पर किसी नवीन सिद्धान्त का विकास हो सकता है या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हिन्दी-समीक्षा के अन्तर्गत जो प्रयत्न रीति-काल या मध्य-युग में हुआ है, उसमें हिन्दी-काव्य के वास्तविक स्वरूप और निजी प्रतिभा का विश्लेषण बिलकुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हुआ। इतना ही नहीं संस्कृत-काव्य-शास्त्र का आधार ग्रहण करके काव्य-रचना की प्रवृत्ति ने, बड़े-बड़े प्रतिभाशाली कवियों की प्रतिभा को भी स्वतन्त्र मार्ग में पूर्ण प्रकाश करने का अवसर नहीं दिया, फिर भी हम चन्द वरदायी, कबीर, विद्यापति, तुलसी, सूर, सेनापति, बिहारी, देव, घनानन्द, ठाकुर, पद्माकर, हरिश्चन्द्र आदि की रचनाओं में इनके निजी काव्यादर्शों को ढूँढ सकते हैं और उसके आधार पर ही हम उनकी विशेषताओं को स्पष्ट कर सकते हैं।

हिन्दी-कवियों की धारणा द्वारा काव्य का जो स्वरूप स्पष्ट होता है उसे संस्कृत-आचार्यों की परिभाषाओं द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** या **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** अथवा **'शब्दार्थौ सहितं काव्यम्'** आदि में काव्य का महत्त्वपूर्ण व्यापक स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। तभी कबीर कहते हैं **'कवि कवीने कविता मूये'** और गोस्वामी तुलसीदास जी कवित-विवेक का दावा नहीं करते और यही कहते हैं कि **'सत्य कहौं लिखि कागद कोरे'**। इसी परम्परा में आकर हमारे आधुनिक कवि भी **'जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है'**, कहते हैं। ये सभी धारणाएँ हमें काव्य के स्वरूप की फिर से परीक्षा करने के लिए प्रेरित करती हैं। जयशंकर प्रसाद तो **'सत्य को अपने मूलचारुत्व'** में ग्रहण करना ही काव्य मानते हैं। काव्य के इस स्वरूप को लेकर आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। यदि हम यह समझ लें कि भौतिक तथ्यों का अनुसन्धान और उद्घाटन जिस प्रकार वैज्ञानिक करता है, कवि भी उसी प्रकार हमारे मानसिक और आध्यात्मिक तथ्यों का उद्घाटन करता है, तो हम काव्य का यथार्थ मूल्य समझ सकते हैं। एक के लिए आँसू हाइड्रोजन और आक्सीजन का सम्मिश्रण है, तो दूसरे के लिए **'मस्तक में स्मृति रूप में छाई घनीभूत पीड़ा का, दुर्दिन में आँखों के द्वारा प्रकट रूप है'**। दोनों ही सत्य के रूप हैं।

मेरा अपना विश्वास तो कुछ ऐसा ही है कि साहित्य की समीक्षा का शास्त्र काव्य और साहित्य के इसी प्रकार के स्वरूप को स्पष्ट करे और काव्य और साहित्य के माध्यम से सत्य के उस पक्ष का विकास करने में सहायता प्रदान करे, जो वैज्ञानिक के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है, जो सुरुचि और सौन्दर्य को भी महत्त्व देता है और उसका एक अंग मानता है और जिसके आधार पर कवि के उद्गार हैं **'सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है'** (Beauty is truth, truth is beauty) जिसमें **'सत्यं शिवं सुन्दरं'** में भेद नहीं; वे एक ही वस्तु के विभिन्न पक्ष हैं।

मेरा आग्रह यह कदापि नहीं कि हिन्दी-समीक्षा-शास्त्र, अन्य समीक्षा-शास्त्रों से कोई नितान्त भिन्न हो सकता है और हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी के अलग-अलग समीक्षा-शास्त्र होने चाहिएँ। समीक्षा के व्यापक सिद्धान्त तो सभी साहित्यों पर लागू होंगे, परन्तु हिन्दी-कवियों और उनकी रचनाओं के द्वारा अभिव्यक्त स्वरूप को लेकर साहित्य-समीक्षा की एक नई और अब तक प्राप्त ज्ञान के आधार पर अधिक सम्पन्न कसौटी तैयार की जा सकती है। ध्वनि-सिद्धान्त के समान, काव्य का कोई और व्यापक तथा आज की चेतना और धारणा को अपनाकर विकसित होने वाला काव्य-सिद्धान्त ढूँढा जा सकता है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि इसके ढूँढे जाने पर हमारे प्राचीन या आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्त व्यर्थ हो जायँगे या उनका महत्त्व कम हो जायगा। मेरा उद्देश्य यही है कि हमें काव्य के सिद्धान्तों का विकास करना चाहिए जैसा कि बराबर होता आया है। आज उसका फिर अवसर हम अनुभव करते हैं, क्योंकि कवि और पाठक काव्य के समुचित मूल्यांकन के लिए अब तक प्राप्त और प्रचलित किसी एक परिपाटी से सन्तुष्ट नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर की पंक्तियों में मैंने यह भी सुझाने का प्रयत्न किया है कि मेरी दृष्टि से इसकी कार्य-प्रणाली क्या है ! आशा है विद्वान् लोग इस विषय पर अपने विचार और कार्य से हिन्दी-संसार को अवगत करेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सकी कार्य-
हिन्दी-संसार

राजेन्द्र यादव

हिन्दी के सामाजिक कथा-नायकों का विकास[1]

कङ्काल

'ज्याँ वल् ज्याँ' को जिन हाथों ने गढ़ा है, सचमुच वे बहुत कुशल और महान् कलाकार के हाथ हैं; एक ऐसे समर्थ कलाकार के मस्तिष्क की प्रतिभा उसमें बोलती है जो भारत की अपेक्षा सामाजिक रूप से अधिक विकसित परिस्थितियों में जी रहा था। ह्यूगो की शब्द-बहुलता और अवान्तर प्रसंगों के प्रति अनुरक्ति भी उस चरित्र की अदम्य जीवनी-शक्ति को छीन नहीं सकी और आखिर 'पूज्य-विशप' को गढ़ने वाली सारी कलात्मक गरिमा पर वह 'महान् अपराधी' स्वयं अधिकार कर बैठा। उसकी हर टक्कर का एक ही दूसरा चरित्र मेरी निगाह में आता है वह है 'भूतनाथ'! वस्तुतः कितने आश्चर्य की बात है कि सामन्तवादी खण्डहरों की इस एक-मात्र जीवनी को हिन्दी के बड़े-बड़े दिग्गजों ने अत्यन्त उपेक्षा और तुच्छता की दृष्टि से देखा है और ...के नीचे कराहते व्यक्ति की तरह यह गदाधरसिंह हर साहित्य के इतिहास-लेखक की ओर ...ना-भरी दृष्टियों से देखता रहा है। फिर भी भूतनाथ इतना निरीह नहीं है, भरसक वह सर्व-शक्तिमान् है, वह 'अय्यार' है। जिन परिस्थितियों ने 'ज़्याँ वल् ज़्याँ' को अपराधी, नास्तिक और लुटेरा बना दिया है, लगभग वैसी ही परिस्थितियों ने गदाधरसिंह को 'भूतनाथ' अय्यार (अय्यार का अर्थ अरबी में है—बहुत चलने वाला। शायद इसीसे 'चलता हुआ' बना है।) ...में की गई 'एक भूल' उसे खा गई और यह 'अय्यार' हिन्दी के नवीनतम उपन्यासों में बदल-बदलकर आता रहा।

भूतनाथ साधारण पात्र नहीं है। सामन्तवाद के बड़े-बड़े आदर्श राजा-महाराजाओं, ...प्रेमिकाओं और युद्ध-द्वन्द्वों के बीच में (पन्द्रहवें भाग में) जिस पात्र के लिए स्वयं ग्रन्थकार को यह कहना पड़ा हो कि "इस उपन्यास-भर में जैसा भूतनाथ का अद्भुत रहस्य है, वैसा किसी का नहीं।" और स्त्रियों के लिए युद्ध करने वाले पतनशील सामन्तवाद की अट्ठाईस भागों की ...ओं के घटाटोप से मनु की तरह जो पात्र उभरकर आता है और अन्त में जो स्वयं लेखक को इतना विवश कर देता है कि वह उसकी स्वतन्त्र आत्म-कथा ही लिखे—वह है मध्यवर्ग का ...भूतनाथ। दुष्ट और महात्माओं के 'सपाट' चरित्रों के बीच यही एक आदमी है जिसे वह ...बनना पड़ा है, जो यह कभी नहीं चाहता था। उस समय का यह पहला पात्र है जिसके ...द्वन्द्व है, कचोट है।

'चन्द्रकान्ता सन्तति' साधारण पाठक के लिए चाहे जो हो, लेकिन उपन्यास के माध्यम ...का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए तत्कालीन समाज का ऐसा विशाल, किन्तु ज़रा

[1] इस लेख के उपशीर्षकों का उन्हीं नामों के उपन्यासों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्र दर्पण है, तिलस्म है कि जिसकी चाबी मिलते ही सब दरवाजे अपने-आप खुलते चले जाते हैं। यह तिलस्म न 'तिलस्मे होशरुबा' से लिया गया है और न 'दास्ताने अमीर हमजा' से, क्योंकि दोनों के कथानकों की तर्ज में जमीन-आसमान का फ़र्क है। इन दोनों पुस्तकों में ही कथानक एक निहायत ही अनिश्चित गति से आगे बढ़ता है और तिलस्म वहाँ दैवी शक्तियों के हाथों में चालित होता है। ऐयारों की भी अपनी मेधा, सूझ या चातुर्य काम नहीं करते, मुसीबत में पैगम्बर उनकी मदद को आते हैं। 'होशरुबा' का तो उर्दू अनुवाद ही 'चन्द्रकान्ता' के बाद हुआ। 'उमरू ऐय्यार' चाहे शाहे लन्धैर के जाल में हों या 'जोहराए मिस्त्री' के; 'हजरत ख्वाजा खिज्र' उसकी मदद को आ जाते हैं। इसके ठीक विपरीत चन्द्रकान्ता के कथानक को आगे-पीछे की ख़ातिर का ताना-बाना बुनकर दैवी अतिरंजनाओं से बचाते हुए जो तर्क-संगत गढ़ाव दिया गया है, वह पाठक की बुद्धि और उत्सुकता को आदि से अन्त तक जकड़े रहता है। उसमें समाज में आते हुए वैज्ञानिक युग की पूर्व सूचनाओं के आधार पर, ऊपर से असम्भव लगने वाले इन तिलस्मों को बिलकुल वैज्ञानिक मशीनरी द्वारा ही सम्भावित-संचालित दिखाने का प्रयत्न ही नहीं किया, बल्कि बाद के परिशिष्ट में उसको और भी दलीलों से मान्य ठहराने की कोशिश की है। यहाँ तक कि हम (इक्कीसवें भाग) में सिनेमा देखते हैं, बिजली के बाजे सुनते हैं और सबसे बढ़कर बिजली की तरह चमककर करैण्ट से अचेत कर डालने वाले खंजर तो पूरे कथानक में चरितार्थ किये हुए हैं। बड़े-बड़े पहिए, चर्खियाँ, पेच और बटन ये सब उगते पूँजीवाद की छाया नहीं तो क्या हैं? हाँ, भारतीय गौरव उस सबको विदेशी देन कहकर स्वीकार करने को तैयार नहीं और "ये चीजें तो हमारे यहाँ भी थीं" की भावना से ऐतिहासिकता का जामा पहनाकर प्रस्तुत करता था। इसका सबसे अच्छा उदाहरण 'आश्चर्य वृत्तान्त' है। यही दम्भ आगे बढ़कर ऐतिहासिक ऐश्वर्यों से पूर्ण उपन्यास लिखने को प्रेरित करता है। तो उस समय का तिलस्म अपने में और कुछ नहीं वैज्ञानिक विकास और आविष्कारों में चमत्कृत वस्तुसत्य की अनिवार्य (क्योंकि तत्कालीन समाज उन सबसे सुनकर ही परिचित हुआ था, जीवन में अनुभव धीरे-धीरे ही कर रहा था) तथा पतनशील सामन्ती विचार-धारा के मानसिक द्वन्द्व और खिंचाव का प्रतिबिम्ब है। यही कारण है कि जैसे-जैसे सामन्ती विकास छूटता जाता है, तिलस्म शुद्ध वैसे-वैसे विकास बनता जाता है—'स्वर्ण रेखा', 'सुफेद शैतान', 'रक्त मण्डल' और 'लाल पंजा' इसके विकास-चिह्न हैं। यों लेखक के 'अनजान'! में ही एक समाज-सत्य से उद्भूत 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के तिलस्म का कल्पनारूपक आगे जाकर दो धाराओं में उड़ता दिखाई देता है, एक शुद्ध सामन्तकालीन कथाएँ और दूसरी शुद्ध अय्यारी, तिलस्मी या जासूसी कहानियाँ। वह सत्य दोनों से लुप्त होता चला जाता है और बाद के इस ढेर में 'भूतनाथ' का कहीं पता नहीं चलता, केवल उसकी लाश लटकती रहती है।[1] यह उसके अज्ञातवास का काल है लेकिन लगभग 'चौदह वर्ष' के बाद अचानक 'सेवा सदन' के प्रारम्भिक पृष्ठों में ही दारोग़ा कृष्णचन्द्र और उसके परिवार के रूप में प्रकट होकर यह एकदम पूरे साहित्यिक-संसार को चौंका देता है, कि वह ऐसा वेश भी रख सकता है इसकी किसी को कल्पना भी नहीं थी।

मध्यवर्गीय व्यक्ति या भूतनाथ के विकास पर आने से पहले इसके पूर्वरूप की रेखाएँ स्पष्ट कर दी जायँ।

---

१. भूतनाथ उपन्यास का अन्त।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के हिन्दी-लेखकों की एक चीज देखकर वास्तव में आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता—वह है समाज के प्रति उनकी ईमानदारी, उसकी समस्याओं का चित्रण और निदान खोजने की अकुलाहट। चाहे वे उपन्यासकार श्रीनिवासदास हों या निबन्धकार प्रतापनारायण मिश्र; नाटककार भारतेन्दु हों या पत्रकार बालमुकुन्द गुप्त सभी के सामने तत्कालीन समस्याएँ हैं और वे उनको हल करते हैं।

खुले आम १८५७ में समाज-व्यवस्था में परिवर्तन के परिणामस्वरूप लोगों के सामने नई-नई समस्याएँ, व्यक्ति और परिस्थितियाँ आ रही थीं, संस्कारबद्ध हृदय द्वारा इन नई परिस्थितियों को स्पष्ट स्वीकार नहीं किया जा सकता था; अतः ऐतिहासिक परम्पराओं से जोड़ या काटकर उन्हें ग्राह्य और अग्राह्य बनाया-बताया जा रहा था। वह निरीक्षण-परीक्षण जहाँ लोगों को अपने वर्तमान रूप के प्रति जागरूक बनाकर राष्ट्रीय चेतना बना रहा था, वहीं संस्कृति-साहित्य की परम्पराओं की रक्षा के लिए आर्यसमाजी तथा अन्य सुधारवादी आन्दोलनों के रूप में भी जाग रहा था। पुराने को किस तरह ढाला जाय कि नये के अनुकूल तो वह बने ही—नये की चमक-दमक, शक्ति और सामर्थ्य के सामने भी हेय न ठहरे यही एक 'स्पिरिट' उस समय के लगभग पूरे साहित्य में आई है। देवरानियों—जिठानियों की लड़ाई को समाप्त करके एक आदर्श गृहस्थ की स्थापना (भाग्यवती— श्रद्धाराम फिल्लौरी), नई रोशनी की स्त्रियों की भर्त्सना करके आदर्श भारतीय नारी के रूप की महिमा (स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी—लज्जाराम मेहता)[1] या युवकों के लिए आदर्श चरित्र की अवतारणा (नूतन ब्रह्मचारी—बालकृष्ण भट्ट) अथवा फिर ऐतिहासिक ऐश्वर्य में अपनी तत्कालीन वस्तुस्थिति को भूल जाने वाले उपन्यास ही उस समय मिलेंगे। ऐतिहासिक उपन्यासों (या रचनाओं) के तो प्रेमचन्द्र के काफी बाद तक केवल दो ही दृष्टिकोण दिखाई देते हैं— एक तो प्राचीन गौरव की विशद विरुदावली, दूसरा अपने वर्तमान दुरवस्था के कारण और निदान की खोज। राष्ट्रीयता की परिभाषा चूँकि तब तक बन नहीं चुकी थी, इसलिए तत्कालीन विदेशी शोषण इत्यादि को प्राचीन विदेशी आक्रमणकारियों के प्रतीकों द्वारा बताया जा रहा था, इसीलिए गुप्त-काल से लेकर मुग़ल-काल तक इनका 'कैन-वास' था।

पूँजीवादी व्यवस्था आने से जो एक नया वर्ग— मध्य वर्ग—प्रकाश में आ रहा था, उसकी रूप-रेखाएँ स्पष्ट होती जा रही थीं। इस वर्ग के दो छोर थे—देशी व्यापारी और बाबू

1. 'आदर्श दम्पति' की भूमिका में मेहताजी ने लिखा है—"यद्यपि उपन्यास आजकल बिलकुल कल्पित और ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर लिखे जाते हैं और इसलिए इनकी कथा कोई प्रमाणभूत नहीं मानी जाती है, परन्तु मैं मानता हूँ और बड़े-बड़े विद्वान् मानते हैं कि उपन्यास समाज का चित्र है और आज उपन्यास की जो कथा कल्पित मानी जाती है, वही समय पड़ने पर इतिहास बन जाती है। इसलिए उपन्यास ऐसा बनना चाहिए जिससे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो—उन्हें पढ़ने से पाठकों के चरित्र सुधरें और वे दुराचार से छूटकर सदाचार में प्रवृत्त हों।"

ऐसी ही बात बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान एक सुजान' के अन्त में लिखी है—"अन्त में हम अपने पढ़ने वालों को सूचित करते हैं कि आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हो तो हमारे इस उपन्यास को पढ़कर हम आशा करते हैं सुजान बनें।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग। इस वर्ग के दोनों ही प्रतिनिधि हमारे कथा-साहित्य में हैं। नवाबों और राजाओं का स्थान अब समाज में सेठ लोग ले रहे थे और मुसाहिबों तथा हाली मवालियों का स्थान क्लर्क या मुन्शी लोग।

यह सेठ किस तरह बिगड़ जाते हैं—इस पर तत्कालीन सामाजिक स्थिति का बड़ा सुन्दर चित्रण करते हुए तीन प्रमुख उपन्यास हमारे सामने हैं—लज्जाराम मेहता का 'धूर्त रसिकलाल' बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान' और श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु'। बम्बई, लखनऊ और दिल्ली के व्यापारी क्रमशः इनके नायक हैं। रसिकलाल मेहरा वेश्या की मदद से सोहनलाल को बिगाड़ता है, लेकिन माधवदास उसका तथा उसकी पत्नी का उद्धार करता है—यह ढाँचा तीनों ही उपन्यासों का कहा जा सकता है। लेकिन सबसे ज्यादा बोलते पात्र हैं—लाला श्रीनिवासदास के। हिन्दी के इस पहले उपन्यास में कथानक, कथोप-कथन, चरित्र-चित्रण, शैली, देश-काल और उद्देश्य आदि सभी के प्रति जो सावधानी और कुश-लता है उसे देखकर तो सचमुच ऐसा लगता है कि बँगला आदि के अनुवादों ने हिन्दी-उपन्यास के स्वाभाविक अंकुर को कुचल दिया। दोनों सेठों के मुक़ाबिले सेठ मदनलाल अधिक जीता-जागता मनुष्य है और सचमुच हर दृष्टि से 'सेवा सदन' तक इस उपन्यास-कला की कोई मिसाल नहीं मिलती। ध्यान रखना चाहिए कि उठती हुई महाजनी सभ्यता तब अपने प्रगतिशील रूप में थी—कुछ-कुछ पतन के चिह्न उसमें जरूर दृष्टिगोचर होते जा रहे थे। प्रथम महायुद्ध के बाद में जब अपनी मृत्यु का पहला उद्घोष उसने किया तो उसका 'रोल' बिलकुल बदल गया और कभी वह 'ज्ञानशंकर' के रूप में, कभी 'जॉन सेवक' के वेश में और कभी 'रायसाहब' की आड़ में अपनी असली सूरतें दिखाने लगा। इन तीनों उपन्यासों में भी सेठों का बिगड़ना सामाजिक सत्य है और उनका सुधार लेखकों की आदर्शवादी कल्पना का आग्रह। उस युग में भी जब लाला श्रीनिवासदास विदेशों में धन जाने की बात को अपने उपन्यास में वाद-विवाद का रूप देते हैं तो उनकी सत्य की पकड़ की तारीफ़ किये बिना नहीं रहा जाता।

दूसरा वर्ग है शहरी बाबू वर्ग और उसका प्रतिनिधि है—भुवनेश्वर मिश्र का पेशकार झगड़ूलाल (घराऊ घटना)। गृहस्थी की, पड़ौस की घटनाहीन बात और केवल एक परिवार का रोजमर्रा का चित्रण भी उपन्यास का विषय हो सकता है उसको उस समय शायद कोई सोच भी नहीं पाता था। खास तौर से ऐसे विषय के रूप में जिसका उद्देश्य कोई सामाजिक उपदेश देना नहीं था। लेकिन क्या युवक गृहस्थ की मनोभावनाएँ और क्या वस्तु-चित्रण सभी में 'स्केच-कला' के मूल बीज हमें 'घराऊ घटना' में मिल जाते है। बहुत सीधी शैली, बड़ी सादी बात और बड़ी रोचक कहानी। 'घराऊ घटना' उस समय की अकेली रचना है जो प्रथम पुरुष में (बाद के 'दीना-नाथ' को छोड़कर) लिखी गई है। आज भी झगड़ूलाल के साथ उसकी बीवी की बातचीत, गहनों के लिए पैंतरे या पड़ोसी नौकर की झड़प उस समाज का सफलतम चित्र दे देते हैं। कौन जाने 'गबन' का प्रेरणा-स्रोत यही हो।

व्यक्ति बन रहे थे—वस्तुसत्य उभर रहा था और सबके ऊपर समस्याओं का ऐसा कोलाहल था कि कुछ सुनाई नहीं देता था। व्यक्ति, वस्तु-सत्य और समस्याएँ सब अलग-अलग थे और एक ऐसे कलाकार की कलम का माध्यम पाने के लिए ये सब छटपटा रहे थे, जो एक साथ तीनों को मिलाकर युग-सत्य को साहस से रख सके। व्याकुलता थी और समाधान नहीं था—इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जल्दी उसका कोई उपचार भी नहीं था इसलिए अनुवाद स्थानापन्न बने हुए थे।

'चन्द्रकान्ता' के लेखक की सफलता यह थी कि उसने बहुत काफी कूड़ा-करकट छानकर एक ऐसे पात्र को खोज निकाला था जो दो समाज-व्यवस्थाओं की सन्धि से झाँककर प्रयत्नपूर्वक अपना सिर उठा रहा था और आने वाली समस्याओं को अपने में समोकर साक्षात् प्रश्न-चिह्न बना समाज-द्रष्टा उपन्यासकार के सामने जा खड़ा हुआ था—"बताओ मैं कौन हूँ, इस समाज में क्या मेरा स्थान है और क्या मेरा भविष्य है?"

मध्यवर्ग का प्रतीक भूतनाथ दो प्रवृत्तियों का द्वन्द्व है। वह किन्हीं विशेष परिस्थितियों का शिकार है और किन्हीं विशेष परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह की आग उसे एक चुस्त-चालाक अय्यार के रूप में चलाये रख रही है। 'विद्रोह' उस युग के यौवन की आवाज थी—और यह विद्रोह व्यक्तिगत हो यह उसकी सीमा। किन विशेष परिस्थितियों का किस-किस रूप में 'हड्डियों का ढाँचा' यह 'भूतनाथ' शिकार है, इसे चारों ओर से सोचने का उसके नये निर्माताओं को समय नहीं था। उन्होंने उसके केवल विद्रोह के आवेग को पकड़ा और 'रक्त मण्डल', 'लाल पंजा' इत्यादि आये।[1]

व्यक्तिगत विद्रोह अपने सक्रिय रूप में जो थोड़ा-बहुत आ पाया है वह इन्हीं उपन्यासों में मिलता है अन्यथा बाद के क्रान्तिकारियों के नाम पर लाये जाने वाले सारे नायक निष्क्रियताजन्य फ्रस्ट्रेशन ही प्रस्तुत करते हैं।

टेढ़े-मेढ़े रास्ते

दोनों महायुद्धों के बीच का हिन्दी-उपन्यास वास्तव में नायक के लिहाज से व्यक्ति के अंकन और अध्ययन तथा व्यक्तित्व के निर्माण और गठन के ह्रास और विकास की कहानी है। व्यक्तित्व युगानुरूप विकास करता जाता है और 'व्यक्ति' संकुचित होकर समाज से कटता जाता है।

व्यक्ति को महत्त्व देने की भावना, या मानवतावादी दृष्टिकोण राजनीति के क्षेत्र में रूसो और वॉल्टेयर और साहित्य और कला के क्षेत्र में गेटे और ह्यूगो की देन थी। रूसो का यह वाक्य "मनुष्य जब पैदा होता है तो उस पर कोई बन्धन नहीं होता" या वॉल्टेयर की यह उक्ति, "तुम जो कुछ कहते हो मैं उसका डटकर विरोध करता हूँ लेकिन यह मरते दम तक मानूँगा कि तुम्हें अपनी बात कहने का अधिकार है" व्यक्ति की महत्ता की वैतालिका है, और यही भावनाएँ टाल्सटॉय, रस्किन या क्रापटकिन और अन्य क्रान्तिकारियों द्वारा भारतीय राजनीति में विभिन्न रूपों में आ रही थीं। इसकी दो धाराएँ तत्कालीन समाज में बहुत अधिक स्पष्ट हैं : हर व्यक्ति स्वतन्त्र है वह गुलाम नहीं रह सकता, के व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता के प्रयत्नों के रूप में तथा हर व्यक्ति मूलतः मानव है, उसे प्यार करो, उसके अधिकारों को मत छीनो और उसकी आत्मा पर छाये कलुष को उससे अलग करके देखो कि क्रिश्चियन-भारतीय दृष्टिकोण के रूप में। इन दोनों ने ही भारतीय समाज-चेतना को आगे विकसित किया (अपना ऐतिहासिक 'रोल' पूरा कर चुकने के बाद व्यक्तिवाद किस तरह एक अव्यावहारिक और प्रदर्शिनी की वस्तु बन जाता है इसके दो मज़ेदार चरम उदाहरण हमारे ही सामने हैं—जो इन दोनों धाराओं के प्रतिनिधि हैं—एक पैगम्बर और एक डिक्टेटर—गांधी और हिटलर—या साहित्य में बर्नार्ड शॉ। "मैं ही ठीक हूँ"

1. **द्रष्टव्य : 'आलोचना' के उपन्यास-अंक में नरोत्तम नागर का लेख।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और "मैं ठीक हूँ क्योंकि मेरे पीछे भगवान् है या मेरी आत्मा कहती है" दोनों वाक्यों में व्यक्तिवादी आग्रह एक ही है। यही कारण है कि भौतिक अस्तित्व की समाप्ति के बाद इनकी देन का अव्यावहारिक भाग एकदम समाप्त हो गया।)

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और मानव मुक्ति की यह दोनों धाराएँ भारत के दो सीमान्तों से उठीं—कलकत्ता और पोरबन्दर। एक का शिक्षण और परिवर्धन-क्षेत्र बर्मा, रंगून, बंगाल आदि रहे—दूसरी का पश्चिमी तटों से लेकर अफ्रीका तक। दूसरी की उपयोगिता समझने के लिए पहली को ही पहले समझ लिया जाय।

औपनिवेशिक व्यवस्था व्यक्ति और समाज के बीच की खाई को हमेशा और चौड़ा करती जाती है और दोनों ही एक-दूसरे को अपरिचित या प्रायः शत्रुता की दृष्टि से देखते हैं। व्यक्ति का ध्वस्त आत्म-विश्वास 'अहं' बनता जाता है और विकासमान समाज की धारा में वह 'द्वीप' की तरह कटकर ठूँठ-सा खड़ा रहता है। सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा या प्राप्ति के प्रयत्न में जब वह लड़ते-लड़ते हार जाता है तो समाज से सहानुभूति चाहता है, सान्त्वना और समर्थन माँगता है; लेकिन चूँकि अपने पूरे युद्ध के दौरान में उसने समाज की इच्छा जानने की कभी कोशिश नहीं की थी इसलिए इनमें से उसे कुछ नहीं मिलता तो रुद्ध-विक्षोभ सिर्फ दो ही तीन दिशाओं में फूटता है। अपने 'अहं' को ही सर्वोपरि मानता हुआ वह विक्षिप्त की तरह हर वस्तु को निरर्थक[1] समझे और हर व्यवस्था के प्रति आस्था खो बैठे, अनारकिस्ट और निहलिस्ट हो जाय और समाज से तरह-तरह से अपनी उपेक्षा का बदला ले; तथा स्वयं अपने पतन की महानता को घोषित करे, पुरातनवादी हो जाय और प्रकृति या अध्यात्म की ओर भाग खड़ा हो या फिर सीधे ही ग़म ग़लत करने के लिए शराब पिये। क्रान्तिकारियों के व्यक्तिगत विद्रोह के इतिहास में इन सभी परिस्थितियों के उदाहरण हमें उपलब्ध हैं यह व्यक्ति-विद्रोह समाज-विद्रोह की ओर किस तरह विकसित होता है इसका काफ़ी अच्छा विवेचन है यशपाल का 'सिंहावलोकन'। व्यक्ति पराजय की यह प्रतिक्रियाएँ हमें हिन्दी-काव्य और कहानी के छायावादी विकास में, तथा इन्हीं प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित उपन्यासों में मिलती हैं।

"पराजित व्यक्ति के महिमा गीत" शरद्-साहित्य की ओर हिन्दी के उपन्यासकार (जो तत्कालीन युवक-वर्ग का ही एक प्रतिनिधि था) का झुकाव स्वयं उसकी इसी पराजित मनोवृत्ति

1. "When a man considers his own 'ego' to be the 'sole reality' then he can find no objective connection, 'rational' in the sense of being determined by definite laws, between his 'ego' on the one hand and the external world on the other. The external world must appear to him as either altogether unreal or as real only in part—in so far, namely, as its existence is based on the only true reality, that is to say on the 'ego'". "If, however, some-one who is not philosophically inclined comes to consider his own 'ego' to be the sole reality, he will certainly not bother to ask himself how this 'ego' created the external world......On the contrary, the world will appear to him a realm of 'meaningless chance".
—'कला और सामाजिक जीवन', प्लेखनोव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का द्योतक है। महत्त्व की बात यह नहीं है कि शराब और ज़हर किसने किसलिए सुलभ किये, महत्त्व की बात यह है कि अपनी किन परिस्थितियों में व्यक्ति इनकी ओर उन्मुख हुआ ? तीस साल बाद की सामाजिक स्थिति में रहने वाले लोगों को 'दोस्तायव्स्की' उतनी अन्ध-उत्कटता से क्यों नहीं आकर्षित करा सका ? एकदम सीधा न होते हुए भी काफ़ी अंशों तक सही जवाब यह है कि हिन्दी-भाषी 'सचेत व्यक्ति' की मानसिकता ही उस समय उस स्थिति से गुज़र रही थी कि बंगाल ही क्या शरत् यदि तमिलनाड में होते तो वह उन्हें वहाँ से ही खोज निकालता। हिन्दी-उपन्यासकारों को यह श्रेय ज़रूर है कि उन्होंने शरत् के 'व्यक्तिवादी दर्शन' को ठीक वहीं से पकड़कर चरम पर पहुँचा दिया जहाँ से शरत् ने उसे छोड़ा था—उसने उसे पीछे से नहीं पकड़ा। सतही तौर से देखने पर हिन्दी-उपन्यास के तृतीय और चतुर्थ दशक (बीसवीं शताब्दी के) के ऐसे पात्र शरत् की नकल लगते हैं ; लेकिन श्री इलाचन्द्र जोशी की इतनी बात मान लेने में कोई हर्ज नहीं कि वे उनका अगला विकास हैं। वह 'कु' है या 'सु' इसे अभी छोड़ दें।

प्रायः शरत् के सभी पुरुष—प्रमुख - पात्रों का ध्यान आते ही मेरी कल्पना में एक ऐसे ज़िद्दी बच्चे की तसवीर आ जाती है जिसे उसका प्राप्य नहीं मिला हो और इसलिए रूठ-मचल-कर वह चौखट से अपना सिर फोड़-फोड़कर अपने गुस्से का इज़हार करता और दर्शकों की सहानुभूति प्राप्त करता है। उस स्थिति में उसे जो भी दिया जाता है उसे तो तोड़-फोड़ देता है और दिखाता यह है कि देखो मैं ऐसी बहादुरी से अपना सिर फोड़ सकता हूँ। शरत् की कला का सारा कमाल वेदना की इस कुशल विवृति में ही है। 'डुएल' उपन्यास में चैखव के लायस्की को देखकर हम सोचते हैं; देखो कितना अच्छा आदमी है लेकिन कैसी परिस्थितियों में पड़ गया है; बेचारा कुछ कर भी नहीं सकता। तब हमें उसकी कमज़ोरियों से भी सहानुभूति होती है। व्यक्ति की विवशताओं के साथ वहाँ परिस्थितियाँ भी सामने हैं, लेकिन शरत् के सामने परिस्थितियाँ या सामाजिक स्थिति उतनी महत्त्व नहीं रखतीं। तत्कालीन हिन्दी-उपन्यासकार ने परिस्थितियों को भी शरत् की अपेक्षा अधिक ईमानदारी से रखा है। 'कुण्डली चक्र' का अजित, लायस्की की तरह हमारी स्वस्थ सहानुभूति का पात्र है। वहाँ समाज और व्यक्ति का द्वन्द्व है—पराजित व्यक्ति की अपने प्रति ही नहीं समाज के प्रति भी प्रतिक्रिया है।

"तुम नश्वर हो जग नश्वर है बस मैं हूँ केवल एक अमर" के गायक भगवतीचरण वर्मा के रमेश और बीजगुप्त समाज द्वारा स्वीकृत हर सिद्धान्त को झूठा साबित कर देते हैं।—पाप-पुण्य के सिद्धान्त को, नैतिकता अनैतिकता-के सिद्धान्त को। शरत् में न तो उतनी तलखी है, न शक्ति। उनके पात्र बड़े कमज़ोर और दो विरोधी आलोचकों—डॉ० रामविलास शर्मा तथा श्री इलाचन्द्र जोशी—के शब्दों में निकम्मे, परोपजीवी, नपुंसक और हद दर्जे के आत्मकामी हैं। रमेश ललकारकर कह सकता है कि तुम्हारे समाज की नपी-तुली साफ़-सुथरी नारी सुधा से वेश्या सरोज लाख दर्जे अच्छी है। असली वेश्या सरोज नहीं सुधा है—या तुम्हारे बने-बनाये साधु कुमारगिरि से अय्याश बीजगुप्त अधिक मानव है। इस तरह साहसपूर्वक प्राचीन और नवीन दोनों समाज-मान्यताओं को ठुकरा देने की शक्ति तो श्री भगवतीचरण वर्मा के पात्रों में है लेकिन स्वयं किसी जीवन-दर्शन के अभाव में वे टेढ़े-मेढ़े रास्तों में भटकते हैं। दिशाहीन जोश के परिणाम में इस प्रकार सभी कुछ को झुठला देने का 'दर्शन' प्राकृतिक ही है। इस दिग्भ्रान्ति की स्थिति में उनके शरणस्थल हैं वृद्ध ताल्लुकेदार रमानाथ तिवारी के चरणकमल ! (दुःख है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताल्लुकेदारी कांग्रेस सरकार ने खत्म कर दी) और यों उनकी कला, जो एक सशक्त असन्तोष को लेकर चली थी, छाती में छुरा भोंककर अपने जीवन का आखिरी दाँव लगा बैठी। प्लेखनोव की यह पंक्तियाँ वर्माजी तथा उन-जैसे अन्य व्यक्तिवादी उपन्यासकारों की कितनी अच्छी तसवीर देती हैं "The tendency of artists, and of those who have a lively interest in art, towards art for art's sake, arises when they are in hopeless disaccord with the social environment in which they live."

जैसे मैंने अभी ऊपर कहा, सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि मराठी और बंगला की तरह 'क्रान्तिकारी व्यक्ति' को हम प्रगतिशील ऐतिहासिक भूमिका में नहीं पाते। 'रंगभूमि' के सूरदास के रूप में मानवतावादी व्यक्ति तो अपनी ऐतिहासिक भूमिका और पराजय को स्वीकार करता है[1] लेकिन ये क्रान्तिकारी या अन्य व्यक्ति विद्रोह के उपासक उपन्यास के नायक तभी बनते हैं जब वे विभिन्न कुण्ठाओं और विकृतियों के शिकार बन चुके होते हैं। हमारे नायकों में उनका प्रगतिशील 'रोल' नहीं है। "चारों ओर भय और विपद् के वातावरण से आकर्षक बने बायरनिक हीरो, मध्यवर्गीय क्रान्ति के उपासक" डॉ० सव्यसाची को भी तो शरत् ने तभी पकड़ा है जब कवि शशि को मध्यवर्ग के गीत गाने की वकालत करके भी वे अपने सारे प्रयत्नों के अन्त में सिंगापुर चल खड़े होते हैं। 'गोरा' तब भी अधिक प्रगतिशील है। खैर शरत् ने तो सव्यसाची को वहीं छोड़ दिया लेकिन उनकी पराजय के अवसाद और विषादयुक्त कुण्ठाओं तथा विद्रोह की शब्दावली को हिन्दी के दो नायकों ने अपनाया—हरिप्रसन्न और शेखर।

इन या ऐसे सभी नायकों को समझने के लिए सबसे अच्छा पात्र है 'नदी के द्वीप' का भुवन। हिन्दी के अधिकांश आलोचकों ने माना है कि 'शेखर' ही 'भुवन' है, बस उसके विद्रोह और क्रान्ति के 'नख-रद' टूट गए हैं। रह गया है बाकी केवल उसका 'अहं', जिस पर पूरा ढाँचा है। शेखर के वे सिद्धान्त क्या और कैसे हैं इसे थोड़ी देर के लिए स्थगित करके भी कहा जा सकता है कि 'सिद्धान्त-हीन' शेखर ही भुवन है और इसी निष्कर्ष पर पाठक चौंकता है कि शेखर के क्रान्ति और विद्रोह थे क्या, कि उन सबको तिलांजलि देकर उसे एकदम भुवन बन जाना पड़ा?—क्या वे सचमुच इतने ऊपरी थे। शेखर और भुवन क्यों एक हैं इसे जरा और भी गहराई से समझने की जरूरत है।

सुमित्रा और भारती का आदर डॉ० सव्यसाची के प्रति पाठक को श्रद्धावनत कर सकता है लेकिन रेखा और गौरा का आदर भुवन को पाठक के सामने आदरणीय नहीं बना पाता, क्योंकि डॉ० देवराज के शब्दों में "हमें यह महसूस नहीं होता कि भुवन के विचारों और संकल्पों का उत्तर विशेष ऊँचा है। वह एक खास शिक्षित-वर्ग के चिन्ता के धरातल से ऊँचे उठते नहीं दीखता। कहीं भी भुवन के विचारों अथवा संकल्पों में ऐसी शक्ति नहीं है कि विचारवान पाठक को बहा ले जाय।" फिर भी अपने सम्पर्क में आने वाली स्त्रियों से वह उसी व्यवहार की आकांक्षा रखता है जो 'शेखर' ने रखी थी। वह नारी को शेखर की तरह ही एक ऐसी सान मानता है जिस पर उसका जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज होता रहे। जिस पर मँज-मँजकर वह कुछ बने कि संसार के सामने खड़ा होने में लज्जित न हो—चाहे उसके बनने में स्वयं उसी के हाथों से वह टूट भी जाय। शरत् की आलोचना करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने एक

१. मन्मथनाथ गुप्त का लेख, 'नई धारा', जून १९५३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगह लिखा है कि अपनी असामर्थ्य और नपुंसकता छिपाने तथा उत्तरदायित्व से बचने के लिए वह बार-बार राजलक्ष्मी को छोड़-छोड़कर भागता है और कहता यही है कि "राजलक्ष्मी के लिए ही मुझे राजलक्ष्मी को छोड़कर जाना होगा। इसमें अब जरा भी आनाकानी करने से काम नहीं चलेगा" इस पर डॉ० शर्मा का व्यंग्य है कि "यही प्रेम का वह सूक्ष्म विज्ञान है जो पुरुष को नारी के निकट लाता है और फिर नारीत्व को निखारने के लिए उसे दूर ढकेल देता है।" प्रेम के इस 'सूक्ष्म विज्ञान' का भुवन और शेखर दोनों को बड़ा अच्छा अभ्यास है और कुशल लेखक ने भुवन को इस प्रकार के किसी आरोप से बचाने के लिए स्वयं रेखा को ही 'त्यागपत्र' की मृणाल की तरह इतना समर्पणशील और समझदार बना दिया है कि प्रेम का ऐसा अनुभव देकर वह स्वयं हट जाय। इस ट्रम्प चाल को ज्यों-का-त्यों लागू करने का श्रेय 'संन्यासी' के नन्दकिशोर से लेकर धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' के चन्दर और अंचल के 'चढ़ती धूप' के मोहन, 'मरु प्रदीप' के विमल तक को है।

इतनी प्रभावोत्पादक कला, इतना सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और ऐसी सजी-सुथरी, सँवरी और सार्थक भाषा के बावजूद भी भुवन पाठक को कहीं भी बहा नहीं पाता—पाठक हमेशा ही 'द्रष्टा' रहता है 'भोक्ता' नहीं, इसका एक-मात्र कारण उसकी इतनी अधिक सार्वभौमिकता है कि वह कहीं का नहीं रहता, आखिर किसी भी देश का आदमी तो उसे अपना समझे! अपने वर्ग और संस्कारों से कटा एक भूत और भविष्यहीन 'द्वीप'—यह असाधारण (शुक्लजी के अनुसार) शील का व्यक्ति पाठक के लिए दर्शनीय ही बना रह सकता है—संवेदनीय नहीं। इसीलिए उसका कारणहीन 'दर्द' उसका अपना ही है, साधारणीकृत नहीं, अतः लगता है वह दर्द नहीं शौक अधिक है। चाहे वह कितना ही तीव्र, गहन और चूर-चूर कर देने वाला क्यों न हो।

यह दर्द और दुःख का सिद्धान्त शेखर, भुवन और उधर जैनेन्द्र के पात्रों या कहा जाय मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवादी सभी नायकों—में अजब चपलेबाज मनोविज्ञान का जन्मदाता है। 'दोस्तायव्स्की' के 'पेशेवर आत्मपीड़कों' (प्रोफ़ेशनल सफ़रर्स) का गोर्की ने खूब मजाक़ उड़ाया है। 'पीड़ा ही सत्य है या सत्य दर्शन का एक मात्र माध्यम है'—यह सिद्धान्त भगवान् बुद्ध के "सर्वं क्षणिकं क्षणिकं सर्वं दुःखं दुःखम्" का ही पश्चिमी संस्करण है। भुवन तो 'क्षण' और 'दुःख' दोनों के सिद्धान्त को मानता है। ऐसे नायकों ने यह कभी नहीं सोचा कि भगवान् बुद्ध की यह 'प्राप्ति' ऐतिहासिक सीमा थी—मूल थी वह करुणा और व्याकुलता जिसके वशीभूत होकर वे दुःख और कष्ट से संसार को मुक्ति देने के लिए घर से निकल पड़े थे।

शेखर कहता है "दुःख उसीकी आत्मा को शुद्ध करता है जो उसे दूर करने की कोशिश नहीं करता।"

और भुवन बोलता है "पीड़ा से दृष्टि मिलती है इसलिए आत्मपीड़न ही आत्मदर्शन का माध्यम है।" या "दुःख सबको माँजता है और चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु जिनको माँजता है उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"

एक आश्चर्य और है: पीड़ा से दृष्टि मिलने वाले नायकों के जीवन में स्त्री ही एक विचित्र—अत्यधिक महत्त्वपूर्ण—पार्ट अदा करती है। चाहे वे 'अज्ञेय' के शेखर और भुवन हों या दर्द में उतरकर सत्य पा जाने वाले धर्मवीर भारती के चन्दर और माणिकमुल्ला; वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिप्रसन्न और 'सुखदा' के हरीश हों या 'अंचल' के 'विमल चाँद भाई' या 'पथ की खोज' के चन्द्रनाथ आदि--प्रेम के परीक्षण की दृष्टि से इन सभी का दृष्टिकोण स्त्री के प्रति प्रयोगवादी, अधिकांश प्लेटोनिक, रहस्यपूर्ण अस्पष्ट और समग्रतः नॉर्मल नहीं होता--क्योंकि ये सभी उसके द्वारा जिन विचित्र ढंगों से दर्द लेते और 'दर्शन' पाते हैं--वह संसार के एक-मात्र दार्शनिक विवाद का मूल है। यह सभी दमित काम के कुण्ठित और कुञ्चित प्रतीक हैं और इस सम्बन्ध में जैनेन्द्रजी की आत्मस्वीकृति प्रायः सभी 'मनोवैज्ञानिक' समस्याओं को एक साथ हल कर देती है: "पीड़ा में ही परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्मपीड़न के ही साधन हैं और इसीलिए मैंने इनमें 'काम-वृत्ति' की प्रधानता रखी है, क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्मपीड़न का तीव्रतम रूप है।"

तो हिन्दी उपन्यासों में पीड़ा से आत्म-शुद्धि या आत्म-शुद्ध करने वाले नायकों की एक काफ़ी लम्बी पलटन है—शुरू-शुरू में भले ही इसका कारण सामाजिक परिस्थितियाँ रही हों पर बाद के लेखकों के लिए यह एक फ़ैशन हो गया और इस पीड़ा की 'पंचाग्नि' में अपनी आत्मा का उत्थान और विकास करने वाले ये हठयोगी नायक स्वयं 'काम की यातनाएँ' पाते और इन यातनाओं की कारणस्वरूप नारियों को भी यातनाएँ देकर बड़ी सुन्दर शब्दावलियों और आकर्षक वाक्यों से उन्हें सजाते और 'उदात्तीकरण' करते हैं। सबसे मजे की बात तो यह कि "विद्रोह के लिए विद्रोह करने वाले" बड़े-बड़े क्रान्तिकारी, बड़े-बड़े आविष्कारक, वैज्ञानिक, रिसर्चस्कॉलर, दार्शनिक, प्रोफ़ेसर और कवि, नाना वेश, स्वभाव और उद्देश्य वाले पात्र इस जगह सब एक हैं।

काम-मनोविज्ञान की शब्दावली में हैवलॉक एलिस् के अनुसार यह आत्मपीड़न (मॉस्केइम) और आत्मपीड़न के लिए परपीड़न (सेडिज्म) बड़ी विकृत स्थिति का सूचक है। यहाँ हम अभी तक प्रायः बचाये गए श्री इलाचन्द्र जोशी के नायकों को भी गिने लेते हैं। 'परदे की रानी' का इन्द्रनाथ 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ, 'संन्यासी' का नन्दकिशोर और 'निर्वासित' का महीप इत्यादि सभी नायक विकट आत्महीनता की ग्रन्थि से ग्रस्त अपने सम्पर्क में आने वाली नारियों से बदला लिया करते हैं और काल्पनिक भ्रम या भ्रान्तिमूलक बातों की कल्पना करके अपने-आपको कष्ट देते और पाते हैं। लेकिन जोशीजी की कुछ बातें इन्हें शेष सभी 'मनोवैज्ञानिक' उपन्यासकारों के महानायकों से अलग कर देती हैं। पहली बात तो यह कि जोशीजी अपने पात्रों के प्रति इतने तटस्थ रह सके हैं कि उन्होंने विकृति को विकृति और रोग को रोग कहा है। यह दूसरी बात है कि वे शरत् के या उनके-जैसे निकम्मे आत्मकामी, दम्भी नायकों को ही अपनी 'लैब' में उठा लाते हों और चारों ओर से उसके खिड़की-दरवाजे बन्द करके उनका पोस्टमार्टम कर डालते, तथा उनकी रीडिंग पर मनोवैज्ञानिक लेख लिखने बैठ जाते हों। साथ ही उन्होंने अपने नायकों की कमजोरियों और विकृतियों को अन्य उपन्यासकारों की तरह नारियों से पुजवाया नहीं है, चूँकि उनके नायकों की सारी कुण्ठाओं की प्रतिक्रिया का शिकार नारी होती है; अतः ऐसी ही कोई 'तूफ़ानी मर्मांतक मनोविज्ञान की नारी' आकर उनको प्रभावित करती हुई क्रान्ति की मशाल हाथ में लेती है। प्रमुख बात इसमें न तो तूफ़ानी मनोविज्ञान है न वह क्रान्ति की मशाल (क्योंकि इस क्रिया में उनकी नारियों को ओवर एक्टिंग की आदत है जैसे 'निर्वासित' की शारदा, और 'मुक्तिपथ' की सुनन्दा। दोनों आज के युग में जॉन ऑफ़ आर्क और श्रद्धा का पार्ट अदा करती हैं) सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि आध्यात्मिक और आदर्श प्रेम के नाम पर उन्होंने नारी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मसम्मान को पुरुष की झूठी-सच्ची सनकों के सामने रिरियाते और पैरों में पड़ते नहीं दिखाया है। लेकिन जोशीजी में तीन बहुत बड़ी कमजोरियाँ हैं। जिनकी वजह से वे प्रायः सम्यक् रूप से समझे नहीं जाते रहे हैं। उनकी एक कहानी का पागल नायक दुनिया-भर के चीथड़े, कूड़ा-करकट इकट्ठा करके रात को चौराहे पर जलाया करता है और पूँजीपतियों को गालियाँ देकर अपने मन का गुबार निकालता है। गोर्की ने भी समाज के कूड़ा-करकट—अर्थात् आवारे, हत्यारे, आत्मकामी इत्यादि लोगों को दिखाया है लेकिन समाज की गति के नित्य सम्पर्क में रखकर ही; जब कि जोशीजी उन सबको अपने 'एयरटाइट', 'परीक्षण-कक्ष' में उठा लाते हैं। इस कूड़ा-करकटवादी दृष्टि से उन्होंने अपने आस-पास एक अजब शिवजी की बारात इकट्ठी कर ली है; दूसरे इन नायकों का मूल मनोविज्ञान तो जरूर समाज द्वारा निर्मित होता है लेकिन उठा लाने के बाद उसके कारणों की कथा स्वयं जोशीजी गढ़ते हैं, जो प्रायः ज्यामिति के किसी विशेष प्रमेय को सिद्ध कर डालने-जैसी बन जाती है। "चैखव ने एक बार गोर्की से कहा था कि मनोविज्ञान का चित्रण बुरा नहीं है; लेकिन दिक्कत तब है जब लेखक अपने मनोविज्ञान को जीवित पात्रों से न लेकर स्वयं गढ़ने लगता है।" जोशीजी तो इस मनोविज्ञान को गढ़ने में प्रायः पृष्ठों की संख्या तक भूल जाते हैं और उनकी दिशा—दशा भी 'कॉडवैल' के शब्दों में "लेखक और रचना" ही रह जाती है, लेखक रचना और पाठक नहीं। जब लेखक और रचना केवल दो ही बिन्दु हों तो कला के लिए कला की रचना होती है। यहाँ वे अपने शेष सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के साथ हैं। जोशीजी की तीसरी कमी यह है कि विकृतियों और कुण्ठाओं को उन्होंने अभी बड़े शारीरिक और भौतिक स्तर पर ही खोज का विषय बनाया है उनकी आध्यात्मिक प्रतिक्रियाओं को वे 'फोकस' नहीं कर पाये। फिर भी प्रसन्नता है कि उपचेतना के स्तर-प्रस्तर तोड़कर विराट् विस्फोट कर डालने और किसी अनोखी गंगा को खोज निकालकर भगीरथ बन जाने का नशा उन पर से अब उतरता जा रहा है और उनके पात्र नार्मल होते जा रहे हैं।

दिक्कत उन आत्मपीड़क और परपीड़क अभिजात नायकों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में है, जो अपने को सबसे अलग समझकर विभिन्न आध्यात्मिक और दार्शनिक वाक्यों के दुशाले ओढ़-ओढ़कर आते हैं। भुवन और रेखा के लिए डॉ० देवराज लिखते हैं "उपन्यास में भुवन और रेखा जगह-जगह दूसरे कवियों के उद्धरण प्रयुक्त करते पाए जाते हैं जैसे वे स्वयं अपनी प्रेरणाओं से न जीते हुए विभिन्न कवियों के भाव-स्पन्दन में अपने खोखले जीवन को भरने की सामग्री खोज रहे हों।" यही बात उनके अपने चन्द्रनाथ के लिए भी सच है—वहाँ कविता की जगह दर्शन है।

इन सभी प्रेरणाहीन अद्वैती, हठयोगी, आदर्शप्रेमी क्रान्तिकारी नायकों का मानसिक धरातल आखिर किन सामान्य धातुओं का बना है, जरा और गहराई से देखिए।

ये सभी नायक शेष समाज से अलग एक विशेष बौद्धिक धरातल पर पहुँचे हुए व्यक्ति हैं जो जीवन की हर प्रकार की अनुभूतियों को बुद्धि द्वारा ही ग्रहण करते हैं। अन्य इन्द्रियों द्वारा नहीं। लगता ऐसा है कि ये हाड़-मांस के शरीर न होकर केवल बड़े-बड़े सिर-ही-सिर वायुमण्डल में तैर रहे हों। वे चेतना-मात्र रह गए हैं। जैसा मैंने पहले भी बताया क्रियात्मक जीवन के साथ उन्हें आप नहीं देखते, उन्हें देखते तब हैं जब वे उस जीवन से तटस्थ, असफल और निराश होकर (चाहे इसे वे स्वयं स्वीकार न करें) 'घर' भाग आए हों। इतना विद्रोही कर्मठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायक शेखर भी अपने जीवन को जीता नहीं एक रात में देखता है। चूँकि शरीर और उसका अनिवार्य गुण क्रिया नहीं, केवल मात्र चेतना ही यह लोग हैं (और वह भी फ्रायडियन काव्य चेतना) इसलिए शून्य अन्तरिक्ष में जिधर धुन उठ जाती है उधर ही भटक जाते हैं। इस बात से यह भी सिद्ध होता है कि इन सभी नायकों की सिद्धान्तहीनता और लक्ष्यहीनता का कारण भी इनकी अशरीरी चेतना और क्रियाहीनता ही है। इनका विद्रोह दुनिया की हर बात–सिद्धान्त, लक्ष्य, शरीर, क्रिया जीवन हर चीज को झुठलाने और निषेध करने में है, इसलिए इन्हें 'नेति-नेति' वाला अद्वैत दर्शन ही शान्ति दे पाता है।

आप उस स्थिति का सहानुभूतिपूर्वक अनुमान लगाइये जब क्रान्ति आप कर डालना चाहें लेकिन हाथ में आपके 'टूटी तलवारों की मूठ'[1] ही हो तब आप 'हैमलेट' की तरह अपनी निष्क्रियता को ही विभिन्न दार्शनिक सुन्दर लगने वाली सूक्तियों से नहीं भरेंगे तो क्या करेंगे? जब बात कहना चाहें और जबान न हो तो एक ही रास्ता आपके पास है कि 'मौन' की महिमा बखानिये।[2] दर्द आपकी छाती को फूँके दे रहा हो और उसके कारणों को आप दूर न कर सकें तो ला-मुहाला आप समझौता करके आखिर कब तक उस दर्द को प्यार नहीं करेंगे? बस दर्द को सीने से लगाइए और नई दृष्टि प्राप्त कीजिए। इसे झुठलाना ग़लत होगा कि पीड़ा मनुष्य को नई दृष्टि नहीं देती, लेकिन कैसे? सचमुच पीड़ा, दर्द और दबाव ही मनुष्य की प्रगति और प्रयत्नों के मूल हैं। श्रद्धा कहती है "विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान्" आविष्कार के मूल में अभाव की अनुभूति और आवश्यकता की पीड़ा ही तो है। एक पीड़ा है जो पीड़ा सहने वालों और उन जैसों को पीड़ा से छुड़ाती है, 'रियलाइज़' कराती है और प्रेरणा देती है कि वे उन कारणों को बदल डालें और दूसरी पीड़ा है जो घुटती है; स्वयं निष्क्रियता से उत्पन्न पराजय का अवसाद होती है और शेष रही-सही कार्य-शक्ति को क्षीण कर डालती है (इसे हैमलेट ने भी स्वीकार किया है) तथा व्यक्ति को तटस्थ दर्शक अर्थात् 'दार्शनिक' बना छोड़ती है। वह वाग्विलास करता और अपने-जैसे शौकिया दुःख सहने वालों को सान्त्वना देता है कि 'सहना' ही चरम सुख है। यही साहित्य और कला में 'व्यक्ति-वैचित्र्य' और असाधारण मनोविज्ञान का मूल है।

'अज्ञेय' जी को इस बात का श्रेय जरूर है—और कम नहीं है—कि भुवन के रूप में उन्होंने इस तरह के नायकों का एक चरम प्रतिनिधि पात्र प्रस्तुत कर दिया है। जैसा कि अपने 'अहं' को ही निरपेक्ष सत्य मानने वाले व्यक्तियों का वर्गीकरण करते हुए प्लेखनोव ने आगे बताया है कि "यदि ऐसा व्यक्ति किसी विशाल सामाजिक आन्दोलन से सहानुभूति करने भी लगे तो वह फ़ॉक की तरह यही विश्वास करेगा कि सामाजिक विकास का कोई नियम इसकी सफलता का आश्वासन नहीं दे सकता; और उसका भविष्य या तो 'मानवीय मूर्खताओं' के या उन्हीं की तरह के 'अर्थहीन ऐतिहासिक संयोगों' के हाथ में होगा।" सच बात तो यह है कि जाने या अनजाने—अपने अस्तित्व तक से विद्रोह करने वाले ये सभी मनोवैज्ञानिक नायक जीवन में विश्वास ही नहीं करते, क्योंकि जीवन कोई हवाई चीज तो है नहीं, व्यवहार में उसका कुछ रूप है—किसी स्थान और देश के अनुरूप उसका कोई आकार है—और देश की सीमाओं से वे बँधे

१. हम सबके हाथों में 'टूटी तलवारों की मूठ'—धर्मवीर भारती की एक कविता-पंक्ति।
२. अज्ञेय जी की 'हरी घास पर क्षण भर' में 'नयी व्यंजना' कविता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हैं, इसलिए इस तरह के नायकों में न तो अपनी कोई सांस्कृतिक परम्परा होती है और न राष्ट्रीय चेतना, और अपनी इस कमी को इनमें से कुछ नायक गाँधीवादी अहिंसा के लबादे के नीचे छिपाते हुए ऐसा प्रदर्शन करते हैं जैसे वे विश्व-बन्धुत्व की प्रच्छन्न या प्रकट भावनाओं—या 'कॉस्मोपोलिटनिज़्म' से बुरी तरह पीड़ित हैं। उनकी जो भी बात है वह सार्वभौमिक स्तर पर होती है, अतः ऐसे ही तत्त्वों के वे बने भी होते हैं। उनके लिए काल भी स्वयं निरपेक्ष है, जिस क्षण में वे हैं बस उसी का अस्तित्व है—न तो वह क्षण किसी पहले क्षण का परिणाम है, न किसी अगले क्षण का प्रारम्भ। कार्य-कारण की शृङ्खला वहाँ नहीं चलती। इस प्रकार सार्वभौमिक, सार्वकालिक नित्य तत्त्वों से बनी सूक्ष्म चेतना के अविच्छिन्न प्रवाह में 'द्वीप' की तरह उभर आई इनकी व्यक्ति-चेतना यदि किसी क्रिया में विश्वास करे भी तो उस क्रिया को आखिर कहाँ और क्यों करे? इसीलिए इनके गुरु शंकर, शॉपेनहॉवर, अरविन्द, प्रूस्त और सार्त्र-जैसे लोग हैं।

बिना माध्यम के क्रिया की तड़पती हुई चेतना किस प्रकार महान् श्रद्धेय और मानवेतर होते हुए भी वहीं—उसी भौतिकता पर कैसे मँडराती और कष्ट पाती है यह तुलसी और केशव के 'प्रेत आख्यान' में बड़े सुन्दर ढंग से आया है। इन्हें मुक्ति देने का तरीका ही यह है कि इन्हें बैठाकर वह 'गाथा' सुनाई जाय, जिसमें एक्शन हो, क्रिया हो—शरीर हो।

तो 'काम-चेतना' को मूल मानने लेकिन सामाजिक व्यक्तिगत सीमाओं के कारण क्रिया को अस्वीकार कर देने वाले नायकों के साथ जो कठिनाई रही वह हिन्दी क्या दुनिया के सभी आध्यात्मिक प्रेम के अलमबरदारों की कहानी है। फिर एक बार कल्पना कीजिए ऐसे नायक की जिसके भीतर मचलती हुई काम-चेतना तो हो लेकिन अभिव्यक्ति के माध्यम कुण्ठित हों।

हिन्दी के चतुर आलोचक श्री धर्मवीर भारती ने 'प्रतीक' में विश्व-उपन्यास के नपुंसक नायकों पर एक लेख लिखा था और उसमें उन्होंने लेडी चैटर्लीज़ 'लवर' के कथानक को रूपक बनाकर दुनिया-भर के नायकों की सामाजिकता के कारण तो खोजे लेकिन हिन्दी-उपन्यासों के नायकों की बात करते हुए वे एकदम इस बात की शिकायत करने लगे कि हिन्दी में 'सव्यसाची'-जैसे 'धीरोदात्त' नायकों का अवतार क्यों नहीं हो रहा? उसके कारणों की बात उन्होंने नहीं की तो समुचित नायकों के निदान की बात कहाँ से करते?

भारत में पारिवारिक संघटन और विशेष रूप से सामन्ती ध्वंसावशेष 'पर्दे' ने तत्कालीन सामाजिक या राजनीतिक परिवर्तन की प्रबल आवश्यकता में विश्वास रखने वाले युवक की मानसिक बनावट में बड़ी उलझनें और खाइयाँ पैदा की हैं। महाजनी व्यवस्था के परिणामस्वरूप जब पुरुष नौकरी, यात्रा, युद्ध या अन्य समाज-सुधार के कामों से जाय तो उसे जितने दिन बाहर रहना है, अकेले रहकर खाने-पीने, रहने-सहने, हर इच्छा को जहाँ तक हो दबाना-कम करना या ज्यों-त्यों (शायद समाज में वेश्या का यही उपयोग हो!) पूरा कर लेना है। क्योंकि सामन्ती-व्यवस्था की शिकार उसकी सहचरी नारी उसके साथ तभी जा सकती है जब परिवार का ढाँचा विघटित होता या टूटता है। बाहर हर 'फ्रंट' पर वह अकेला ही है। 'घर और बाहर' दोनों जगह दो व्यवस्थाएँ, दो दुनिया हैं। वह जागता-चलता-फिरता एक व्यवस्था में है सोता-खाता-पीता दूसरी में। लेकिन यह स्थिति अधिक सह्य नहीं है इसलिए अनिवार्य एक को अपनाने के लिए, या उसमें अपना स्थान बनाने के लिए उसे दूसरी के विरुद्ध लड़ना पड़ता है जिसकी तस्वीरें 'पारिवारिक कलह' के रूप में हमारे सामने हैं। लड़ना उसे बाहर भी पड़ता है, क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाहर की व्यवस्था औपनिवेशिक साम्राज्यवादी व्यवस्था है। और धीरे-धीरे लड़कर, उसने घर की व्यवस्था को जो ढीला किया था। उसमें नई आवश्यकतानुसार 'छूटें' पाई थीं वह लड़ाई वहीं रुक जाती, मन्द पड़ जाती या स्थगित कर दी जाती है और उसका सारा ध्यान बाहर ही केन्द्रित हो जाता है। बाहर अब भी प्रायः वह अकेला ही है। व्यक्ति समाज की इकाई जरूर है लेकिन उसका क्रम व्यक्ति, परिवार और समाज है। पूरक प्रकृति के व्यक्तियों का सम्बन्ध परिवार बनाता है, जिनसे समाज बनता है। साम्राज्यवादी व्यवस्था से लड़ते हुए—चाहे वह सत्याग्रही हों या क्रान्तिकारी—व्यक्ति की आवश्यकता थी कि उसका परिवार भी पुनर्गठित हो, ताकि वह अकुंठित शक्ति से लड़ सके। लेकिन परिवार अपनी ही जगह रहा और नारी उसके साथ नहीं आई। आई भी तो परिवार के नये आदर्श के रूप में नहीं; 'बहन जी' और 'देवी जी' बनकर एक और—(कुछ रहस्यमय—) व्यक्ति के रूप में। वे लोग साथ रहते हुए भी अलग-अलग व्यक्ति थे, क्यों यह उस युग की विवशता थी और उन्हें पुराने समाज से साथ रहने की स्वीकृति लेनी थी। संक्षेप में व्यक्ति ने परिवार के पुनर्गठन तथा अपनी आवश्यकताओं को उस समय तक के लिए स्थागित कर दिया जब तक कि बाहर का युद्ध समाप्त न हो जाय। फलतः प्रकृति-विरुद्ध दिशा और कार्य ने शीघ्र ही उसे थका भी दिया और विकृतियाँ आनी शुरू हो गईं।

चाहे 'राजा राधिकारमण' के असहयोग-आन्दोलन के 'नारी और पुरुष' नेता हों या अन्य सारे 'क्रान्तिकारी', बाहर से हार-थककर जब वह घर आते थे तो इन्हें दूसरा ही नक्शा मिलता था। इस लम्बे दौरान में नारी उनके लिए अपरिचित और 'रहस्य' बन चुकी होती थी, और पुराने 'घर' (परिवार) में चूँकि असहयोग की धुन में उन्होंने उस घर में अपने लिए कोई 'स्थान' नहीं बनाया था इसलिए—केवल कुछ दरवाजे खुले थे—देवर भाई, या श्वसुर बनकर आने के दरवाजे। मन से इन सभी पुराने सम्बन्धों के प्रति नास्तिक होते हुए भी ऊपर से इन्हें आस्तिक होने का बाना धारण करना पड़ता था। इसलिए मूलतः यह सम्बन्ध, सम्बन्ध न होकर सम्बोधन-मात्र रह गए थे। सिद्धान्ततः तो यह लोग मानते थे कि नारी, नारी है और पुरुष-पुरुष, सारे पारिवारिक सम्बन्धों के परे यही एक सम्बन्ध है। कठिनाई यह थी कि विदेशों की तरह—(पढ़े-लिखे होने के कारण बौद्धिक रूप से जहाँ यह रहते)—स्त्री-मित्र और प्रेयसी बनकर खुले-आम स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध स्वीकृत नहीं किये जा सकते थे, और न स्वीकृत करा सकने का इन लोगों में साहस और समय था। अतः भाभी शुद्ध परम्परागत रूप में भाभी नहीं थी, गुरु, गुरु नहीं था और बहन, बहन नहीं थी; यहाँ तक कि सूक्ष्म दृष्टि से बुआ भी बुआ नहीं थी।—वे सभी प्रेयसियाँ भी थीं। इस विचित्र स्थिति को न तो यह नायक झुठला सकते थे न स्वीकार कर सकते थे—अतः 'फ्रस्ट्रेट' कर रहे थे। वे नारी की ओर 'तीव्र काम-चेतना' से भी आकर्षित होते थे और साथ ही उसे बहन इत्यादि की पवित्र गरिमा से भी मण्डित रखना चाहते थे। नारी इनके इस विचित्र मनोभाव को न तो हृदयंगम ही कर पाती थी और न उसका प्रतिदान। अतः यह सब उसे मानवी की तरह नहीं एक विचित्र पहेली और आधिभौतिक शक्ति की तरह देखते थे। आवृत स्थिति में उसके आस-पास मण्डराते थे और जब वह झुँझलाकर अनावृत हो जाती थी (और हिन्दी उपन्यासों में कई जगह उसे भौतिक रूप से यह कार्य करना पड़ा) तो आँख बन्द करके भाग खड़े होते थे। ये नायक इसके सिवा कर भी क्या सकते थे कि समाज मान्यताओं में कोई परिवर्तन न कर सकने वाली अपनी इस 'नपुंसकता' को आत्मा-आत्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से प्रेम करने के सुन्दर नामों से अभिव्यक्त करते और नारी को अपनी महानता के लिए 'कन्विंस' करते रहते ? डॉ० नगेन्द्र-जैसे आलोचक उनके साथ थे जो यह बताते कि 'प्रेयसीत्व' की शारीरिकता को 'बहनत्व' की 'आध्यात्मिक पवित्रता' में बदलने के लिए कितने डिग्री पीड़ा की आँच और कितने आत्मिक बल की जरूरत होती है।[1]

आत्मा-आत्मा के प्रेम ने सचमुच सारी मुश्किलें आसान कर दीं। व्यक्ति अपनी रोमाण्टिक प्राकृतिक भावना को भी पूरा करता चला जाय और किसी सामाजिक व्यवस्था को भी बदलने की जरूरत न हो—इससे अधिक आसानी और क्या होगी ? नारी कहीं रहे, उसका किसी से विवाह हो, पुरुष कहीं रहे उसकी कोई भी पत्नी हो ? दोनों अपनी बँधी-बँधाई परिवार-व्यवस्था में (जहाँ वे अपने को बिलकुल भी बाँध नहीं पाते थे) रहते हुए भी अपने आत्मा-आत्मा के प्रेम को कहीं-कहीं तो खुल्लमखुल्ला या प्रायः गुप-चुप चालू रख सकते हैं और प्रेम का आदर्श दुनिया के सामने रखते हैं। इस नपुंसकता के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण एक ओर सुनीता का पति श्रीकान्त (तथा उसकी अपटूडेट 'कार्बन कॉपियाँ') है, जो स्वयं हरिप्रसन्न (या लाल इत्यादि) को लाता और अवसर देता है और दूसरी ओर 'गुनाहों का देवता' का चन्दर है (तथा उसकी अगली-पिछली परम्परा के और लोग भी), जो सुधा को पवित्र प्रेम के नाम पर दूसरे से ब्याह देता या मरने छोड़ देता है (आत्म-पीड़न की चादर में यह वही ट्रम्प-चाल है जिससे शरत् के पात्रों ने अपनी नपुंसकता को छिपाया है)। नरोत्तम नागर[2] और विश्वम्भर मानव[3]-जैसे आलोचक यदि इस 'भाभी-पूजा' और 'बहनबाजी' पर झुँझला पड़ते हैं तो इसमें अस्वाभाविक क्या है ? आश्चर्य की बात है इस तरह के एक भी पवित्र निष्क्रिय प्रेम का उदाहरण—मजनूँ को छोड़कर—हमें न तो अपनी लोक-कथाओं में मिलता है और न प्राचीन साहित्य में। क्या सीता के लिए राम का प्रेम कम पवित्र और आत्मिक था, जिसके लिए राम ने पूरे मानव-इतिहास को मोड़ दिया ? सावित्री सत्यवान से कम प्रेम करती थी जिसके लिए वह साकार मृत्यु से जूझ गई थी ? फ़रहाद के लिए शीरीं कम पवित्र थी कि उसने एक रात में पहाड़ खोद डाला ?

इसी आध्यात्मिक प्रेम की 'पवित्रता' की प्रतिक्रिया है कि लारेन्स की तरह पहले 'उग्र', फिर कुशवाहा 'कान्त' के उपन्यास या 'घेरे के बाहर' तथा उर्दू के मण्टो और इस्मत चुग़ताई के व्यभिचार और बलात्कार के साहित्य से हिन्दी-उपन्यास भर रहा है। इसका कारण स्पर्जन ने दिया है, "एक विचित्र किन्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार आध्यात्मिकता के अतिरेक के बाद कामुकता का प्रारम्भ होता है।"

असल में किसी भी परिवर्तन से बचने और उत्तरदायित्व से भागने की 'महत्त्वाकांक्षा' ही इन नपुंसक (कार्य-क्षेत्र में असफल और नारी के सामने 'आध्यात्मिक प्रेमी' महान् नायकों को परिचालित करती है। इन उपन्यासों के लेखकों का बड़ा सुन्दर विश्लेषण जैक्सन ने निम्न पंक्तियों में किया है :

"Contrariwise, the artist, pulled two ways, may have a deep dislike of his time, but an even deeper fear of revolutionary alterna-

1. विचार और अनुभूति—'शेखर' एक दृष्टि।
2. 'चकल्लस' का 'देवर भाभी अंक'।
3. आलोचना में 'पथ की खोज' का रिव्यू।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

tive to things as they are. Such a writer may achieve an illusion of detatched impartiality by scattering his sarcasms over Right and Left at once".—(Old Friends To Keep.—Page 13)

यह है इन सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक व्यक्ति-नायकों के मानसिक गठन के सामाजिक कारणों का विश्लेषण। अपेक्षाकृत इनमें सबसे अधिक सशक्त नायक शेखर है और सबसे अधिक निकम्मा हरिप्रसन्न तथा उसके अन्य अवतार (वे भगवान् के अवतारों की तरह शीघ्र ही बाहर की संख्या पूरी करेंगे!)। लगता ऐसा है कि यह उस युग के 'मूल नायक' के ही दो पक्षों से लिये गए दो 'क्लोजअप' हैं और मिलकर ही एक पूर्ण चित्र खड़ा करते हैं। फिर भी पुरुष पात्रों की अपेक्षा यह लोग नारी पात्रों का अधिक प्रभावोत्पादक कहीं-कहीं सफल चित्रण कर पाये हैं; क्योंकि उसे उन्होंने एक साथ पत्नी, प्रेयसी, बहन (इत्यादि) के तीनों आयामों (डाइमेंशन) तथा इनके मानसिक घात-प्रतिघातों—द्वन्द्वों के बीच में दिखाने की कोशिश की है। यह पुरुष-लेखकों का दृष्टिकोण है। तत्कालीन परिस्थिति को नारी-दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने वाली कोई प्रथम श्रेणी की महिला उपन्यास-लेखिका का सौभाग्य हिन्दी को है नहीं, फिर भी उषादेवी मित्रा की 'पपीहरा' (पिया) अपना विक्षोभ पुरुषों को कोड़े से पीटकर प्रकट करती है।

पथ की खोज

किसी स्वस्थ जीवन-दर्शन के अभाव में यह भावुक और भाववादी व्यक्तिनायक न तो मनुष्य के व्यक्तित्व की स्वतन्त्र और पूर्ण अभिव्यक्ति ही कर पाये[१] और एक्शन को झुठलाने के कारण[२] न कोई जीवन-दर्शन ही ऐसा दे पाये जो मानवता को नई राह दिखाता।[३] इनके स्रष्टा इनकी नपुंसकता को कितनी अच्छी तरह पहचानते थे कि इन सभी ने एक सिरे से अपने को अपने पात्रों के प्रति उत्तरदायी या उनका कर्ता होने की बात को ज़ोरदार ढंग से झुठलाया है। फ्लाबेयर की शब्दावली उधार लेकर जैनेन्द्रजी ने अपने नायकों में सब जगह होने और कहीं न होने की बात कही।[४] बाद में तो हरेक रचना की पाण्डुलिपियाँ उन्हें कभी किसी रोगिणी के पास या कभी किसी वकील की फाइलों में मिल गईं। इलियट की तरह 'अज्ञेय' जी ने कहा कि "जो कलाकार निर्माण करता है वह अनुभूति करने वाले कलाकार से भिन्न है—जितनी अधिक यह

१. In the absence of a world outlook, of an understanding of life no full and free expression of human personality is possible.
—रैल्फ फॉक्स

२. You can not show man complete unless you show him in action.
—फील्डिंग

३. **तुलना कीजिए—"होरी में व्यक्तित्व है और वह उसका व्यक्तित्व भारतीय किसान के व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है। शेखर में व्यक्तित्व नहीं है, वह कोरा व्यक्तिवादी है अपना ही प्रतिनिधि है।**

४. The author in his work must be like god in the universe, present everywhere and visible nowhere; art being a second nature the creator of This nature must act by similar methods"..........
इत्यादि—फ्लाबेयर के पत्र से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्नता होगी उतनी ही सफल कला-कृति होगी।" इसी प्रकार श्री इलाचन्द्र जोशी ने अपने और अपने नायकों के साम्य पर शर्त ही लगा दी। यदि ऐसा हो तो वे अपने को कहानीकार ही मानना छोड़ देंगे। कला और जीवन के इस द्वैत पर इल्या एहरेनबुर्ग ने कहा है "बुर्जुआ समाज में कला और जीवन के बीच में हमेशा ही एक खाई रही है···जब कोई ऐसा अभिजात युवक किसी ग़रीब लड़की से शादी करना चाहता है···या ऐसा ही कोई कार्य करता है तो उसका बाप चिढ़कर कहता है जीवन उपन्यास नहीं है।"—अर्थात् इन कलाकारों ने उपन्यास को जीवन से बिलकुल अलग कर दिया है।

इनके जवाब में आते हैं हिन्दी के दूसरी प्रकार के मध्यवर्गीय—लेकिन बौद्धिक ही—नायक जो क्रियाशील भी दिखाई देते हैं, जीवन में सिद्धान्त भी बोलते हैं और व्यक्तिगत समस्याओं को भी सुलझाना चाहते हैं—यह है यथार्थवादी रोमाण्टिक व्यक्ति: यशपाल के ('दादा कॉमरेड' के) हरीश, ('देशद्रोही' के) डॉ० खन्ना आदि, 'अंचल' के ('चढ़ती धूप' के) मोहन, 'नई इमारत' के) महमूद और अशात, ('उल्का' के) चाँद, तथा श्रीकृष्णदास के ('क्रान्ति दूत' के) विनय, मदन तथा ('अग्नि पथ' के) रमेश-प्रेम।

हिन्दी के दो प्रगतिशील आलोचकों—प्रकाशचन्द्र गुप्त और रामविलास शर्मा—को शिकायत यह है कि ये सभी नायक सन्तुलित नहीं हैं और इनके साथ "ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है" वाला मामला है। वे प्रायः "राजनीति में रोमांस खोजने आते हैं।" अपने जीवन के सिद्धान्तों को इन लोगों ने प्रायः साम्यवादी शब्दावली में व्यक्त किया है लेकिन नारी का—यौन-जीवन का—इनकी दृष्टि से क्या स्थान है, इनमें से कोई भी साफ़ नहीं है। इसलिए 'नैतिकता के मूल्य बदलने' के नाम पर प्रायः ही इन्होंने अश्लीलता के प्रति रुचि दिखाई है—या कहिये समझ की ग़लती क्रिया में अश्लीलता के रूप में आई है। यह प्रवृत्ति अपने चरम रूप में उर्दू के अधिकांश लेखकों में—मुख्य रूप से कृष्णचन्द्र में—अध्ययन योग्य है। श्री कृष्णदास ने तो 'क्रान्ति दूत' की भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है कि "जिस प्रकार मरुस्थल में चलते-चलते पानी पीने की आवश्यकता होती है और पानी पिया ही जाता है, उसी प्रकार अपने क्रियात्मक जीवन में हमें स्त्री की आवश्यकता होती है।" इस दृष्टिकोण में और सिपाहियों को लड़ते समय वेश्याएँ सप्लाई करने के दृष्टिकोण में क्या अन्तर है? वेश्या और सहचरी नारी होते हुए भी कहीं तो भिन्न हैं? यह ठीक है कि साम्यवाद सामन्ती नैतिकता के नियम नहीं मानता—लेकिन कोई नियम ही नहीं मानता, यह ग़लत है। उसके अपने नियम हैं और नियमहीन उच्छृङ्खलता से उसे गडमड करना उसके विकृत रूप को रखना है। एक गिलास से कई आदमियों द्वारा पानी पीने वाली यह वही ग़लत समझ है, जिसकी क्लाराज़ैटकिन को लिखे एक पत्र में, लेनिन ने भरपूर भर्त्सना की है। राजनीति और रोमांस दोनों में यह नायक मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद लेकर आये हैं और नारी के प्रति इनमें से कुछ का दृष्टिकोण तो इनके भाईबन्द निष्क्रिय व्यक्तिवादियों से बुरी तरह मेल खाता है। चाहे व्यक्तिगत क्रान्ति की भावुक विचार-धारा हो या अहिंसक क्रान्ति की आध्यात्मिक दलीलें—राजनीतिक प्रत्युत्तर तो इन सबका ये नायक काफ़ी अच्छा दे लेते हैं लेकिन स्वयं राजनीति में प्रायः वही ग़लती करते हैं, जिसे इधर संकीर्णतावादी ग़लतियाँ कहा गया है। इसे उस समय की राजनीतिक समझ कहकर टाला जा सकता है, जिसके लिए वे ही बेचारे अकेले दोषी नहीं हैं—उनके बड़े-बड़े 'आचार्य' भी यही सोचते थे। फिर भी यह प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो प्रायः उठता ही है कि क्यों यह लोग अपने-आपको प्रचार और राजनीतिक शब्दावली से इतना अधिक बाँध लेते हैं कि दूसरे दिन वह पुरानी पड़ जाय या उसके लिए इस प्रकार की कोई सफ़ाई देनी पड़े। ऐसी ग़लती तब होती है जब राजनीति और कला में माँ-बेटी का सम्बन्ध जोड़ा जाता है—माँ बेटी को 'डिक्टेट' करती है। कला और राजनीति दोनों जुड़वाँ बहनें हैं। उनका मूल एक ही है और वह है वह जीवन, जिस पर यह अपने को आधारित करती हैं। मूल विचार-धारा रोग, निदान और उपचार सबमें एकमत एक राय होते हुए भी दोनों की भाषा और शब्दावली अलग हैं और इन्हें सहायता के लिए भले ही—लेकिन बोझ लादने को नहीं—एक-दूसरे की ओर देखते हुए भी अपने उसी आधार को देखना चाहिए जहाँ इनकी जड़ें हैं। जीवन को सही यथार्थवादी दृष्टि से न देखना इन नायकों की मुख्य कमज़ोरी है।

यशपाल पर आरोप का यही कारण है कि उनके उपन्यासों की स्त्रियाँ आवश्यकता से अधिक नायकों को चलाती हैं, श्री कृष्णदास की स्त्रियाँ बिलकुल ही निर्जीव हैं। 'अंचल' ने तारा आरती इत्यादि प्रारम्भ के उपन्यासों को छोड़कर—अपनी स्त्रियों का निर्माण समय-असमय नायक के प्रति प्रेम-निवेदन करने को ही किया है। नायक को अन्धे होकर पूजना, प्रेम-निवेदन करना और उस पर अक्षत-रोली चढ़ाना, पहले वर्ग के नायकों की विशेषता है, अतः 'अंचल' को भी बाद में हर लिहाज से हम उन्हीं नायकों की गिनती बढ़ाते हुए देखते हैं। वे 'उल्का' से लेकर 'मरु प्रदीप' तक में अपने साथी शेष 'कवि-उपन्यासकारों' के साथ आ गए। रईस की लड़की और गरीब के लड़के द्वारा वर्ग-संघर्ष की खाई को पाटने का घिसा-पिटा मन्त्र लेकर आने वाले श्री कृष्णदास को तो बहुत पहले ही 'हैण्ड्-अप' करके भाग खड़ा होना पड़ा था। जीवन के विभिन्न स्तरों का गहरा अनुभव, मानव-मनोविज्ञान की जानकारी एक स्वस्थ राजनीतिक दृष्टि और कलात्मक पृष्ठभूमि यशपाल को ज़रूर सही रास्ता खोज निकालने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करती रही है—जिस सबकी उनके साथियों में सख्त कमी थी। वे सही राह जाने के लिए मनुष्य के इस वर्ग-विभाजित समाज में विभिन्न रूप देखते रहे हैं। इस प्रयोग के दौरान में जहाँ उनकी कलात्मक शैली, भाषा की सामर्थ्य की तारीफ़ हुई है वहाँ उनके खन्ना और सोमा इत्यादि को गालियाँ भी बहुत पड़ी हैं। खन्ना 'आज़ाद कथा' के आज़ाद साहब की तरह भारत से रूस तक की स्त्रियों को 'फ़तह' कर आया, फिर भी उसकी राजनीतिक समझ चन्दा के आस-पास मँडराती रही, उसमें ज़रा भी अन्तर नहीं आया। उधर सोमा चैखव की डार्लिंग की तरह नये-नये पुरुषों का आधार खोजती रही, लेकिन स्वयं उसकी आयु और रूप कुछ भी नहीं बदले। गाँव की 'बहू' से लेकर 'पहाड़िन' एक्ट्रेस तक वह निर्लिप्त ही है।

आज के समाज में मध्यवर्गीय प्रेम-रोमांस के विभिन्न स्वरूपों को समझने और सामाजिक गत्यात्मकता में उसके स्थान के निरूपण करने का एक बहुत सराहनीय प्रयत्न 'अश्क' ने अपने 'गर्म राख' के नायकों द्वारा किया है। यद्यपि 'स्पिरिट' और कुछ अंशों तक प्रयत्न सही होते हुए भी वे प्रकृतिवाद से उसके स्वरूप को नहीं बचा पाये हैं और उसकी रक्षार्थ उन्हें हरीश को बनाया उतारना पड़ा है। फिर भी इन सभी की अपेक्षा वे आपने पात्रों के प्रति अधिक तटस्थ सहानुभूति बरत सके हैं और व्यक्तित्वहीन जगमोहन में उन्होंने आज के मध्यवर्गीय युवक के नपुंसक उलझे प्रेम को अच्छी तरह पेश किया है। निश्चय ही 'सितारों के खेल' के पवित्र प्रेम के लिए खिड़की से कूद पड़ने वाले नायक का यह अगला विकास है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्णतः इस तरह के नायक नारी के लिए भूल में पहले वर्ग के नायकों का ही दृष्टिकोण भले ही रखते हों—और उनकी सेवा-आदर प्राप्त करने के लिए अक्सर बीमार पड़ जाया करते हों, लेकिन वे सही राह खोजने की तड़प से भरे हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। असल में इन उपन्यासकारों की ग़लती यह नहीं है जो डॉ० रामविलास शर्मा समझते हैं कि "वे पूँजीवादी कला और मार्क्सवादी राजनीति को मिलाते हैं।" बल्कि कमज़ोरी उनकी यह है कि पूँजीवादी कला से क्या लेना और मार्क्सवादी राजनीति से उसका कैसे मेल बैठाना है। इसका उचित अनुपात अभी यह लेखक नहीं पा सके हैं। इस सही अनुपात की प्राप्ति को माओत्से तुंग ने समाजवादी लेखक की सफलता ही माना है, क्योंकि शुद्ध कलाकारों[1] को बात तो कुछ कहनी नहीं होती इसलिए कला को माँजने की काफ़ी फ़ुरसत रहती है—इसलिए बात कहने के लिए इनकी मँजी कला ली जा सकती है।

बहती गंगा

चैखव, तुर्गनेव, टाल्सटाय और डिकेन्स की सबसे बड़ी विशेषता है, वस्तुस्थिति की उनकी पकड़ और तज्जन्य मानसिक संवेदनाओं का सामाजिक परिपार्श्व में ऐसा अंकन कि आगे आने वाले किसी भी मत के पाठक को तत्कालीन युग को समझने का उससे सच्चा और अच्छा माध्यम ही न मिले। उसका मतवाद भले ही उन्हें उपन्यासकार के 'निदान' से असहमत होने को विवश करे—उसे उनकी व्यक्तिगत या तत्कालीन सीमाएँ मानकर छोड़ा भी जा सकता है। सामाजिक सम्बन्धों में मानव-हृदय की यही समझ थी जिसने डिकेन्स को हर युग में हर देश के महान् लेखकों द्वारा पढ़े जाने का समर्थन प्राप्त कराया है और रॉबर्ट लिएड को चैखव के विषय में यह कहना पड़ा कि मानव-हृदय का इतना बड़ा जानकार इस नक्षत्र पर पैदा नहीं हुआ और स्तालिन को यह मानना पड़ा कि यदि तत्कालीन परिस्थितियों में रूसी हृदय को समझना है तो चैखव से बड़ा कोई कलाकार नहीं मिल सकता। यही नहीं मानव-चेतना के तीन छोरों को—टाल्सटाय, गोर्की और समरसैट मॉम की—समान निष्ठाभरी भाषा में उसे श्रद्धांजलि देनी पड़ी।

कुछ हद तक यह सही है कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न यौन-कुण्ठा—जिसके विषय में ऊपर काफ़ी कहा जा चुका है—उस समय के युवकों के एक वर्ग में सत्य थी—और प्रेमचन्द ने उसे प्रायः अपने किसी भी उपन्यास में प्रायः किसी भी रूप में स्थान नहीं दिया है। यह भी कह सकते हैं कि मानव-चेतना की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ किस तरह किन्हीं विशेष परिस्थितियों में प्रतिबाधित और रुद्ध होकर असामान्य मनोविज्ञान की सृष्टि करती हैं इसका एक भी चित्र हमें प्रेमचन्द में नहीं मिलता, इसलिए कुछ लोगों को उनमें 'मनोवैज्ञानिक गहराई' या चेतना के विभिन्न (विकृत) स्तरों के दर्शन नहीं होते। फिर भी स्तालिन ने जो बात चैखव के सम्बन्ध में लिखी है वही प्रायः प्रेमचन्द के विषय में भी कही जाती है। इसका कारण यह भी है कि प्रेमचन्द ने अपने सभी पात्रों को विकासमान घटना-क्रम में ही देखा है जिससे उनकी विकृ-

१. "Why we should admire a 'pure artist' more than a 'pure woman' is one of the mysteries of the age. Why not just an artist and a woman? They are both interesting and they both suffer, but not in order to be beautiful" —फ़ॉक्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तियाँ और कुण्ठाएँ प्रायः क्रिया के रूप में ही ढल गई हैं। उन्होंने उन्हें कहानी से अलग हटाकर स्थिर और विश्लिष्ट करके उनकी महीन-से-महीन रुद्धता का मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और परीक्षण नहीं किया और न ही हर अनुभूति को बौद्धिक स्तर पर ले जाकर उसका तटस्थ 'दर्शन' करते हुए भाषा और भावों की उलझन और गरिष्ठता में अपने को खोया है। उन्होंने 'अन्तराल' बनाकर अपने पात्रों को और भी अधिक आत्मालोचन और आत्म-ज्ञान की छूट भी नहीं दी और मेरी समझ में यह एक सही दृष्टिकोण था। मनोवैज्ञानिक गम्भीरता, चेतना के स्तर-प्रस्तरों का अनुसन्धान मानव-मन की कुण्ठा और विकृति को—सफल या असफल—यदि चाहे तो कौन-सा लेखक नहीं चित्रित कर सकता और किस स्वस्थ-से-स्वस्थ मनुष्य में इस तरह की गाँठें नहीं हैं? पवित्र-से-पवित्र पानी के एक छोटे-से बिन्दु में या दही और वनस्पतियों में कीटाणुओं की कितनी विराट् संख्या छिपी है इस बात के वैज्ञानिक सत्य से इन्कार करना मूर्खता होगी; लेकिन हर जगह व्यक्ति यही सब देखने बैठ जायगा तो उसका खाना-पीना, उठना-बैठना सब-कुछ हराम हो जायगा। प्रेमचन्द के दृष्टिकोण को सही या ग़लत कह देना अलग बात है लेकिन उसे उनकी कमज़ोरी मानना उचित नहीं है। प्रवृत्तियों और चेतना की किन अनिवार्य वृत्तियों को हम स्वीकार या नज़रन्दाज़ कर सकते हैं, इसे हमें एक सामाजिक प्राणी की दृष्टि से ही सोचना होगा।

प्रेमचन्द की एक-मात्र सफलता यह थी कि उनकी कहानी उस बिन्दु से शुरू होती है, जिसे बहुत बाद तक भी लोगों ने—विशेषकर मध्यवर्गीय अभिजात आलोचकों और उपन्यासकारों ने—कोई महत्त्व नहीं दिया। वह था व्यक्ति और समाज का मिलन-बिन्दु अर्थात् परिवार। प्रेमचन्द कुछ वर्गों के चित्रण में बहुत अधिक सफल रहे हैं, कुछ के में कम, यह उनके अनुभव की अपनी सीमा थी लेकिन उनके उपन्यास का कोई भी प्रमुख पात्र कम-से-कम दो ऐसी विशेषताएँ रखता है जो उन्हें सामयिक तथा परवर्ती सभी उपन्यासकारों से अलग कर देती हैं। या तो वह एक परिवारिक पृष्ठभूमि लेकर आता है या एक से अधिक सम्बन्धों में हम उसे चलते-फिरते देखते हैं—यहाँ तक कि उनका एक-मात्र अभिजात या आदर्श प्रेमी विनय भी केवल सोफ़िया के साथ ही मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों का 'प्लांचेट' नहीं है—उसके और भी सम्पर्क और सम्बन्ध हैं। इस कला के द्वारा वे अपने नायकों के किसी विशेष व्यक्तित्व पर कई तरह से या व्यक्तित्व के कई पक्षों पर एक साथ सधा और सीधा प्रकाश डालने में समर्थ हो सके हैं—वर्ना रायसाहब ज्ञानशंकर, अमरकान्त इत्यादि को परम्परागत रूप में ढला-ढलाया खलनायक न बनने देकर इतनी अधिक मानवीय तटस्थता से वे उनका चित्रण न कर पाते। मैं खलनायक इसलिए कह रहा हूँ कि आज के उपन्यासकार के लिए—जो किसी भी 'रैडी मेड' चीज में विश्वास नहीं करता, सबसे अधिक मुश्किल है खल नायक का निर्माण।[1] आज वह किसे सड़क पर खड़े होकर और किस आधार पर और क्यों कह दे कि तू खलनायक है? यही वह स्थान है जहाँ हिन्दी के सबसे बड़े कलाविद 'अज्ञेय' तक 'फेल' हो गए हैं और जब उनका चन्द्रमाधव आता है तो ऐसा लगता है कि राजा शिवदत्त (चन्द्रकान्ता सन्तति) चले आ रहे हैं। केवल यही उद्देश्य न होने के कारण प्रेमचन्द अपने अन्तिम दो नायकों को छोड़कर भले ही उस विधि का सफलतापूर्वक उपयोग न कर पाए हों, लेकिन यह अन्तर्दृष्टि उन्होंने जरूर दी कि चाहे कितना ही अतलान्तक

१. 'पाँचू' के चित्रण में विशेष सफलता न मिलते हुए भी 'मोनाई' (खलनायक) के चित्रण 'महाकाल' में श्री अमृतलाल नागर को जो सफलता मिली है वह इसका अपवाद है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गूढ़-गम्भीर मनोविश्लेषणात्मक नायक हो तब तक न तो उसकी मानसिकता का सफल चित्रण ही हो सकता है और न उसे 'टाइप' ही बनाया जा सकता है जब तक कि उसे कई कोणों, क्रिया-परम्पराओं और सम्बन्धों के बीच में नहीं देखा जाता। इल्या एह्‌रेन बुर्ग ने इसे ही नई शब्दावली यों दी है—"१९वीं शताब्दी का उपन्यास मुख्य रूप से या तो व्यक्तियों या उन परिवारों को लेकर चलता है जिनमें लेखक अपने एक या अधिक नायकों के आस-पास चरित्रों को एकत्र कर देता था। आज का सामाजिक जीवन व्यक्ति के घरेलू जीवन का ही हिस्सा अधिक है। आज चाहे मनोवैज्ञानिक हो या अन्य, "ऐसे उपन्यास की कल्पना ही नहीं की जा सकती जिसमें नायक या नायकों के सम्पर्क में आने वाले विभिन्न व्यक्तियों का चित्रण न हो।"'[1]

व्यक्ति को कई कोणों और पक्षों से दिखाना प्राय: उपन्यासकार को प्रकृतिवादी यथार्थ-वाद में उलझा देता है, जैसा कि कुछ अंशों में 'प्रसाद' के 'कंकाल' और 'तितली' में और बाद के रांगेय राघव में हुआ। सचेत उपन्यासकार परिस्थिति और समस्याओं में ही उलझा रह जाता है, न तो वह व्यक्ति बना पाता है और न इस दिशा में कोई आशाजनक प्रयास करता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण होते हुए भी अपरिहार्य घटनाओं और व्यक्तियों को छाँटने के विवेक के अभाव में प्राय: ही उपन्यासकार असन्तुलित होकर अवान्तर प्रसङ्गों के विस्तार में बहक जाते हैं। कुछ अंशों में 'अश्क' का 'गिरती दीवारें' इसका उदाहरण है।

यह चयन या छाँटने का काम तब बहुत आसान—कहना चाहिए तभी सम्भव होता है जब[2] लेखक अपने नायक के विषय में सभी कुछ जानता हो। इसके बिना न तो वह कहानी को ही चला सकता है और न व्यक्तित्व के खास-खास पक्षों को ही शक्तिशाली ढंग से रख सकता है। विशेष रूप से व्यक्तिवादी नायकों के स्रष्टा मूलत: जानते ही नहीं थे कि उनका कोई विशेष चरित्र किन सामाजिक या अन्य परिस्थितियों या प्रतिक्रियाओं के कारण ही वैसा बन गया है और उस स्थिति में केवल वही कर सकता है, जैसा करते हुए उन्होंने दिखाया है। वे कटे-छटे कलापूर्ण चरित्र के नाम पर जो कुछ देते थे वही अपने पात्रों के विषय में जानते थे या अपने चरित्रों को केवल इसी रूप में वे समझ भी पाये थे। उनकी पारिवारिक स्थिति, सगे-सम्बन्धी, जीविका का साधन, व्यक्तिगत रुचि आदि किसी भी पात्र की इस प्रकार की 'हिस्ट्री-शीट' से उपन्यासकार को कोई मतलब नहीं होता था इसलिए ये चरित्र बड़े एकाङ्गी लगते हैं, जैसे अंधेरे में घूम रहे हो। 'गोदान' का होरी इस दृष्टि से भारतीय कथा-साहित्य में बेजोड़ है और बाद के चरित्रों में तो इस तरह का एक ही प्रयत्न ध्यान में आ रहा है जिसे इतने अधिक सम्बन्धों और सम्पर्कों में रखने की कोशिश की गई—वह है विष्णु प्रभाकर की 'ढलती रात' का 'दर्शन-हीन' नायक कान्त। 'चेतन' सामाजिक परिस्थितियों के अङ्कन के लिए केवल एक ऐसा पारदर्शी माध्यम बन गया है कि व्यक्तित्व नहीं बन पाया। उसकी सफलता इस बात में है कि वह जीवन से कटे हुए यौन-कुण्ठा-ग्रस्त व्यक्तियों को एक सामाजिक पृष्ठभूमि में चित्रित करने का प्रयास है।

१. लेखक और उसका शिल्प।

२. "उपन्यास के लेखक को अपने पात्रों की बचपन से लेकर बुढ़ापे तक की जिन्दगी से परिचित रहना चाहिए। वह इन सबको चित्रित नहीं भी कर सकता, परन्तु अपनी रचना और दृष्टिकोण के अनुसार कुछ परिवर्तन करके उनमें से आवश्यक चीज़ें छाँट अवश्य लेता है।" इल्या एह्‌रेनबुर्ग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी कथा के लिए हम उसका उपयोग या चित्रण किसी भी रूप में और कितना ही करें नायक को हम तब तक सजीव और सम्पूर्ण नहीं बना सकते जब तक कि उसके व्यक्तित्व के दो पक्षों को हम बहुत अच्छी तरह न समझ लें। रैल्फ फॉक्स के अनुसार "हर मनुष्य के दो इतिहास होते हैं। जाति-पात्र (टाइप) के रूप में उस व्यक्ति का सामाजिक इतिहास होता है और एक व्यक्ति के रूप में उसका अपना व्यक्तिगत इतिहास होता है। इन दोनों ही इतिहासों में परस्पर चाहे कितना ही द्वन्द्व और संघर्ष क्यों न दिखाई दे, असल में है यह अविछिन्न ही। यह सही है कि व्यक्तिगत इतिहास अन्ततः सामाजिक इतिहास द्वारा ही निर्धारित होता है किन्तु इसका यह मतलब कभी नहीं है और न होना चाहिए कि कला में व्यक्तित्व के ऊपर सामाजिक जातीयता ही हावी हो जाय।" और यह सामाजिक इतिहास आज हमारे समाज में कितनी धाराओं में बँटा है तथा किस तरह विकास, गति और रूप प्राप्त करता हुआ व्यक्तिगत इतिहास या व्यक्तित्व का निर्माण करता है यही उपन्यासकार की अन्तर्दृष्टि की कसौटी है।

होरी और उसके केवल दो उत्तराधिकारी—अमृतलाल नागर का 'सेठ बाँकेमल' और नागार्जुन का 'बलचनमा'—अपने व्यक्तित्व में सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को इस तरह आत्मसात् करके साकार हो उठे हैं और इतने अधिक 'अपने व्यक्तित्व' के लोग बन गए हैं कि जहाँ हम उनमें एक युग अपनी सारी विशेषताओं के साथ देखते हैं, वहाँ वे बहुत ही साधारण लेकिन बेजोड़ आदमी भी हैं। यदि सामन्तवाद की समाप्ति[1] के साथ होरी की कहानी समाप्त होती है तो 'बाँकेमल' और 'बलचनमा' अपने पुराने संस्कारों के साथ नई सभ्यता का ऐसा गंगा-जमुनी समन्वय देते हैं कि दो अद्भुत व्यक्तित्व सामने आते हैं। बाँकेमल तो सचमुच ही अद्वितीय चरित्र है, जो हँसते-हँसते अपने युग की प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील दोनों धाराओं का दिग्दर्शन कराता है। वह पुराने का भक्त है। अपने समय से चिपका है। गाँव में जाता है तो पनिहारिनों से मज़ाक करने में या उनके साथ मज़ा लूटने में; बगीची में आशिक-माशूकी की शायरी करने में या अपने गाहकों की, यहाँ तक कि लाला मूलचन्द की भी जेब काटने से नहीं चूकता। लेकिन एक जगह वह परम क्रान्तिकारी है। मुसलमान बादशाह को हृदय से प्यार करता है। ग़रीबों की शादी के लिए छाती ठोककर लड़ने को तैयार हो जाता है। सबके ऊपर उसकी अपनी सनकें तो हैं ही। वर्णनात्मक शैली की सजीवता की दृष्टि से भारतीय साहित्य के बाहर भी ऐसा मस्त चरित्र मिलना मुश्किल है।

रतिनाथ और बलचनमा के रूप में ऐसा लगता है कि नागार्जुन ने प्रेमचन्द की विस्मृत कथा-परम्परा और होरी की वंशावली—अर्थात गोबर—को चित्रित किया है। लेकिन सामाजिक और सांस्कृतिक सत्यों को समोकर वह भी इतना सशक्त पात्र नहीं दे सके, जो बाँकेमल है। हालाँकि बाँकेमल अपने-आपमें उपन्यास का अधूरा ही पात्र है जिस तरह होरी का ढीला-ढाला प्रशान्त चरित्र बिना धनिया की तेज़ी और सड़क के नहीं निखर सकता था उसी तरह बाँकेमल तो केवल चौबे जी के चरित्र का पूरक है। वह उनकी कथाओं को ऐसी निष्ठा और लगन से

१. श्री शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है—"होरी के जीवन में अविराम संघर्ष है, लेकिन अकेला होते हुए भी होरी इस संघर्ष में अकेला नहीं है। होरी के गिरने पर समाज का पूरा ढाँचा गिरता दीखता है और उठने पर पूरा समाज उठता नज़र आता है।" 'प्रगतिवाद', 'कथा साहित्य की समस्याएँ'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बयान करता है जैसे 'संकोपांजा' के मुँह से हम 'डॉन क्विकजोट' के या 'खोजी साहब' के मुँह से 'मियाँ आजाद' के कारनामे सुन रहे हों, लेकिन उसने जिस ढंग, जिस लहजे और जिस लटके में इन सब का वर्णन किया है वह इनकी अपेक्षा अधिक उस समय का पूरा चित्र देने में सक्षम है।

सामन्ती व्यवस्था से व्यक्ति को मुक्ति दिलाने का काम तो मानवतावाद ने बड़ी सफलतापूर्वक किया है लेकिन निरस्त्र और असमर्थ[1] होने के कारण स्वयं पूँजीवाद के सामने उसे हार स्वीकार करनी पड़ी। 'रंगभूमि' का 'सूरदास' पुराने संस्कारों, रूढ़ियों और क्षुद्रताओं में जकड़े लोगों को अपनी व्यक्तिगत सिद्धि और हार्दिक निश्छलता के प्रभाव से एक उद्देश्य के लिए संगठित तो कर सका, लेकिन वह 'अन्धा' था। उस संगठन का किस दिशा में और किस प्रकार उपयोग किया जाय, न वह जानता था न देखता था, इसलिए उमड़ते पूँजीवाद के थपेड़ों में निर्मयता पूर्वक एक ओर फेंक दिया गया। इस वैज्ञानिक सत्य के साथ प्रेमचन्द ने सूरदास की बातचीत, चाल-ढाल, रहन-सहन, व्यवहार, मान्यताओं और संस्कारों को जो व्यक्तिगत आकार दिया है वह व्यक्तित्व-निर्माण का एक अत्यन्त ही उत्कृष्ट और प्रभावशाली उदाहरण है। पूँजीवाद के मुकाबले में निरीह मानवतावाद को समर्थ करने का एक-मात्र श्रेय—या युगानुरूप मानवतावाद को ढालने का एक-मात्र श्रेय—मार्क्सवाद को है और इसकी अभिव्यक्ति मार्क्सवादी ग्रन्थों की वाक्यावली उद्धृत करने से नहीं, यहीं की धरती में वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टि से समाजवादी यथार्थ के चित्रण के रूप में होगी—इस दिशा की ओर प्रेमचन्द का दूसरा सधा, कलापूर्ण कदम था होरी। हालाँकि 'गोदान' में संघर्ष-जैसी कहीं कोई चीज नहीं है। होरी एक रूढ़िगत अभिलाषा—गोदान की अभिलाषा—को लेकर जीवन के अन्तिम दम तक अपनी सीमाओं, बुराइयों-भलाइयों के बीच उनसे जूझता, समझौता करता, जीवित रहने के लिए लड़ता चला जाता है और अन्त में अपने इस लड़ने की परम्परा को गोबर अर्थात् सर्वहारा वर्ग को दे जाता है। सच पूछा जाय तो उस परम्परा को उसी दृष्टि और गहराई से यथार्थ पृष्ठभूमि में अभी तक बढ़ाया ही नहीं गया केवल उस दिशा में कुछ प्रयोग हुए हैं और चूँकि वे प्रयोग हैं इसलिए काफी अपरिपक्व भी हैं।

(नया व्यक्ति अपने जीवित रहने के लिए पुरानी व्यवस्था से संगठित और समर्थ होकर लड़े, इस दिशा में सही—लेकिन बहुत अपरिपक्व केवल एक प्रयत्न देखने में आया है वह है यशपाल का 'पार्टी कामरेड'। उसमें यशपाल की एक-मात्र सफलता यह है कि वे भावरिया को एक व्यक्ति लड़ाकू बनाने में—कुछ लोगों का कहना है बड़े सस्ते ढंग से—सफल हो सके हैं। गीता को देखकर सस्ते रोमांस की जगह किसी और सशक्त प्रवृत्ति द्वारा वे यदि भावरिया के मानवतावाद का 'हृदय-परिवर्तन' दिखाकर समर्थ बना पाते तो शायद ज्यादा अच्छा होता। यों रोमांस

१. टालसटाय के अहिंसावाद के सिद्धान्त से पूरी तरह मुक्ति चैखव को 'शाख़ालिन' द्वीपों की यात्रा ने दिलाई, जहाँ उन दिनों अपराधी जाते हैं। वहाँ से 'सुवोरिन' को पत्र लिखा था "यदि अहिंसा के सिद्धान्त में ज़रा भी व्यावहारिकता और हृदय-परिवर्तन की सामर्थ्य होती तो इस स्थान से अधिक उपयुक्त स्थान उसके लिए कोई नहीं था। यहाँ मैंने सैकड़ों मनुष्यों को क्रूर अधिकारियों द्वारा गुलामों की तरह शान्त और निरीह पिटते देखा है और युग बीत गए हैं किसी अधिकारी का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहे उसका प्रारम्भ कितना ही विकृत क्यों न हो लेकिन मूल और अन्तिम परिणति में मानवता के सभी तत्वों से वंचित है ऐसा मैं नहीं मानता।)

इन सभी प्रयोगों में 'गिरती दीवारें', 'बीज' और गंगाप्रसाद मिश्र के 'संघर्षों के बीच' से लेकर 'गंगा मैया', 'बहती गंगा' से 'प्रेत बोलते हैं' तक विकासमान समाज के वैज्ञानिक सत्य और उसकी समस्याओं-परम्पराओं इत्यादि को आज तक की स्थिति में छोटे-बड़े स्तर पर समझने का प्रयत्न तो जरूर ईमानदार है; लेकिन इनका भी इन-जैसे अन्य समकालीन सभी लेखकों की एक बहुत बड़ी कमजोरी है। वे विकासमान समाज का विश्लेषण, उसके विभिन्न रूपों का निरूपण तथा पिछली गति का चित्रण तो काफी सफल कर सके हैं लेकिन आज के बाद उसकी एक भी कड़ी का सही रूप नहीं दिखा पाये और उन्हें प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों की तरह 'आदर्श' की या तो एकदम अवतारणा करनी पड़ी है या अधिक तर्कसंगत होने के आग्रह में उन्हें उस कड़ी को वहीं छोड़ देने को विवश कर दिया है। दूसरी और बहुत बड़ी कमजोरी इन लोगों की यह रही है कि अभी तक ये लोग किसी ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर पाये जैसे पिछले युग के सूरदास, होरी, बाँकेमल और बलचनमा हैं। व्यक्ति केवल कुण्ठाओं, विकृतियों और मनोवैज्ञानिक गाँठों का अजायबघर ही नहीं एक बीतती संस्कृति का गवाह और उगती संस्कृति का परिवाहक भी है। वह संस्कृति और समाज के इतिहास की एक कड़ी है उसे एक गतिशील संस्कृति के सजीव, अकृत्रिम प्रतीक के रूप में ऐसी दृष्टि से देखना खुली और स्वस्थ दृष्टि का परिचायक है जिसमें उसका अपना व्यक्तित्व भी उभरे। होरी और बाँकेमल गाँव और शहर की मरणशील सभ्यता के ऐसे अध्ययन हैं जो जीते-जागते व्यक्तित्व वाले आदमी भी हैं और अपनी वस्तुसत्यता की पकड़ के लिए इतिहास के अमर नायक भी। यदि 'रथ के पहिये' (देवेन्द्र सत्यार्थी) एक जाति और 'बहती गंगा' (शिवप्रसाद मिश्र) एक नगर का अध्ययन है तो यशपाल एक 'घटना', 'गिरती दीवारें' (अश्क) एक वर्ग और 'प्रेत बोलते हैं' (राजेन्द्र यादव) एक घर का, लेकिन व्यक्ति इनमें कोई उभरकर नहीं आता।

मैं मानता हूँ कि यथार्थवादी होते हुए भी यह इन रचनाओं के लेखकों का प्रकृतिवादी रुझान हो सकता है कि न तो वे समाज-विकास की अगली कड़ी दे पाते हैं और न कोई व्यक्तित्व लेकिन इनके प्रयोगों की ईमानदारी के बारे में सन्देह करना गलत होगा। अगली कड़ी देने के नाम पर इनमें से वह जल्दबाजी बहुत कम लोगों ने की है जो 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के लेखक धर्मवीर भारती कर बैठे हैं। उन्होंने कहीं सुना कि "मार्क्सवाद उपन्यासकार को एक ऐसी दृष्टि से सम्पन्न कर देता है कि वह वर्तमान को भविष्य की दृष्टि से देख सके" बस सारे मार्क्सवाद को समझकर 'सातवें घोड़े के रूप' में बिना लिङ्ग मिलाये हुए डोरे में बँधा 'भविष्य' उन्होंने रंगमंच पर ला उतारा। मार्क्सवादी दृष्टि का यह विशेषण—"मुक्तदायिनी लेकिन ज़रा खतरनाक" उन्होंने नहीं पढ़ा। इस खतरे का दूसरा उदाहरण व्यक्तित्व-निर्माण के नाम पर 'गर्म राख' का हरीश है।

फिर व्यक्ति का निर्माण इतनी आसानी से नहीं हो सकता। सूरदास और होरी प्रेमचन्द के कितने लम्बे प्रयोगों की कड़ी के परिणाम हैं, यह देखने पर पूरी बात समझ में आ जाती है। 'सेवा सदन' से लेकर 'कर्मभूमि' तक समस्याएँ-ही-समस्याएँ हैं। उन समस्याओं को लेकर आने वाले कुछ पात्र हैं, जो उन्हें प्रस्तुत करने के ढंग के कारण ही आपस में भिन्न हैं, व्यक्तित्व है ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। कम-से-कम उस अर्थ में नहीं हैं जिसमें ये पिछले दो नायक हैं। दूसरे प्रेमचन्द के युग से आज व्यक्तित्व का निर्माण करना ज्यादा कठिन काम इसलिए भी है कि प्रेमचन्द जिस युग में जी रहे थे और जी चुके थे दोनों व्यवस्थाएँ उनके सामने थीं। 'नये' में वे रहते थे और 'पुराने' को खूब अच्छी तरह जानते थे। आज के उपन्यासकार को इतना ही जानना काफी नहीं है 'एक' अनिवार्य अनागत की छाया भी उसकी छाती पर मँडराती है—यदि वह केवल होरी-जैसे पात्र को चित्रित करके छोड़ देता है तो यह उसका निराशावादी दृष्टिकोण ही माना जायगा उससे माँग की जायगी कि अगले आदमी का चित्र दे जो इस निराशावाद के खिलाफ लड़ रहा है। होरी-जैसा पात्र भी अङ्कित न कर पाने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि उस 'अगले आदमी' की आवश्यकता खुद लेखक कम उत्कटता से नहीं अनुभव करता। यहाँ तक कि वह इस इच्छा को अलग भी नहीं कर सकता और समझता भी नहीं है, क्योंकि इस 'अगले आदमी' की तस्वीर अभी इतनी धुँधली और अस्पष्ट है कि उसकी रेखाएँ अभी पकड़ में नहीं आतीं और उनके बिना तस्वीर पूरी नहीं होती। फिर भी व्यक्तित्व-निर्माण के माहिर श्री अमृतलाल नागर तथा अन्य लेखकों के 'बूँद और समुद्र'-जैसे प्रयोग अभी जारी हैं और देखें कौन है जो बिहारी की नायिका की तरह नित्य परिवर्तनशील उसकी 'छवि' को 'लिख' पाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

हिन्दी का भावी रूप

हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोणों से विचार हो सकता है—(१) यह रूप क्या होना चाहिए और (२) इस रूप के क्या होने की सम्भावना है ?

जहाँ तक क्या होना चाहिए का प्रश्न है, भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं के लोगों की भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ हैं। आजकल सबसे अधिक प्रचलित विचार-धारा यह है कि हिन्दी के भावी रूप में भारतवर्ष की समस्त चौदह प्रधान भाषाओं की शब्दावली और कदाचित् व्याकरण के रूपों का मिश्रण होना चाहिए। जब तक ऐसा न होगा तब तक हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में देश के भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी भागों में स्वीकृत नहीं हो सकेगी—प्रादेशिक साहित्यिक भाषा चाहे वह बनी रहे। यह तो अभी निश्चय नहीं किया जा सका है कि किस अनुपात से यह मिश्रण हो; किन्तु यह सिद्धान्त अकाट्य मान लिया गया है कि मिश्रण अवश्य होना चाहिए। फलस्वरूप हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली निर्माण करने वाली उपसमितियों में यदि अन्य भाषा-भाषी सदस्य होते हैं तो वे कभी-कभी अपनी भाषाओं के कुछ शब्द सुझा देते हैं और लेन-देन तथा समझौते की भावना से इन्हें स्वीकृत कर लिया जाता है।

इसी सिद्धान्त से सम्बन्धित एक विचार-धारा यह है कि हिन्दी भाषा का रूप इस दृष्टिकोण से सरल किया जाना चाहिए जिससे कि वह भारत के भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों को सीखने में कठिनाइयाँ न उपस्थित करे। उदाहरण के लिए इस प्रकार तर्क दिया जाता है कि भारतवर्ष की बंगाली आदि पूर्वी भाषाओं में लिङ्ग-भेद के कारण व्याकरण-सम्बन्धी रूपों में विभिन्नता नहीं होती, फलस्वरूप इन भाषा-भाषियों के सुभीते के लिए हिन्दी भाषा से लिङ्ग-भेद हटा देना चाहिए। जैसे हिन्दी के विशेष स्त्रीलिंग रूप जैसे 'जाती, खाती, पढ़ती' आदि आवश्यक हैं। इनके स्थान पर 'जाता, खाता, पढ़ता' आदि रूपों का ही प्रयोग सर्वत्र होना चाहिए। जिस तरह हिन्दी में 'राम जाता है' कहते हैं, वैसे ही 'सीता जाता है, रेल जाता है, लड़की जाता है' आदि प्रयोग चलाने चाहिएँ।

हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए, इस सम्बन्ध में दूसरी विचार-धारा हिन्दुस्तानी का पक्ष लेने वाले वर्ग की है। ये लोग अब भी इस विचार के हैं कि हिन्दी की ध्वनियाँ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दावली तथा व्याकरण उर्दू के काफ़ी निकट लाया जाना चाहिए और उर्दू-भाषा-भाषियों की सुविधा को ध्यान में रखकर इनमें आवश्यक परिवर्तन होने चाहिएँ, जिससे उर्दू के जानकारों को हिन्दी सीखने में कठिनाई न पड़े और यदि सम्भव हो सके तो खड़ी बोली की हिन्दी और उर्दू शैलियाँ एक हिन्दुस्तानी शैली में घुल-मिल जा सकें। इसी विचार-धारा के परिणामस्वरूप हिन्दी के लिए देवनागरी लिपि के साथ उर्दू लिपि को, जो उद्‌गम की दृष्टि से अरबी लिपि है, सीखने पर बल दिया जाता है।

हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में तीसरी विचार-धारा संस्कृत की ओर झुकने वाले विद्वानों की है। इनकी धारणा है कि वास्तव में संस्कृत को भारत की राष्ट्रभाषा होना चाहिए। प्राचीन काल में बहुत समय तक यह भारतवर्ष की अन्तर्प्रादेशिक और राजभाषा रही भी है और आज भी यह देश के समस्त हिन्दुओं की धर्म और दर्शन की प्रधान भाषा है। किन्तु यदि संस्कृत राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकी है तो हिन्दी को इतना संस्कृत गर्भित कर देना चाहिए कि वह संस्कृतमय हो जाय। इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में संस्कृत को हिन्दी-पाठ्य-क्रम का अंग बनाया जा रहा है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, बंगला, मराठी या गुजराती आदि अन्य भारतीय भाषाओं के पाठ्य-क्रमों में संस्कृत को इस प्रकार का असाधारण स्थान नहीं दिया जा रहा है।

पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में यथासम्भव संस्कृत-तत्सम शब्दों अथवा संस्कृत-व्याकरण के आधार पर गढ़े हुए शब्दों को यह वर्ग अच्छा समझता है। इस सम्बन्ध में यह तर्क भी उपस्थित किया जाता है कि ऐसी सांस्कृतिक शब्दावली से युक्त होने पर हिन्दी का रूप भारत के अन्य साहित्यिक भाषा-भाषियों के लिए सरल पड़ेगा, क्योंकि तैलुगु, मराठी, बंगला आदि भाषाओं में भी संस्कृत-तत्सम शब्दावली का व्यवहार स्वतन्त्रता से होता है। उदाहरण के लिए संस्कृत-तत्सम रूप 'क्षेत्र' अन्य भाषा-भाषियों के लिए अधिक सुबोध हो सकेगा 'क्षेत्र' का तद्‌भव हिन्दी रूप 'खेत' केवल हिन्दी-भाषी-प्रदेश तक ही सीमित है।

हिन्दी के भावी रूप की कल्पना के सम्बन्ध में चौथी और अन्तिम विचार-धारा अंग्रेजी पढ़े भारतीयों की है, जिन्होंने अंग्रेजी शासन-काल में अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा पाई थी। क्योंकि उस समय शिक्षा-क्रम में भारतीय भाषाओं को उचित स्थान प्राप्त नहीं था, अतः ये लोग अपनी-अपनी भाषाओं के ज्ञान से प्रायः वंचित हैं। इस वर्ग का सच्चा विश्वास तो प्रायः यह है कि यदि अंग्रेजी ही शासन, शिक्षा तथा न्याय आदि के क्षेत्र में चलती रहती तो अच्छा होता, क्योंकि भारतीय भाषाएँ कभी भी अंग्रेजी के स्तर तक पहुँच सकेंगी, इसमें उन्हें सन्देह है—जो हो, उनके अनुसार निकट भविष्य में तो नहीं पहुँच सकती। किन्तु यदि हिन्दी को चलाना ही है तो कम-से-कम समस्त पारिभाषिक शब्दावली तो अंग्रेजी की ज्यों-की-त्यों ले ही लेनी चाहिए। इस शब्दावली को अंग्रेजी-शब्दावली न कहकर अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली नाम दे दिया गया है। इस बात का भी इधर प्रयत्न हो रहा है कि माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में अंग्रेजी को फिर से लौटाया जाय।

इस प्रकार हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए, इस सम्बन्ध में चार भिन्न विचार-धाराएँ अपने देश में चल रही हैं, जिन्हें संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि—(१) हिन्दी का भावी रूप भारत की समस्त भाषाओं की खिचड़ी से बनना चाहिए, (२) हिन्दी को उर्दू के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकट लाने के लिए इसे हिन्दुस्तानी बनाना चाहिए, (३) हिन्दी संस्कृत-गर्भित होनी चाहिए और (४) हिन्दी भाषा और अंग्रेजी शब्दावली के मिश्रण से 'हिन्दुस्तानी' के वजन पर हिन्दी का नया रूप इंगलिस्तानी बनना चाहिए।

वास्तव में जो समझने की बात है वह यह नहीं है कि हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए, बल्कि क्या होने की सम्भावना है? संसार में हजारों भाषाएँ हैं और उनका हजारों वर्षों का इतिहास हमारे सामने है। भाषाओं के इन इतिहासों की जानकारी के आधार पर भाषा-विज्ञान के पण्डित वर्तमान भाषाओं के भविष्य के सम्बन्ध में लगभग निश्चय के साथ वैज्ञानिक परिणामों पर पहुँच सकते हैं।

इस सम्बन्ध में पहली बात जो समझने की है वह यह है कि यद्यपि भाषा निरन्तर परिवर्तन शील है किन्तु इसमें परिवर्तन यकायक नहीं होते हैं, और न कृत्रिम ढंग से सहसा किये जा सकते हैं। भाषा-विज्ञान का यह चिर-परिचित नियम हिन्दी-भाषा पर भी लागू होगा। उदाहरण के लिए खड़ी बोली हिन्दी की साहित्यिक शैली, जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से विकसित हुई, गत ७०-८० वर्षों में ही काफी प्रौढ़ हो गई है और भविष्य में यह प्रौढ़ता आगे बढ़ेगी, यह निश्चित है। किन्तु विकास की यह प्रक्रिया स्वाभाविक ढंग से धीरे-धीरे हुई है और भविष्य में भी ऐसे ही होगी। भाषा-शैली के रूप के सम्बन्ध में हम कानून बनाकर उसमें सहसा उलट-पलट नहीं कर सकते। यदि हम चाहें कि हमारा १० वर्ष का बच्चा ६ महीने में ही १६ वर्ष का बड़ा लड़का हो जाय तो यह हमारे बस की बात नहीं है। अधिक-से-अधिक हम उसके स्वाभाविक बढ़ने में कुछ साधक अथवा बाधक हो सकते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि हिन्दी की वर्तमान शैली को आमूल रूप से परिवर्तित किया जाना संभव नहीं है। हाँ, उसे प्रौढ़ और विकसित करने में सहायता पहुँचाई जा सकती है।

दूसरी बात जो समझने की है वह यह है कि भाषा में विकास आवश्यकताओं के अनुरूप होता है। मध्यकाल तथा अंग्रेजी शासन-काल में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का प्रयोग ललित साहित्य की रचना के लिए तो हुआ, किन्तु शासन अथवा ज्ञान-विज्ञान की आवश्यकताओं के लिए उनकी उपेक्षा की गई। सुलतानों तथा मुगलों के शासन-काल में राज-भाषा फारसी थी। ज्ञान-विज्ञान की विशेष चर्चा हमें मध्यकाल के भारत में दिखलाई ही नहीं पड़ती। अंग्रेजी शासन-काल में राज-भाषा अंग्रेजी हो गई और ज्ञान-विज्ञान तथा शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी ही थी। अतः इस काल में भी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को इन क्षेत्रों में विकसित होने का अवसर नहीं मिला। भविष्य में हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं को शासन, ज्ञान-विज्ञान तथा शिक्षा के क्षेत्रों में जितना शीघ्र और अधिक अवसर दिया जायगा उतनी ही तीव्र गति से ये भाषाएँ अपना स्वरूप स्थिर कर सकेंगी। इन क्षेत्रों के लिए भारतीय भाषाओं के प्रति सच्चे अनुराग और विश्वास की आवश्यकता है जो भारतीय भाषाओं की शिक्षा के अभाव के कारण हम अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों में साधारणतया पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता।

यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा को सम्पन्न करने का कोई राज-मार्ग नहीं है। जिस क्षेत्र के लिए उसे सम्पन्न करना है उस क्षेत्र में उसका निरन्तर प्रयोग करना ही उसका एक-मात्र साधन है। फलस्वरूप हम अंग्रेजी का सहारा शासन तथा शिक्षा के क्षेत्रों में जितने दिन अधिक लेते रहेंगे उतना ही अधिक समय हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के पुष्ट होने में लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाएँ सम्पन्न हो जायँ तब अंग्रेज़ी हटाई जाय—यह तर्क वैज्ञानिक नहीं है। हमें हिन्दी का प्रयोग उन क्षेत्रों में तेजी से बढ़ाना होगा और स्तर गिरने की आशंका रहते हुए भी अंग्रेज़ी को अधिकाधिक स्थान-च्युत करना होगा। शासन तथा शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हिन्दी का शीघ्र और समुचित विकास इसी प्रकार हो सकेगा।

तीसरी बात जो समझने की है वह यह है कि भाषाएँ शब्दों के कृत्रिम ढंग से गढ़ने के द्वारा सम्पन्न नहीं की जा सकतीं। इधर कुछ वर्षों से हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का कार्य अनेक संस्थाओं के द्वारा किया जा रहा है। ऐसा समझा जाता है कि क्योंकि हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान की शब्दावली की कमी है, अतः पहले बैठकर शब्द गढ़ लिए जायँ और तब इन विषयों के साहित्य का निर्माण किया जाय। वास्तव में ठीक शब्द की कसौटी उसके सफल प्रयोग में होती है और भाव को प्रकट करने के प्रयत्न में ही ठीक शब्द सूझ पड़ता है। अतः साहित्य-निर्माण के फलस्वरूप शब्द-निर्माण होता है; शब्द-निर्माण के उपरान्त साहित्य-निर्माण नहीं होता। पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के बाद हमें एक बार फिर ज्ञान-विज्ञान के साहित्य-निर्माण के समय इन शब्दों की परीक्षा करनी पड़ेगी और इन कृत्रिम कोषों के शब्दों को बदलना पड़ेगा अथवा इनमें आमूल परिवर्तन करने होंगे। शब्दों का स्तर हमारे लेखकों और विद्वानों तथा पाठकों और विद्यार्थियों के अनुरूप ही हो सकता है। परिवर्तन-काल में इन पारिभाषिक शब्दों तथा उपयोगी साहित्य के सम्बन्ध में एक नीति बरतनी पड़ेगी तथा उसके उपरान्त कदाचित् नीति में परिवर्तन करना पड़ेगा। अतः पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में सम्भावना यह है कि इसमें दो बार परिवर्तन होगा। वर्तमान समय में अंग्रेज़ी शब्दावली का सहारा हमें अधिक लेना होगा, किन्तु नई पीढ़ियों के साथ यह प्रभाव कम होता जायगा। जैसे-जैसे हमारी शिक्षा का वातावरण सच्चे अर्थ में भारतीय बनता जायगा वैसे-वैसे हमारी भाषाओं के वातावरण में भी भारतीयता बढ़ती जायगी। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को स्वाभाविक स्थिति तक पहुँचाने में हमें कम-से-कम ५० से १०० वर्ष तक लग सकते हैं। लेकिन इस बीच हमें काम तो चलाना ही है और अपनी भाषाओं को आगे भी बढ़ाना है। भाषा का प्रवाह एक दिन को भी रोका नहीं जा सकता।

अतः संक्षेप में हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में सम्भावनाओं का वैज्ञानिक निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है, (१) हिन्दी भाषा का भावी शैली में कोई आमूल कृत्रिम परिवर्तन सम्भव नहीं है। इस प्रकार के प्रयास शैली को पथ-भ्रष्ट ही करेंगे, उसकी वास्तविक सहायता नहीं कर सकते। (२) हिन्दी के भावी रूप का निर्माण उसके भिन्न क्षेत्रों में अधिकाधिक प्रयोग पर निर्भर है। इन प्रयोगों के अवसरों को हम जितना अधिक बढ़ायँगे उतनी ही शीघ्रता से हिन्दी भाषा और साहित्य के अधिक पुष्ट होने की सम्भावना है। (३) हिन्दी के भावी रूप का निर्माण हिन्दी में ललित साहित्य तथा ज्ञान-विज्ञान के विषयों का लेखक करेगा— न प्रचारक कर सकते हैं, और न कोष-निर्माता। अतः जैसे-जैसे साहित्य के सृजन और उपयोग के लिए हम अधिक अवसर देंगे और इसके लिए साधन जुटा सकेंगे वैसे-ही-वैसे यह कार्य सुकर होता जायगा।

हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में मतभेद तथा तर्क-वितर्क चलते ही रहेंगे, किन्तु उसका स्थायी निर्माण एक-एक ईंट रखकर हिन्दी के भिन्न-भिन्न विषयों के लेखक चुपचाप कर रहे हैं। दीवारें कुछ उठ जाने पर सर्वसाधारण को भी दिखलाई पड़ने लगेगा कि भवन विशाल और भव्य बन रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

हिन्दी का भावी रूप

हिन्दी अर्थात् पछाहीं खड़ी बोली हिन्दी इस समय एक अनपेक्षित अवस्था में आ पहुँची है। सौ बरस पहले खड़ी बोली हिन्दी एक अनादृत और उपेक्षित भाषा थी। इसमें साहित्य-सर्जना उस समय केवल अर्धशताब्दी व्यापी ही थी, पर इसके पीछे, इसकी पटभूमिका या आधार-स्वरूप उत्तर भारत की विभिन्न प्रान्तिक बोलियों में लिखा हुआ साहित्य समग्र रूप से विद्यमान था। खड़ी बोली हिन्दी का मुसलमानी रूप उर्दू ही का, बोलबाला था······जिन प्रान्तों को लेकर आधुनिक 'हिन्दी-संसार' बना है, उनमें विद्यालयों में······अँग्रेजी सिखाने के लिए प्रतिष्ठित हाई स्कूलों में भी,·······छात्र लोग, क्या हिन्दू क्या मुसलमान, ज़्यादातर उर्दू ही सीखते थे। अब यह परिस्थिति बिलकुल बदल गई है। हिन्दी अर्थात् नागरी लिपि में लिखित शुद्ध संस्कृत-शैली की हिन्दी, कम-से-कम वैधानिक रूप में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य भारत, हिमाचल प्रदेश तथा आंशिक रूप से पूर्वी पंजाब की प्रान्तिक भाषा मानी गई और उपरन्तु हिन्दी को अखिल भारतीय सरकारी भाषा की मर्यादा भी मिली है। हिन्दी अपने घर पछाँहे के भूभाग में अब रानी बनी है, पड़ोस के कुछ प्रान्तों में भी इसका राज फैला है, बिहार, मध्य भारत, मध्य-प्रदेश, राजस्थान, उत्तराखण्ड, हिमाचल प्रदेश, पूर्वी पंजाब, इस स्थानों के निवासियों ने हिन्दी को शिक्षा, साहित्य तथा बाहरी जीवन की यथासम्भव एक-मात्र भाषा ही बना लिया है; और यों ये सब स्थान या प्रान्त एक विशाल 'हिन्दी-संसार' के अन्तर्मुक्त हो गए हैं। भीतर के एक छोटे वृत्त के चारों तरफ एक बृहत्तर वृत्त अब सुप्रतिष्ठित हो गया है। भीतरी और बाहरी इन दोनों वृत्तों के अलावा और दो बृहत्तर वृत्त आकर, अब हिन्दी के क्षेत्र को और भी व्यापक, और भी बृहत् बना दिया है। हिन्दी-संसार को घिरकर भारत का आर्यभाषी संसार भी है, जिसने और उसे घिरकर, तमाम आर्य संसार के बाहर, जो द्राविड़ निषाद किरात संसार है उसने भी, अब हिन्दी को भारतीय राष्ट्रभाषा के तौर पर मान लिया है। अब इन कारणों से हिन्दी की परिस्थिति विशेष रूप से व्यापक और साथ-ही-साथ जटिल हो गई है। इस व्यापकता और जटिलता के साथ हिन्दी के भावी रूप का एक गहरा सम्बन्ध है। हिन्दी आज चतुर्मुख रूप में दिखाई देती है। (१) जिनकी मातृभाषा या घरेलू भाषा खड़ी बोली हिन्दी ही है, ऐसे लोग संख्या में बहुत ही कम होंगे,·······उर्दू बोलने वालों को लेकर इनकी संख्या डेढ़ या दो करोड़ से अधिक नहीं होगी, पर पछाँही हिन्दी बोलियाँ जैसे ब्रज भाषा, कन्नौजी, बुन्देली, बाँगरू या जाटू और मेरठ रुहेलखण्ड और 'पूर्वी पंजाब' की ठेठ पछाँही हिन्दी ये खड़ी बोली से इतना निकट सम्बन्ध रखती हैं, कि इनके बोलने वालों को हम खड़ी बोली हिन्दी जिनकी मातृभाषा है उनमें गिन सकते हैं और इस हिसाब से लगभग पाँच करोड़ मनुष्यों को हम हिन्दी-संसार के पछाँही हिन्दी घराने बोल सकते हैं। इनके लिए हिन्दी का एक खास रूप है, ये हिन्दी को विरासत या पितृ-पितामहों से प्राप्त रिक्थ की तौर पर प्राप्त भाषा-सी बोलते हैं। (The well of Hindi undefited) इन ही की मौखिक भाषा में विद्यमान है, इनके मौखिक भाषा के आधार पर हिन्दी का व्याकरण और प्रयोग, शब्द और वाक्यरीति ये सब बने हैं। हिन्दी यदि केवल इनमें सीमित रहती, तो इसके भावी रूप पर विचार करने की कोई खास जरूरत नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती। (२) बाहरी वृत्ति के 'हिन्दी संसार' वाले, घर में राजस्थानी और मालवी बोलियाँ, पंजाबी, गढ़वाली, कुमाऊँनी तथा अन्य पहाड़ी बोलियाँ, कोसली बोलियाँ यानी अवधी, बघेली और छत्तीस-गढ़ी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि दूसरी भाषाएँ बोल लेते हैं। इनके बारे में इतनी दिक्कत खड़ी बोली हिन्दी के लिए नहीं है·······वे तो खड़ी बोली हिन्दी जैसी पछाँहें में चालू है उसे मान चुके हैं,······सीखकर उसके प्रयोग में इनकी ओर से जो भूलें भ्रान्ति, जो प्रादेशिकपन अनिवार्य होंगे, उनका असर कुछ-न-कुछ खड़ी बोली हिन्दी पर पड़ेगा ही। पर उससे हिन्दी पर कुछ आशंकाजनक खतरा नहीं पहुँचेगा, शुद्ध हिन्दी ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। पर परोक्ष भाव से इन प्रान्तिक बोलियों का प्रभाव कुछ न-कुछ हिन्दी पर पड़ेगा। जैसा इस युग के पूर्व हुआ भी है। अब राष्ट्रभाषा बनने के कारण हिन्दी, केवल हिन्दी-संसार में सीमित नहीं रहकर, दूसरी आर्य भाषाओं के बोलने वालों के, तथा द्रविड़ादि अनार्य भाषियों के भी प्रभाव में आने वाली है। आधुनिक जगत् की शिक्षा और संस्कृति में राष्ट्रनैतिक तथा अर्थनैतिक प्रगति में अंश ग्रहण कर, पृथिवी की अन्यतम श्रेष्ठ और संस्कृतिवाही भाषा बनने का दायित्व हिन्दी पर आज आ गया है। इसलिए हिन्दी का, न केवल शब्द-सम्भार बढ़ाना होगा······यह तो स्वीकृत हो गया है कि यथासम्भव संस्कृत से ही इसे शब्द-सम्भार लाना चाहिए, ताकि हिन्दी अखिल भारत की जनता द्वारा ग्रहण योग्य हो, उपरन्तु हिन्दी की वाक्य-रीति और भाव-प्रकाश-भंगी को और भी मार्जित, परिष्कृत और सुविचारानुसारी होना पड़ेगा। भावी काल की हिन्दी को, इन सब विषयों में, अब की हिन्दी से, कुछ-न-कुछ परिवर्तित होना ही होगा। बंगाली, असमिया लोग, उड़िया लोग, आन्ध्र, कंनडिग, तमिल, मलयाली, मराठे, गुजराती, नेपाली, ये सब मैथिल मगहिया, भोजपुरिया, गढ़वाली, कुमाऊँनी, पंजाबी, सिरमौरी, कुलूई, सिन्धी, काश्मीरी जैसे-वैसे हिन्दी सीखेंगे, हिन्दी बोलेंगे और हिन्दी में लिखेंगे। चाहे जितना ही सावधान होकर इनमें से श्रेष्ठ हिन्दी दाँ हिन्दी का प्रयोग करें। इनकी मातृभाषाओं की उच्चारण रीति और स्वर-भंगी, इनकी शब्दावली, इनकी वाक्य-रीति भावी, कालीन अखिल भारतीय हिन्दी में कुछ-न-कुछ आवेंगे। उच्चारण के सम्बन्ध में तो हम देखते हैं हमारे सामने दो पीढ़ियों में हिन्दी पर कितना संस्कृत, पंजाबी तथा राजस्थानी और गुजराती प्रभाव पड़ा है। शब्दों के आदि में अन्तःस्थ 'व-कार' का बहुशः प्रयोग 'च' के 'छ' या 'च्छ' उच्चारणों को छोड़कर 'क्ष' उच्चारण की प्रतिष्ठा, 'ण' के सम्बन्ध में सावधानता तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' के पुरानी हिन्दी उच्चारण यथाक्रम 'स' और 'ख' का त्याग और उनके स्थान उर्दू 'शीन' और अंग्रेजी Sh की-सी एक-मात्र ध्वनि का प्रयोग······हिन्दी में ये सब हाल की बात है। शब्दों के बीच में और अन्त में ह्रस्व अकार का लोप, हिन्दी की एक रीति है, पर द्राविड़ भाषियों को, महाराष्ट्रियों को, बंगला उड़िया असमिया बोलने वालों को यह रीति निहायत श्रुतिकटु लगती है, 'कमला, विमला, भारतीय' ऐसे शब्दों को, तीन या चार अक्षरों के शब्दों की तौर पर नहीं उच्चारण करे : जैसे 'क-म-ला, वि-म-ला, भा-र-ती-य' : कमला, विमला, भारतीय ऐसा उच्चारण किया जाता है। शुद्ध या ठेठ हिन्दी शब्द और रूपों में ऐसा करने में कोई बाधा या आपत्ति उठ नहीं सकती··· जैसा 'करता, चलता, विनती, धरती, उलटा, झगड़ा' आदि शब्दों में, इन ठेठ हिन्दी-शब्दों का उच्चारण ज्यों-का-त्यों चालू रहेगा, पर मेरे विचार में, निखिल भारत की सब भाषाओं में प्रयुक्त शुद्ध संस्कृत शब्दों में, ताकि हिन्दी का उच्चारण समग्र भारत के शिष्ट-समाज का अनु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोदित हो, संस्कृत के अनुसारी उच्चारण हिन्दी के भावी रूप में आ जायगा। इस समय हम सुन पाते हैं, पंजाब और हिन्दी-संसार के बाहर के लोग 'लोक-सभा' नहीं बोलते, ज्यादातर 'लोक-स-भा' ही बोलते हैं। 'अमला, जनता, परमात्मा' इत्यादि शब्दों के चालू उच्चारण द्वारा विभ्रान्त होकर हिन्दी के कुछ छात्र ऐसे शब्दों का हिज्जे या वर्ण-विन्यास यों लिख बैठते हैं··· 'अम्ला, जन्ता, प्रमात्मा'। यह सर्वथा अवांछनीय है। शब्दों के विषय में, भावी काल की हिन्दी-संस्कृतनिष्ठ रहते हुए भी पछाँहे की भाषा में आगत बहुतेरे अरबी और फारसी शब्दों को हिन्दी के टकसाली शब्दों की तौर पर रखेगी···इन्हें कुल्लमकुल भाषा से बहिष्कार करने की प्रवृत्ति जो आजकल कुछ लेखक या भाषा-सुधारकों की ओर से दिखाई देती है उसे थोड़ा-सा रोकना पड़ेगा। अंग्रेजी शब्द, स्वाधीन भारत की औद्योगिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के कारण, भावी हिन्दी में और भी अधिकतया गृहीत होंगे, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है, शब्दों के बारे में छूत-अछूत मानने वालों की राय चाहे न हो, चाहे जो हो। ऐसे द्रविड़, कोल और किरात शब्द भी कुछ आवेंगे।······तैलुगु, कन्नड़, तमिल, मालयाली, संथाली, खासी, मणि-पुरी, नेवारी, बोडो आदि भाषाओं से। हिन्दी का चालू व्याकरण कहाँ तक परिवर्तित होकर भविष्य की हिन्दी बनेगी, यह विचारणीय है। मेरे विचार में, दो प्रकार की हिन्दी का रू-ब-रू कायम हो जाना असम्भव बात नहीं है, एक शुद्ध व्याकरणानुसारी हिन्दी, जैसे अब चालू है, जो पछाँहे की और सम्भवता अब के हिन्दी-संसार की (Regional) या प्रान्तिक भाषा बनकर ठहरेगी, और दो······लघु हिन्दी, जिसमें से लिंग-भेद, क्रिया के कर्मणि प्रयोग और वचन और नाम-शब्दों के पर सर्गग्राही रूप आदि निकाल दिए जायँगे, ऐसी लघुशैली की हिन्दी, कम-से-कम 'मौखिक बोली' के रूप में, भारत की एक मामूली राष्ट्रभाषा के पद को प्राप्त करेगी। पर यह बात विवादग्रस्त है। लिपि के बारे में, मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमारे अपने सुभीते के लिए अन्त में हमें नागरी के साथ रोमन लिपि को भी भविष्य की राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए मान लेना पड़ेगा, पर समयाभाव-वशतः इस पर कुछ विचार करना अब सम्भव पर नहीं है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

हिन्दी का भावी रूप

हिन्दी के भावी रूप पर विचार करते समय इतिहास कल्पना की आँखों के सामने आगे बढ़ने लगता है। वर्तमान के गर्द-गुबार से भरे अपने संघर्षशील कदम मिलाती हुई देश की चेतना सामूहिक विकास के पथ पर अग्रसर होती हुई-सी प्रतीत होती है। पीछे की ओर देखने पर सदियों की पराधीनता एवं मध्ययुगीन ह्रास के विवाद से मुक्त होकर नवीन राष्ट्र का जीवन, कुहासों से निखरते हुए प्रभात की तरह, चुपचाप दृष्टि को आकर्षित कर लेता है और आज की जटिल परिस्थितियों एवं भयानक वास्तविकताओं का जगत् भविष्य की अनेक सुनहली सम्भावनाओं में खुलकर सहसा मन के सम्मुख उद्‌भासित हो उठता है।

राष्ट्रभाषा के निर्माण के लिए आज हमारे चारों ओर जहाँ प्रचुर प्रशस्त सामग्री बिखरी पड़ी है वहाँ उसके पथ में अनेक विघ्न-बाधाएँ भी खड़ी हैं। पहले मैं उन अभावों अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाधाओं की चर्चा करूँगा जिनसे आज हिन्दी को संघर्ष करके शक्ति-संचय करनी है। वे बाधाएँ एक प्रकार से बाधाएँ नहीं, किन्तु अपने देश की विगत ऐतिहासिक तथा वर्तमान सामाजिक एवं मानसिक स्थिति के कारण वे हमें, आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की उतावली में, संकट की स्थितियों-सी प्रतीत होती हैं। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर वे समस्त संकट एवं अभाव राष्ट्रभाषा को दैन्य-मुक्त करने के लिए खाद अथवा पोषक तत्त्वों की तरह काम में लाए जा सकते हैं।

सबसे मुख्य, अतः जानने योग्य बात जिसे बाधा भी कहा जा सकता है···हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं के सम्बन्ध में यह है कि उनमें संसार के पिछले दो-ढाई सौ वर्षों के जीवन के विराट् क्रिया-कलापों एवं विचार-धाराओं को नहीं के बराबर वाणी मिली है। और ये दोनों ढाई सौ वर्ष विश्व-सभ्यता के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुए हैं, जिनमें मानव-सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास बहुत आगे ही नहीं बढ़ गया है, उसमें अनेक मौलिक परिवर्तन तथा जीवन-मान्यताओं की दृष्टि से छोटी-बड़ी क्रान्तियाँ भी घटित हो चुकी हैं। यह लम्बा युग वैज्ञानिक तथा औद्योगिक युग के नाम से पुकारा जाता है। जिसका रंगमंच विशेषतः पश्चिम अथवा यूरोप में रहा है। समस्त एशिया तो तब हारे-थके साँड की तरह रोमन्थ अथवा पिष्टपेषण कर ही रहा था, हमारा देश भी तब दासता के बन्धनों में जकड़ा हुआ अपने महान् सांस्कृतिक ह्रास के अन्धकार में भटक रहा था और यहाँ जो जागरण की प्रेरणा आई वह एक विदेशी सभ्यता के सम्पर्क तथा विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा आई है। इस प्रकार दो-ढाई सदियों का विश्व जीवन एवं मानस-संचय हमारी भाषाओं में यदि थोड़े-बहुत अभावों में अभिव्यक्त हुआ भी है तो वह बासी-निवासी छाया के रूप में छनकर। जिसके कारण हम अपनी भाषाओं को अत्यन्त निर्धन तथा परिक्षीण पाते हैं। अपने इन सब सालों की सज-धज को लेकर भी वे आज पश्चिमी भाषाओं की तुलना में, कटाक्ष-कौशल-शून्य, भोली-भाली और सम्भवतः भौंडी, गाँव वालियों-सी प्रतीत होती हैं। यह ऐतिहासिक संयोग भाषा ही की दृष्टि से नहीं, भौतिक सांस्कृतिक दृष्टि से भी एक बड़े भारी हीन-भाव तथा कुण्ठा के रूप में हमारे मन में जम गया है और इन पराधीनता की सदियों में उसके मूल हमारे भीतर इतने गहरे बैठ गए हैं कि आज स्वाधीनता मिलने पर भी हम उन्हें उखाड़कर बाहर फेंकना तो दूर रहा····हिलाने में भी समर्थ नहीं हो सके हैं। अन्यथा अपने राष्ट्र-गौरव, स्वाभिमान एवं जन-ऐक्य की कल्पना के विरुद्ध हम एक विदेशी भाषाओं को अपनी राष्ट्रीय एकता का मिलन-तीर्थ बनाए रहते, यह किसी दृष्टि से भी सम्भव नहीं होना चाहिए था।

अतएव राष्ट्रभाषा के पथ में सबसे बड़ी बाधा, मेरी समझ में, हमारी हीन भावना है, जिसके कारण हम अपनी भाषाओं को नहीं अपना पा रहे हैं। अंग्रेजी को तुरन्त हटाने में जितनी भी बड़ी व्यावहारिक कठिनाई हमारे सामने हों, हिन्दी के लिए मनसा स्थान बनाने में आज उससे भी बड़ी कठिनाई हमें प्रतीत हो रही है और हमारी यह आत्म-पराजय तथा कुण्ठित अनिच्छा अनेक वितण्डावादों का प्रतारक रूप धारण कर रही है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि भाषा का सम्बन्ध केवल सम्पन्न अभिधान, शब्द-संग्रह अथवा अभिव्यक्ति की क्षमता से ही नहीं होता, उसका उससे भी कहीं गहरा सम्बन्ध हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं, हमारे जीवन-दर्शन तथा जातीय विकास के इतिहास से होता है और समुद्र पार से उधार ली हुई एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेशी भाषा को आकाश-लता की तरह उपरेक ओढ़ लेने से हम अपनी जन-संकुल एवं मानस-उर्वर-भूमि की मौलिक, प्राणप्रद तथा प्रेरणाप्रद समस्त शक्तियों का विकास रोके हुए हैं।

इस दैन्य तथा कुण्ठा से शीघ्र ही मुक्त होकर हमें अपने विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी को और भी महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिए और उच्च कक्षाओं में अंग्रेजी पढ़ाने के लिए अंग्रेज शिक्षकों को नियुक्त करना चाहिए, जिससे हमारे देश में अंग्रेजी का स्तर नीचे न गिरने पाए, और एक ऐसे बहुविधि-सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय माध्यम के समुचित उपयोग से हमें वंचित न रहना पड़े। वैज्ञानिक शब्दों को अंग्रेजी से ज्यों-का-त्यों हिन्दी में लेने के बदले उनका बहुत हद तक हिन्दीकरण करना अधिक संगत होगा और यह हिन्दीकरण विशेषतः ध्वनि-संगीत की दृष्टि से करना उचित होगा। क्योंकि हर पाँच-दस साल के बाद हजारों नये वैज्ञानिक शब्द पैदा होते रहेंगे और पुराने शब्द बासी पड़ जायँगे। इस प्रकार इतने विदेशी शब्दों को आत्मसात् करने का साहस करना किसी भी भाषा के लिए असम्भव एवं गाल फुलाना-मात्र होगा। इस समय पारिभाषिक शब्दों के हिन्दीकरण के सम्बन्ध में कुछ मौलिक लचीले नियमों को निर्धारित कर लेने के बाद हमारी समस्त साहित्यिक संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, राज्यों, तथा केन्द्रीय शासन को नवीन शब्दों को गढ़ने के प्रारम्भिक प्रयोग उत्साह तथा लगन के साथ करने चाहिएँ। पीछे उन शब्दों को भाषा-निर्माण की सृजनात्मक कसौटी में कसकर उनका समुचित रूप निश्चित किया जा सकेगा, एवं उनकी कृत्रिमता तथा अपरिपक्वता दूर हो सकेगी। शासन तथा शिक्षा-क्षेत्र में हिन्दी को अधिक-से-अधिक अवसर देकर उसका निर्माण करना हिन्दी-प्रान्तों का विशेष उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य है जिसके व्यावहारिक क्रिया-कलापों के क्षेत्र में भी हिन्दी की पैठ तथा प्रयोग हो सके। इन प्रयोगों का तात्कालिक अथवा प्रारम्भिक रूप जो भी हो... उसमें भले ही ५० प्रतिशत अंग्रेजी या इतर भाषाओं के शब्द क्यों न हों, इससे हमें विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि जब तक सभी क्षेत्रों में हिन्दी के लिए प्रयोग के द्वार नहीं खुल जायँगे वह शिल्प-विधान की दृष्टि से नहीं पनप पायगी और न विचारों की दृष्टि से ही लोक-मानस में प्रवेश कर घर कर सकेगी।

वैज्ञानिक युग का अभी समारम्भ-भर हुआ है। सच्ची वैज्ञानिक चेतना आज के अधकचरे बाहरी वैज्ञानिक प्रयोगों से अभी बहुत दूर है। हिन्दी को विदेशी भाषाओं के समकक्ष लाने के लिए समस्त वैज्ञानिक शब्दावली को आत्मसात् करना उसके लिए उतना आवश्यक नहीं जितना कि उसके लिए वैज्ञानिक चेतना के भावी विकास में सहायक होना है। आज तक की ऐतिहासिक शक्तियों के वितरण को देखते हुए यह विकास केवल पूर्व और पश्चिम के सामंजस्य से ही सम्भव हो सकता है। जिस महती भूमि पर आगे मानवता पदार्पण करने जा रही है यदि उस जीवन को हिन्दी वाणी दे सकी तो पिछली दो तीन सदियों की तर्क-बुद्धि की चमक तथा धर्मवैज्ञानिकता की तड़क-भड़क से वंचित होकर भी वह भविष्य में विश्व-भाषाओं के वृत्त में अपने को संकीर्ण परिधि अथवा केन्द्रशून्य नहीं पायगी। जिन भाषाओं की वीणा में भविष्य की मानवता के विकास के योग्य प्रेरणा-शक्ति तथा चैतन्य होगा वही भाषाएँ भविष्य की भाषाएँ होंगी और हमारी एक विश्व की कल्पना भी भाषाओं तथा संस्कृतियों के वैचित्र्य से विलीन नहीं रहेगी।

इस हीन भावना के दुर्लंध्य विघ्न को लाँघ जाने के बाद हिन्दी के सामने जो छोटी-मोटी उलझनें रह जाती हैं, उन्हें बाधाएँ नहीं कहा जा सकता। इनमें पहली उलझन है हमारी प्रादेशिक भाषाओं-सम्बन्धी, जिसे हम भाषा-साम्प्रदायिकता या प्रान्तीयता-सम्बन्धी अस्थायी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वग्रह भी कह सकते हैं। यह उलझन, अपनी राष्ट्रीय एकता की अनिवार्य आवश्यकता सामने रखते हुए, केवल हमारी मध्ययुगीन पार्थक्यवादिता अथवा पृथक् रहने की प्रवृत्ति ही कहलाई जा सकती है, जिसे मिटाने के लिए हमें समय, धैर्य, सद्भाव तथा पारस्परिक विश्वास की आवश्यकता है। जैसे-जैसे हमारे ह्रास-युग के संस्कार छूटते जायँगे और उनके स्थान पर राष्ट्रीय उत्तरदायित्व एवं सामूहिक संगठित शक्ति की भावना हमारे भीतर बढ़ती जायगी उपर्युक्त भेद-जनित पूर्वग्रह भी अपने-आप कोमल पड़कर विलीन होते जायँगे। आज की परिस्थिति में हम बाहर से प्रचार करके तथा ऊपर से हिन्दी को लादकर अपने देश के मध्यकालीन मानस-स्तर पर दबाव नहीं डाल सकते। बाह्य बल पर आश्रित हमारे सब प्रयत्न निष्फल होने के साथ ही हमारे प्रान्तीय पूर्वग्रहों को और भी कटु एवं कठोर बना देंगे। अतः भाषा-सम्बन्धी अन्तरप्रादेशिक समस्या का हल केवल परस्पर के सद्भाव, विश्वास, सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा राष्ट्रीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास पर ही निर्भर है। जिसके लिए हमें सृजनात्मक तथा निर्माणात्मक प्रयत्नों की आवश्यकता है जो हमारे पुरातन मानस के नवीन राष्ट्रीय इकाई में ढलने का इतिहास होगा, जो पुनः काल-अपेक्षित, धैर्य अपेक्षित और सर्वोपरि सत्प्रयत्न अपेक्षित है।

दूसरी छोटी-सी उलझन हिन्दी-उर्दू की है; जिसका क्षेत्र सीमित है और जो मुख्यतः उत्तर प्रदेश की समस्या है। जो हिन्दी उर्दू वालों के पूर्वग्रहों के कारण और भी उलझ गई है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने व्यक्तित्व की रक्षा करती हुई हिन्दी अधिक-से-अधिक उर्दू के शब्दों का ग्रहण कर सकेगी। उन दोनों के बोल-चाल के स्तर में तो समानता है ही, गद्य तथा पद्य बराबर साहित्य के स्तर पर भी दोनों का सम्मिश्रण न्यूनाधिक मात्रा में परस्पर होता जा रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से, पिछली समस्त संस्कृतियों का नवीन मानवता के धरातल पर आरोहण करना है, जो मध्ययुगीन हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के लिए भी लागू है। लिपि की दृष्टि से उत्तर प्रदेश में पत्र-कार्य के लिए प्रारम्भ में नागरी के साथ आवश्यकतानुसार उर्दू या अरबी लिपि का भी प्रयोग किया जा सकता है और इसी प्रकार केन्द्र में रोमन लिपि को भी स्थान दिया जा सकता है। छापे की सुविधा के अनुरूप तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं की ध्वनियों की दृष्टि से भी नागरी लिपि में थोड़े-बहुत परिवर्तन किये जा सकते हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी प्रादेशिक भाषाओं के लिंग, मुहावरों एवं वाक्य-विन्यास-सम्बन्धी विचित्रताओं का समावेश हिन्दी में किया जा सकता है। काल के प्रवाह में घुल-मिलकर आगे इनमें भाषा के नियमों के अनुसार स्वर-संगति बिठाई जा सकेगी। और 'लड़की जाता है' के स्थान पर लोग 'लड़की जाती है' कहना ही पसन्द करेंगे। तब क्रिया-पदों में रवीन्द्र की कोमलता एवं साहित्य का प्रभाव उनके कानों का नया अभ्यास बन जायगा और वह उनके लिए नवीन नन्दतिक उपलब्धि होगी।

अब मैं संक्षेप में उन उपकरणों तथा शक्तियों का भी दिग्दर्शन कराऊँगा जो हिन्दी के भावी प्रवाह में अनेक प्राणप्रद धाराओं की तरह सम्मिलित होकर उसमें गति, गाम्भीर्य, व्यापकता आदि भरेंगे। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि उत्तरा पथ की प्रायः सभी उन्नत भाषाएँ संस्कृत से शक्ति-संचय करती हैं और दक्षिण की भाषाओं में संस्कृत का प्रयोग यथेष्ट मात्रा में होता है। संस्कृत की पृष्ठभूमि हमारी सभी भाषाओं को मिलाने के लिए एक सबल संयोग तथा स्थायी साधन और सम्पत्ति है। उत्तर प्रदेशीय दृष्टि से हिन्दी में छाया-वैचित्र्य करने के लिए हिन्दी की जनपदीय बोलियों से सहायता लेना भले ही ठीक हो किन्तु अन्तरप्रादेशिक दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग ही साम्य तथा व्यापकता लाने में इस समय सहायक होगा। और पचास, सौ या दो सौ साल के बाद जब चयन तथा संस्कार का युग आयगा तब भाषा विज्ञान, सारल्य, ध्वनि-संगीत आदि सभी दृष्टियों से भाषा को नवीन अभ्यासों एवं अभिरुचियों के अनुरूप सुधारा-सँवारा जा सकेगा। तब तक अन्य प्रान्तों की प्रतिभाएँ भी हिन्दी के माध्यम से सृजन करके उसे प्रादेशिक संस्कारों के रुधिर से उर्वर तथा सम्पन्न बनाने में सफल हो सकेंगी। आज के हिन्दी-अहिन्दी प्रान्तों की रुचियाँ युगवत् बदलकर एवं अधिकाधिक सार्वदेशिक होकर तब एक-दूसरे के सन्निकट आ जायँगी। वह चयन का युग नवीन प्रेरणाओं एवं नंदतिक बोधों से चालित होने के कारण राष्ट्रभाषा के वास्तविक रूप-निर्माण का युग होगा।

दूसरा शक्तिशाली प्रभाव जो हमारी भाषाओं में सामंजस्य स्थापित करके उनको राष्ट्रभाषा के रूप में समन्वित कर सकेगा वह है हमारे विभिन्न साहित्यों की सांस्कृतिक चेतना की एकता। हम अनेक भाषाओं के माध्यम से एक ही संस्कृति को वाणी दे रहे हैं, जिसका अर्थ है कि हमारे बीच किसी प्रकार का आन्तरिक व्यवधान नहीं है। शिल्प, रूप-विधान तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से भी हमारे प्रेरणा के स्रोत एक ही हैं। अतः आपने राष्ट्रीय अस्तित्व की चरितार्थता एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व के हेतु हमारे लिए अपनी अनेक सम्पन्न भाषाओं के साथ हिन्दी को एक सार्वजनिक भाषा के रूप में ग्रहण करना कठिन नहीं होगा। हिन्दी के भावी रूप को गढ़ना वास्तव में देश के बच्चों की भावी पीढ़ी को गढ़ना है, जिनकी कोई भाषा नहीं होती।

वर्तमान परिस्थितियों में राष्ट्रभाषा का बलपूर्वक प्रचार करने के बदले हमें सत्संकल्पपूर्वक हिन्दी का निर्माण तथा संस्कार करना चाहिए। हमें सार्वभौम भाषा का संगठन करने के बदले सार्वभौम मानस का संगठन करना चाहिए। हमें अपने सांस्कृतिक संचय को साहित्यिक आदान-प्रदान द्वारा नये युग के अनुरूप ढालना चाहिए। अपने देश के विभिन्न वैयक्तिक, प्रादेशिक, नैतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक मतों वादों में व्यापक सामंजस्य स्थापित करके उन्हें एक-दूसरे का विरोधी न बनाकर पूरक बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। राष्ट्रीय एकता की धारणा, अत्यन्त जटिल, सूक्ष्म तथा विविधता के वैचित्र्य से भरी-पूरी धारणा है। उसे यान्त्रिक न बनाकर हमें अधिक-से-अधिक व्यापक, नयनीय तथा स्वर-संगीतपूर्ण बनाने की आवश्यकता है। क्योंकि राष्ट्र-भाषा राष्ट्र-मानस भी है, जिसके लिए राष्ट्र जीवन का अन्तःसंगठन ही दूसर पर्याय है।

हमें एक राष्ट्रभाषा अवश्य चाहिए। वह हमारे सांस्कृतिक, सामाजिक तथा भौतिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। एक भाषा··जिसमें करोड़ों कण्ठ धरती और आसमान कह सकें, असंख्य आँखें जिसके दर्पण में फूल का मुख, चाँदनी की स्वच्छता तथा ऊषाओं, सन्ध्याओं का सौन्दर्य पहचान सकें, सहस्रों हृदय जिसकी झंकारों से गीतों-छन्दों में मुखरित हो उठें और अनेकों मानस जिसका गम्भीर आह्वान तथा जाग्रत जीवन-सन्देश सुनकर आलोकित हो उठें।

हिन्दी का भावी रूप···वह केवल शब्द-शिल्प का ढेर, सुन्दर वाक्य-योजना तथा व्याकरण का सुगठित विधान ही नहीं है। वह हमारे राष्ट्रीय जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति, हमारी मानसिकता का विकसित व्यापक संतुलन, वर्तमान प्रान्तीय वर्गीय अभ्यासों तथा अभिरुचियों से ऊपर हमारी सामाजिक सामूहिक चेतना का मानवीय एकीकरण एवं संयोजन है। क्योंकि भाषा के साथ फूल-पत्तों, चाँद-सितारों के साथ ही हमारी परम्परागत मूल मर्यादाएँ, विकासशील चेतना की संभावनाएँ तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी बदलता हुआ जीवन का ऐतिहासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टिकोण भी जुड़ा हुआ है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकृत कर चुकने के बाद उसे अपनाने एव उसका निर्माण करने के लिए हमें किसी प्रकार के आमूल परिवर्तन की आवश्यकता नहीं, केवल वर्तमान परिवेश में एक व्यापक सामंजस्य, एक बृहत्तर संयोजन पर स्थापित करने की आवश्यकता है।

आज की जटिल परिस्थितियों से निखरते हुए हमारे राष्ट्रीय जीवन-चेतना के साथ आज के मानसिक ऊहापोहों में उलझा हुआ हमारी राष्ट्रभाषा का भावी रूप भी अपने सम्पूर्ण अन्तर-चैतन्य तथा सर्वांगीण बाह्य वैभव के साथ प्रस्फुटित तथा विकसित हो सके…हमारे मानवीय विकास के लिए यह सामाजिक कामना आज की आवश्यकता की एक अनिवार्य कड़ी है।[1]

---

1. आकाश वाणी प्रयाग के सौजन्य से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशीलन

९

डॉ० रामकुमार वर्मा

दृश्य-काव्य में हास्य-तत्त्व

प्राचीन दृश्य-काव्य में हास्य का विधान दो रूपों में किया जाता था। एक तो विदूषक की उक्तियों में और दूसरे प्रहसन की परिस्थितियों में। इस प्रकार पात्रों की वार्ता और परिस्थितियाँ दोनों ही हास्य की अवतारणा करती थीं। नाटक में विदूषक नायक का सहचर था। जिन नाटकों में श्रृङ्गार रस प्रधान होता था उनमें विदूषक आवश्यक हो जाता था, क्योंकि आचार्य भरत ने 'श्रृङ्गाराद्धि भवेद्धाम्यः' सूत्र में हास्य की उत्पत्ति श्रृङ्गार से ही मानी थी। धीरोदात्त नायक जब-जब प्रेम के झंझावात में तिनके की तरह अव्यवस्थित होता था तब-तब उसका मनोरंजन करने के लिए अथवा आशा देने के लिए विदूषक अपने हास्य का प्रयोग करता था। किन्तु हास्य केवल श्रृङ्गार से ही प्रेरणा नहीं पाता, जीवन की अनेक परिस्थितियों से बल ग्रहण करता है। अभिनव गुप्त ने हास्य का मूल अनौचित्य प्रवृत्ति में माना है। अनौचित्य प्रवृत्ति प्रत्येक रस के उद्दीपन या आलम्बन में हो सकती है अतः प्रत्येक रस में हास्य की सम्भावनाएँ हो सकती हैं। आज जब जीवन का मूल्यांकन रस-दृष्टि से न होकर केवल मनोविज्ञान के सिद्धान्त से हो रहा है तब तो हास्य का बीज पत्थर पर भी अंकुरित हो सकता है और यह बीज इतना विचित्र है कि इसमें अनेक रंगों के फूल एक साथ ही प्रस्फुटित हो सकते हैं।

आचार्य भरत ने हास्य के दो विभाग किये हैं, आत्मस्थ और परस्थ। जब पात्र स्वयं हँसता है तो आत्मस्थ है जब दूसरे को हँसाता है तो परस्थ है। पंडितराज जगन्नाथ ने इसका विवेचन दूसरे ढंग से किया। हास्य के विभाव को देखने से जो हास्य उत्पन्न होता है, वह आत्मस्थ है और किसी अन्य को हँसता हुआ देखकर जो हास्य उत्पन्न होता है वह परस्थ है।

वस्तुतः अपने प्रभाव की दृष्टि से हास्य तीन प्रकार का माना गया, उत्तम, मध्यम और अधम। इन तीन प्रकारों में प्रत्येक के दो भेद हैं। उत्तम के भेद हैं स्मित और हसित, मध्यम के भेद हैं विहसित और उपहसित तथा अधम प्रकार के भेद हैं अपहसित और अतिहसित। ये प्रत्येक भेद आत्मस्थ और परस्थ हो सकते हैं। इस प्रकार निम्न प्रकार से हँसने की क्रिया बारह तरह से हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हास्य	उत्तम	स्मित	आत्मस्थ	—१
			परस्थ	—२
		हसित	आत्मस्थ	—३
			परस्थ	—४
	मध्यम	विहसित	आत्मस्थ	—५
			परस्थ	—६
		उपहसित	आत्मस्थ	—७
			परस्थ	—८
	अधम	अपहसित	आत्मस्थ	—९
			परस्थ	—१०
		अतिहसित	आत्मस्थ	—११
			परस्थ	—१२

हास्य के जो छः विशिष्ट प्रकार हैं, उनकी विशेषता निम्नलिखित है—

(१) स्मित—शब्द रहित, मन्द मुस्कान

(२) हसित—मुस्कान के साथ दन्त-दर्शन

(३) विहसित—दन्त-दर्शन के साथ मधुर शब्द

(स्त्रियों के कण्ठ से 'ई' स्वर)

(पुरुषों के कण्ठ से 'आ' 'ऊ' या 'ओ' स्वर)

(४) उपहसित—मधुर शब्द के साथ शरीर-संचालन

(५) अपहसित—शरीर-संचालन के साथ हर्षाश्रु

(६) अतिहसित—हर्षाश्रु के साथ ताली और अट्टहास

हास्य के ये प्रकार हँसने के मनोभावों के विकास के आधार पर ही हैं। इस विकास में अनुभावों की रूपरेखा भी दृष्टि में रखी गई है। किन्तु जब हास्य के मोड़ में विनोद-मात्र न होकर कोई छल हो, प्रकट हो गई वस्तु को छिपाने का भाव हो अथवा ध्वनि-विकार से या श्लेष से अभिप्राय का रूपान्तर हो तो वह 'हास्य' रहते हुए भी एक नवीन कोटि की सृष्टि करेगा। हास्य के इस रूपान्तर को हमारे यहाँ के आचार्यों ने 'रस' के अन्तर्गत रखकर अलंकार के अन्तर्गत रखा है। यही कारण है कि हमारे अलंकार-ग्रन्थों में हास्य की इस कोटि को व्याजोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा और वक्रोक्ति आदि अलंकारों द्वारा व्यक्त किया गया है।

आचार्य मम्मट ने इन अलंकारों के लक्षण निम्न प्रकार से दिए हैं—

व्याजोक्ति— 'व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्न वस्तु रूप निगूहनम् ॥१०॥११८।

(प्रकट हुई वस्तु को छल से गोपन किया जाय।)

अप्रस्तुत प्रशंसा—अप्रस्तुत प्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥१०॥९८।

(प्रस्तुत के आश्रय से अप्रस्तुत का वर्णन)

वक्रोक्ति— यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्लेषेणवाक्या वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तया द्विधा ॥६॥७८।

(एक प्रकार से कहा हुआ वाक्य श्लेष अथवा ध्वनि-विकार से दूसरे प्रकार के अभिप्राय से जोड़ दिया जाय)

शब्द-शक्तियों में लक्षण और व्यंजना भी लक्ष्य या व्यंग्य (ध्वनि) से हास्य की उत्पत्ति कर सकती हैं।

पाश्चात्य साहित्य में हास्य (Humour) ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर अनेक रूप धारण किये हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं:—

(१) Satire (विकृति)—आक्रमण करने की दृष्टि से वस्तुस्थिति को विकृत करके उससे हास्य उत्पन्न करना।

(२) Caricature (विरूप अतिरंजना) किसी भी ज्ञात वस्तु या परिस्थिति को अनुपात-रहित बढ़ाकर या गिराकर हास्य उत्पन्न करना।

(३) Parody (परिहास) उदात्त मनोभाव को अनुदात्त संदर्भ से जोड़कर हास्य उत्पन्न करना।

(४) Irony (व्यंग्य) किसी वाक्य को कहकर उसका दूसरा ही अर्थ निकालना।

(५) Wit (वचन-वैदग्ध्य) विचारों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग। फ्रायड ने इसे दो प्रकार का माना है। सहज चमत्कार (Harmless wit), और प्रवृत्ति चमत्कार (Tendency wit)। सहज चमत्कार में केवल विनोद-मात्र रहता है किन्तु प्रवृत्ति चमत्कार में ऐन्द्रयिक या प्रतिकारात्मक भावना रही है।

मैंने पिछले पच्चीस वर्षों में एकांकी-नाटकों के क्षेत्र में जो प्रयोग किये हैं वे पश्चिम की प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर भी भारतीय नाट्य-शास्त्र के क्रोड़ में पोषित हुए हैं। सम्भवतः इसीलिए मेरे नाटकों में यथार्थवाद से उद्भूत एक नैतिक आदर्शवाद है और परिस्थितियों के विचित्र संघर्षों में रस की स्थिति में मेरा विश्वास है। यह रूप मैंने रूढ़िवाद के शिकंजे से मुक्त होकर ही करने का प्रयत्न किया है नहीं तो नवीन प्रयोगों के लिए मुझे कोई क्षेत्र ही न मिलता। इन प्रयोगों को ध्यान में रखकर हास्य के विभावों को मनोविज्ञान में स्थापित करके मैंने हास्य के पाँच भेद किये हैं जिनमें प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—

हास्य—
- सहज { विनोद, अट्टहास }
- दृष्टि-विकार { अतिरंजना, विद्रूप }
- भाव-विकार { परिहास, उपहास }
- ध्वनि-विकार { व्याजोक्ति, वक्रोक्ति }
- बुद्धि-विकार { व्यंग्य, विकृति }

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस भांति हास्य सहज विनोद से चलकर क्रमशः दृष्टि, भाव, ध्वनि और बुद्धि में नाना रूप ग्रहण करता हुआ विकृति में समाप्त होता है और अपनी यात्रा में मनोविज्ञान की सभी स्थितियों से गुज़र जाता है। सहज भाव में जब परिस्थितियों की प्रतिक्रिया होने लगती है तभी विकार आरम्भ हो जाता है। सबसे पहले यह विकार दृष्टि में आता है फिर वह भाव में परिणत होता है। भाव ध्वनि में प्रकट होता है और ध्वनि की प्रतिक्रिया में बुद्धि-विकार होता है। इस भाँति यदि मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो बुद्धि-विकार दो प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होता है और ये प्रतिक्रियाएँ हैं दृष्टि तथा ध्वनि की। इसलिए हास्य के अन्तर्गत व्यंग्य और विकृति की रचना गहरी दृष्टि और विस्तृत अनुभव की अपेक्षा रखती है।

सहज के दो रूप हैं विनोद और अट्टहास। इन दोनों में केवल हास्य की निरीह और निर्दोष भावनाएँ हैं जो हृदय को चिन्ता से मुक्त करके प्रसन्नता का वरदान देती हैं। विनोद तो एक बुलबुले की भाँति भाव-लहरों पर तैरकर फूट पड़ता है और अट्टहास बढ़ती हुई लहर की भाँति जीवन के दोनों तटों को अपनी बाहु में समेट लेना चाहता है, अतः इन दोनों का चित्र मेरी कल्पना में क्रमशः एक बिन्दु (O) और एक वर्तुलाकार रेखा (V) की भाँति है। दृष्टि-विकार दो प्रकार से होता है—एक अतिरंजना में वस्तु या परिस्थिति को अनुपातरहित घटा-बढ़ा देने में जैसे कोई कार्टून बनाने वाला छोटे शरीर पर बड़ा सिर बना दे या छोटे सिर में बड़े पैर जोड़ दे और दूसरे विद्रूप में (अर्थात् परिस्थितियों को उलट देने में जैसे उलटवासियों में हास्य के दर्शन होते हैं। अतिरंजना और विद्रूप वस्तुस्थिति की सभी दशाओं में हो सकता है इस भाँति इनका रूप मेरी कल्पना में चतुर्भुजी है। एक सीधा (▱) दूसरा उलटा (▱)।

भाव-विकार दो रूप में होता है एक परिहास में जिसमें उदात्त मनोभाव को अनुदात्त संदर्भ में जोड़ दिया जाता है और उपहास जिसमें उदात्त मनोभाव ही अनुदात्त हो जाता है। इस भाँति उपहास परिहास का ही विकसित रूप है। मेरी कल्पना में परिहास त्रिभुज है (△) और उपहास त्रिभुज की नीचे की ओर बढ़ी हुई रेखाएँ A हैं। ध्वनि-विकार व्याजोक्ति और वक्रोक्ति के रूप में प्रकट होता है। व्याजोक्ति में प्रकट को गुप्त कर देने का वाणी-चातुर्य है और वक्रोक्ति में संदर्भ ही बदल देने की मनोवृत्ति है, जो ध्वनि-विकार से भी संभव है। व्याजोक्ति रूप वाणी के चतुर्दिक् चातुर्य से वर्गाकार (▱) है, जो वक्रोक्ति में वक्र रेखाओं से (▱) निर्मित होता है।

बुद्धि-विकार व्यंग्य और विकृति से व्यक्त होता है। व्यंग्य बड़ा तीखा है। वह कहता एक बात है और मतलब दूसरी बात का हो जाता है। यह बहुरूपिया है, अमृत में विष डालना या फूल में कीट बनकर पहुँचना इसीका काम है। विष में बुझे हुए बाणों की नोक की भाँति यह तीखा है। मेरी कल्पना में इसका चित्र बाण के मुख की भाँति है। विकृति तो व्यंग्य और विद्रूप से संभव होकर वस्तु की चारुता को विचित्र तरह से मोड़ देती है। इसका रूप बाणों की उलटी और सीधी नोकों के अन्तर्व्याप्त होने में है। यही शब्दों के तीखेपन का कारण होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० माताप्रसाद गुप्त

'कान्हड़ दे प्रबन्ध' और उसका पाठ

राजस्थान राज्य द्वारा संस्थापित राजस्थान-पुरातत्त्व-मन्दिर, जयपुर ने अपनी स्थापना के गत कुछ ही वर्षों में साहित्य की अच्छी सेवा की है। उसने पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजय जी के प्रधान सम्पादकत्व में एक दर्जन से अधिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादित संस्करण प्रकाशित किये हैं। इन्हीं में से एक ग्रन्थांक ११, कवि पद्मनाभ-विरचित 'कान्हड दे प्रबन्ध' है, जिसका सम्पादन प्रसिद्ध गुजराती विद्वान् और लेखक कान्तिलाल बलदेव राम व्यास, एम० ए० ने किया है। इसका प्रकाशन १९५३ के अन्त में हुआ है। अभी ग्रन्थ का पहला भाग ही निकल पाया है, जिसमें प्रधान सम्पादक मुनि जिनविनय जी का प्रास्ताविक वक्तव्य, सम्पादक प्रो० कान्तिलाल बलदेवराम व्यास द्वारा लिखित भूमिका, ग्रन्थ का निर्धारित पाठ, जिसके साथ पाद-टिप्पणियों में विभिन्न प्रतियों के पाठान्तर हैं, और तीन परिशिष्टों के रूप में क्रमशः (१) विभिन्न प्रतियों में समान रूप से भूल के कारण छूटे हुए पद या पदांश, और समान रूप से पाए जाने वाले पाठों का सार, (२) पाठ-भेद के स्थलों पर गृहीत पाठों के विषय में आलोचनात्मक उल्लेख, (३) अकारादि क्रम से ग्रन्थ की छन्द-सूची है। दूसरे भाग में विद्वान् सम्पादक के अनुसार, "कृति की ऐतिहासिक और भाषा-सम्बन्धी पृष्ठभूमि, कृति का अनुवाद, जो कदाचित् अंग्रेजी में ही होगा, जैसा उसका समस्त आयोजन है, उसमें प्रयुक्त शब्दों की एक पूर्ण सूची ('इण्डेक्स') और यदि संभव हुआ, विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक विवरण होंगे।" अतः यह सम्पूर्ण योजना कितनी सुव्यवस्थित और पूर्ण होगी इसका अनुमान सहज में किया जा सकता है। जितना परिश्रम विद्वान् सम्पादक ने इस कृति पर किया है, और करने का आश्वासन दिया है। वह अत्यन्त सराहनीय है और राजस्थान-पुरातत्त्व-मन्दिर भी इस प्रकाशन के लिए समस्त राजस्थानी साहित्य-प्रेमियों के द्वारा प्रशंसा का पात्र है।

मूल ग्रन्थ स्वतः भी अनेक दृष्टियों से असाधारण महत्त्व का है। यद्यपि जिस छन्द में उसकी रचना-तिथि दी हुई है, उसके दो परस्पर भिन्न पाठ इस प्रकार हैं—

(१) पचतालीसठ पूठि बरीस, मास मागसिर पूनिम दीस।
संवत पंनर बारोतरउ, तिणि दिनि सोमवार विस्तरु ॥४.३४३॥

(२) संवत पनर बारोतर सार, माह मास पुंन्यम सोमवार।
जाल्हुर गढ घण उलट धरी, गायु कान्ह विशेषि करी ॥४·३४३॥

किन्तु दोनों में रचना-संवत् १५१२ ही आता है और ग्रन्थ की एक प्रति, जिसको सम्पादक ने सबसे अधिक मान्यता भी दी है, "सं० १५६८ आषाढ़ादि वर्षे कात्ती वदी ६ गुरुवार" की लिखी हुई है, इसलिए यह बहुत-कुछ निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि ग्रन्थ की रचना सं० १५१२ में हुई होगी। राजस्थानी ही नहीं हिन्दी के भी प्रारम्भिक युग के ग्रन्थों में कदाचित् ही कोई ऐसा माना जा सकता है जिसकी रचना-तिथि इतनी निश्चित हो। इसी प्रकार, इसकी विभिन्न प्रतियों में पाठ-विषयक समानता इतनी अधिक है कि उक्त युग के अन्य किसी ग्रन्थ के सम्बन्ध में कम ही मिलेगी, जिससे यह मानना पड़ता है कि ग्रन्थ का पाठ भी अपने मूल रूप में प्रायः सुरक्षित है और अपने युग की भाषा के अध्ययन के लिए एक दृढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार प्रस्तुत करता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का महत्त्व कम नहीं है। ग्रन्थकार उसी राज-वंश से सम्बन्धित था जिसको ग्रन्थ के कथानायक ने पवित्र किया था और इस बात की संभावना यथेष्ट है कि उसको कथा की समस्त सामग्री उस राज-वंश के लिखित और अलिखित इतिहासों से प्राप्त हुई हो। इसलिए उस युग के इतिहास के अध्येता के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त मूल्यवान होगा।

कविता की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उपेक्षणीय नहीं है। यद्यपि अलंकृत-शैली अथवा अभिव्यक्ति-चमत्कार का ग्रन्थ में प्रायः अभाव मिलेगा, किन्तु आदर्शों के लिए जीवनोत्सर्ग-काव्य के रूप में इसका स्थान साहित्य के इतिहास में अवश्य ही सुरक्षित रहेगा।

कथा अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार है :

मारवाड़ देश में स्थित जालौर नगर का शासक कान्हड़ दे था, जो कि सोनगिरा चौहान वंश का था। उसका कनिष्ठ भाई मालदेव तथा उसका पुत्र कुमार बीरम दे था। इसी समय गुर्जर का राजा सारंग दे था। उसने माधव नामक एक ब्राह्मण का अपमान किया, जिसके कारण ही विग्रह का प्रारम्भ हुआ। अपमान से क्षुब्ध होकर माधव ने प्रतिज्ञा की कि वह भोजन तभी करेगा जब वह गुजरात पर तुर्कों को ला उपस्थित करेगा। वह दिल्ली चला गया और सुलतान अलाउद्दीन से मिला। अलाउद्दीन से उसने सारी कथा बताई और इस बात के लिए उसे प्रेरित किया कि वह गुजरात पर आक्रमण कर दे। सुल्तान ने उसकी बात मान ली और आक्रमण की आज्ञा दे दी। किन्तु दिल्ली से गुजरात का मार्ग जालौर होकर था, इसलिए उसने कान्हड दे के पास दूत भेजा कि वह उसकी सेना को मार्ग दे दे। कान्हड दे ने सुलतान के इस अनुरोध को अस्वीकार कर दिया। इस पर सुल्तान की सेना ने मेवाड़ होकर गुजरात पर चढ़ाई की। मेवाड़ के रावल साहसी ने उसे मार्ग दे दिया। सुलतान की प्रचण्ड वाहिनी के सम्मुख गुर्जराधीश ठहर न सका और पाटण पर सुलतान की सेना का आधिपत्य हो गया। इसके अनन्तर सुलतान की सेना ने एक-एक करके गुजरात और सौराष्ट्र के सम्पूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया। सोमनाथ की रक्षा का यत्न राजपूतों ने बड़ी ही वीरता के साथ किया, किन्तु वे असमर्थ रहे और उन्होंने वीरता के साथ युद्ध करते हुए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया।

गुजरात और सौराष्ट्र की विजय के अनन्तर सुलतानी सेना मारवाड़ की ओर मुड़ी। किन्तु कान्हड दे की सेना उसका सामना करने के लिए प्रस्तुत थी और विषम युद्ध के अनन्तर सुलतानी सेना पराजित हुई। जालौर पर पुनः आक्रमण का आदेश हुआ। इस बार जालौर के समीपस्थ समीयाणे पर आक्रमण हुआ, जो कान्हड दे के भतीजे सांतलसिंह के अधिकार में था। कान्हड दे ने सांतलसिंह की सहायता की और सुलतानी सेना को पुनः पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

इन पराजयों से सुलतान को बड़ा क्षोभ हुआ। पहले के उपर्युक्त आक्रमणों में सैन्य-संचालन उसके सेनापतियों ने किया था। इस बार उसने स्वतः सैन्य-संचालन का भार लिया और आक्रमण कर दिया। समियाणे पर घेरा डाल दिया गया, किन्तु सात साल के घेरे के बाद भी समीयाणे पर उसका अधिकार नहीं हो सका। बल द्वारा गढ़ पर अधिकार होना असम्भव समझकर अलाउद्दीन ने एक घृणित उपाय का अवलम्बन किया। गढ़ की दीवालों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हटकर बना हुआ गढ़ के भीतर ही उसका जलाशय था, एक-मात्र जिसके जल पर ही समीयाणे की समस्त जनता का जीवन निर्भर करता था। अलाउद्दीन ने गाएँ कटवाकर और उन्हें बोरों में बँधवाकर रातों-रात गढ़ की दीवार पर से उस जलाशय में डलवा दिया। सवेरा होने पर जब समीयाणे के लोगों ने यह दुष्कृत्य देखा, तो उनके सम्मुख केवल दो विकल्प शेष रह गए थे या तो इस जल को ग्रहण करना अथवा जल के अभाव में अपना जीवन देना। उन्होंने दूसरे ही विकल्प को स्वीकार किया और वहाँ की समस्त वीराङ्गनाओं ने जौहर किया। इस समाचार को सुनकर अलाउद्दीन ने सांतल के पास सन्देश भेजा कि वह उसका आधिपत्य-मात्र स्वीकार कर ले तो घेरा उठा लिया जायगा, किन्तु सांतल ने यह अस्वीकार कर दिया। तदनन्तर सम्पूर्ण राजपूत सेना ने खुलकर सुलतानी सेना से एक साथ युद्ध किया और प्रत्येक वीर ने लड़ते-लड़ते अपने जीवन का बलिदान कर दिया।

समीयाणे पर आधिपत्य कर लेने के अनन्तर अलाउद्दीन ने कान्हड दे के पास सन्देश भेजा कि वह उसकी वश्यता स्वीकार कर ले। किन्तु कान्हड दे ने उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। अलाउद्दीन ने जालौर पर आक्रमण कर दिया। उसकी सेना का पड़ाव जालौर के समीप ही पड़ा। इस आक्रमण में सुल्तान के साथ उसकी कन्या कुमारी फीरोज़ा भी थी जो कान्हड दे के कुमार वीरमदे के गुणों की प्रशंसा सुनकर उस पर अनुरक्त हो चुकी थी। वीरमदे के साथ विवाह की उसकी इच्छा जानकर अलाउद्दीन ने विवाह-सम्बन्धी प्रस्ताव कान्हड दे के पास भेजा। किन्तु अपनी जाति-कुल की मर्यादा का ध्यानकर कान्हड दे ने अलाउद्दीन का यह प्रस्ताव भी अस्वीकार कर दिया। अलाउद्दीन ने आगे बढ़कर जालौर पर घेरा डाल दिया। इस बार भी सफलता न मिली और अलाउद्दीन के लौटने की तैयारी की। किन्तु राजकुमारी वीरमदेव के दर्शनों के लिए लालायित थी, इसलिए वह सेना की एक छोटी-सी टुकड़ी लेकर गढ़ के भीतर गई। कान्हड दे ने उसका स्वागत किया। वीरमदे भी उससे मिला। राजकुमारी ने स्वतः वीरमदेव से विवाह का प्रस्ताव किया, किन्तु वीरमदेव ने अपनी जाति-कुल की प्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुए इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इसके अनन्तर राजकुमारी ने जालौर देखने की इच्छा प्रकट की। कान्हड़ दे ने उसके लिए सम्पूर्ण सुविधाएँ कर दीं और तदनन्तर उसे प्रचुर भेंटों के साथ विदा किया। अलाउद्दीन लौट गया।

आठ वर्ष बाद अलाउद्दीन की सेना ने जालौर पर पुनः आक्रमण किया। इस बार राजकुमारी फ़ीरोज़ा ने अपनी धाय को सेना के साथ भेजा कि यदि वीरम युद्ध में बन्दी हो तो वह उसके पास जीवित लाया जाय और यदि युद्ध में धराशायी हो तब उसका सिर लाए। जालौर के चारों ओर घेरा डाल दिया गया। चार वर्षों तक मालदेव तथा वीरम दे के नेतृत्व में जालौर-निवासियों ने सुल्तानी सेना का मुक़ाबिला किया। जब राजकीय भाण्डार रिक्त हो गए, वहाँ के व्यवसायियों ने अपने समस्त भाण्डार स्वतः अपने देश के लिए अर्पित कर दिए। इस सामग्री से आठ और वर्षों तक शत्रु का सामना किया गया। इन बारह वर्षों के बीच जलाभाव का भी एक से अधिक बार भय हुआ, किन्तु ईश्वर की कृपा से वह पूर्ण होता गया। किन्तु इसी बीच एक सेजवाल वीकम से उसे प्रलोभन देने पर शत्रु को एक गुप्त मार्ग का ज्ञान हो गया और सेना-शत्रु उसी मार्ग से गढ़ के भीतर घुस आई। सेजवाल की स्त्री हीरादेवी को जब यह ज्ञात हुआ कि उसके पति ने यह विश्वास-घात किया है, उसने उसका वध कर डाला और शत्रुसेना के गढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भीतर आने की सूचना कान्हाड दे को दी। समस्त शत्रु-सेना धीरे-धीरे गढ़ के भीतर पहुँच गई। राजपूत सैनिकों की संख्या इन बारह वर्षों के घेरे के बाद थोड़ी ही रह गई थी। वश्यता स्वीकार करने अथवा प्राणों की आहुति देने के अतिरिक्त कोई विकल्प शेष नहीं था। राजपूत वीरों ने दूसरे ही विकल्प का वरण किया। कान्हड दे युद्ध करता हुआ मारा गया। साढ़े तीन दिनों तक वीरम दे ने युद्ध किया। इसी बीच रानियों ने जौहर किया। वीरम दे ने जब देखा कि युद्ध को अब और अधिक चलाने की सम्भावना नहीं है और वह पराजित होने पर बन्दी हो जायगा उसने अपने उदर में कटार भोंक ली और शत्रु-पक्ष के अनेक सामन्तों को मारकर उसने प्राण त्याग दिये। धाय उसका सिर लेकर दिल्ली आई और उसने उसको राजकुमारी फ़ीरोजा को भेंट किया। राजकुमारी उस सिर को लेकर यमुना-तट पर गई और उसका संस्कार किया। तदनन्तर वह यमुना में उस सिर को लेकर कूद पड़ी और इस प्रकार अपने प्रेम को प्रमाणित किया।

अपने साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों के सम्बन्ध में एक प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक रूप से उठ खड़ा होता है—वह है उनके आकार के सम्बन्ध का। अधिकाधिक पूर्णता लाने के लिए उनमें पाठ-वृद्धि प्रायः निरपवाद रूप से हुई है। इसलिए 'कान्हाड दे प्रबन्ध' के सम्बन्ध में भी यह जिज्ञासा होना ठीक ही है कि उसका मूल परिमाण क्या था और पाठ-वृद्धि उसमें कहाँ तक हुई है।

परिमाण के सम्बन्ध में एक बात महत्त्व की है, ग्रन्थकार ने स्वतः ग्रन्थ के अन्त में उसका उल्लेख किया है; सम्पादित रूप में उक्त उल्लेख इस प्रकार है :

सांभलतां सरीर उल्हसइ, चउपई बन्ध इसी इग्यारसइ।
च्यारिषंडजिस्यां नवनीत, दूहाचउपई मधुरां गीत ॥ ४.३४२ ॥

सम्पादक ने अंग्रेजी के ए से लेकर एल तक के वर्णों द्वारा निर्दिष्ट बारह प्रतियों का उल्लेख किया है, किन्तु इनमें से आई एक मुद्रित संस्करण है, जिसका सम्पादन वैज्ञानिक पद्धति से नहीं हुआ है। इसलिए उसका उपयोग नहीं किया गया है और जी तथा एच एक ही प्रति के दो अंश-मात्र हैं, इसलिए उपयोग वस्तुतः दस ही प्रतियों का किया गया है। इन दस में भी तीन प्रतियाँ ई, एफ तथा जी एच समाप्ति के पूर्व ही खण्डित हो जाती हैं, अतः केवल शेष सात प्रतियों में ही यह छन्द पाया जाता है। इन सात में ग्रन्थ के परिणाम-सूचक शब्द 'इग्यारसइ' की स्थिति यह है कि वह केवल के में पाया जाता है जे में छन्द की वह पंक्ति ही नहीं है जिसमें यह शब्द आता है, ए में, जो ग्रन्थ की सबसे प्राचीन प्रति है, और जिसे अन्यथा सम्पादक ने सबसे अधिक मान्यता दी है, पाठ है 'नुवसइं', इसी प्रकार सी में पाठ है 'नवसि' बी में पाठ है 'सातडस', इसी प्रकार डी में पाठ है 'सातसइ' और एल में पाठ है 'च्यारिसइ'। प्रश्न यह उठता है कि ग्यारह सै, नव सै, सात सै और चार सै में कौन सी संख्या मान्य हो सकती है और क्यों?

इन सात प्रतियों में प्रत्येक में अलग-अलग कुल छन्द-संख्या क्या है, यह सम्पादक ने नहीं लिखा है, किन्तु भूमिका में दी हुई सूचनाओं से ज्ञात होता है कि केवल तीन—ए, के, तथा एल में छन्द-संख्या सम्मिलित रूप में दी गई है, शेष प्रतियों में छन्द-संख्या खण्ड-क्रम से दी गई है। दिये हुए प्रतियों के अन्तिम पृष्ठों के चित्रों तथा सम्पादक द्वारा दी हुई सूचनाओं के आधार पर ए, के तथा एल में कुल छन्द-संख्या इस प्रकार ठहरती है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ए—प्रति के अन्तिम पृष्ठ का चित्र भूमिका में दिया हुआ है। उसके अनुसार ग्रन्थ की अन्तिम छन्द-संख्या १०१० है।

के—प्रति का अन्तिम पन्ना नहीं है, किन्तु उसके पूर्व वाले पृष्ठ के, जिसका चित्र भूमिका में दिया हुआ है, अन्तिम छन्द की संख्या १००६ है और निर्धारित पाठ में इस छन्द के बाद भी छन्द आते हैं, इसलिए प्रति का अन्तिम छन्द १०१६ रहा होगा।

एल—प्रति का अन्तिम पन्ना नहीं है, किन्तु उसके पूर्व वाले पृष्ठ के, जिसका चित्र भूमिका में दिया हुआ है, अन्तिम छन्द की संख्या ८४० है और निर्धारित पाठ में इस छन्द के बाद भी ११ छन्द आते हैं, इसलिए प्रति का अन्तिम छन्द ५१ होना चाहिए। किन्तु भूमिका (पृष्ठ २६) में विद्वान् संपादक ने लिखा है कि इस प्रति में कभी-कभी दो और कभी-कभी चार छन्दों तक को यथा एक छन्द गिना गया है। इसलिए प्रति पर लिखित यह छन्द-संख्या विश्वसनीय नहीं है। संपादित संस्करण तथा उसकी टिप्पणियाँ देखने पर ज्ञात होगा कि निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है[1], जिसके १३½ छन्दों के चरण इस प्रति में नहीं हैं और निर्धारित पाठ में इस प्रति के ४ छन्दों के चरण स्वीकार नहीं किये गए हैं, अतः प्रति की कुल छन्द-संख्या १०११ होनी चाहिए।

शेष चार प्रतियों की कुल छन्द-संख्या इस प्रकार होगी—

बी—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से १५ छन्दों के चरण प्रति में नहीं हैं और ऐसे ३½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इस प्रकार प्रति की कुल छन्द-संख्या १०१७ होनी चाहिए।

सी – निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से ९०½ छन्दों के चरण प्रति में नहीं है और ऐसे १५½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इस प्रकार प्रति की कुल छन्द-संख्या ९५३ होनी चाहिए।

डी—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से ३१ छन्दों के चरण प्रति में नहीं हैं, और ऐसे १½ छन्दों के चरण प्रति में और है जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इसलिए प्रति की कुल छन्द-संख्या ९९९ होनी चाहिए।

जे—निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ है। पाद-टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इनमें से ४७½ छन्दों के चरण प्रति में नहीं हैं और ऐसे २½ छन्दों के चरण प्रति में और हैं जो निर्धारित पाठ में स्वीकार नहीं किये गए हैं। इस प्रकार प्रति की कुल छन्द-संख्या ९८३ होनी चाहिए।

ऊपर परिमाण के सम्बन्ध में जो छन्द-गणना की गई है, उसमें भूल की सम्भावना हो सकती है। मान लीजिए कि यह सम्भावना १० छन्दों की पंक्तियों के सम्बन्ध की हो और गणना में १० अधिक गिन जाने के स्थान पर भूल से कम ही गिन लिया गया हो, तो भी विभिन्न-

1. खंड १ : २५६ छन्द ; खंड २ : १६८ छन्द ; खंड ३ : २५१ छन्द ; खंड ४ : ३५३ छन्द।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतियों की कुल छन्द-संख्या अलग-अलग निर्धारित पाठ की कुल छन्द-संख्या १०२८ से आगे नहीं बढ़ती। दूसरी ओर, हम यह देखते हैं कि ये १० जोड़ देने पर भी एक प्रति-सी-के अनुसार ग्रन्थ के पाठ का परिमाण ६६३ तक हो जाता है। प्रश्न यह है कि ऐसी परिस्थिति में 'इग्यार सइ', 'नुव सइ', 'सरत सइ' और 'च्यारि सइ' में कौन-सा पाठ अधिक वस्तुसंगत हो सकता है। प्रकट है कि 'च्यारि सइ' तथा 'सात सइ' तो स्पष्टतः अस्वीकार्य हैं, 'इग्यार सइ' भी असम्भव है, क्योंकि दस सै से १०-२० ऊपर की संख्या के लिए 'इग्यार सइ' का प्रयोग नहीं किया जा सकता, और 'दस सइ' पाठ किसी भी प्रति में मिलता नहीं, इसलिए पाठ 'नुवसइ' अथ 'नवसि' ही स्वीकार्य होगा, विशेष रूप से इसलिए भी कि जिस प्रकार वह १०१० छन्द-संख्या की प्रति 'ए' में आता है, उसी प्रकार वह ६५३ के लगभग छन्द-संख्या की प्रति सी में भी आता है। यदि ग्रन्थ की कुल छन्द-संख्या 'दस सइ' के निकट होती, जैसी वह सी और जे के अतिरिक्त सभी प्रतियों में है, तो कोई कारण नहीं था कि कवि अन्य किसी संख्या के स्थान पर 'दस सइ' क्यों न लिखता। इसलिए यह परिणाम निकालना स्वाभाविक है कि ग्रन्थ का मूल परिमाण 'नुव सइं' या 'नवसि' ही था, छन्दाधिक प्रक्षेप द्वारा हुआ।

यह पाठ-वृद्धि प्रतियों में ही नहीं यथेष्ट विश्लेषण बिना किये हुए ही उनका आधार ग्रहण करने के कारण निर्धारित पाठ में भी हो गई है—निर्धारित पाठ में भी ऐसे अनेक छन्द ले लिये गए हैं जिनके कारण ग्रन्थ का पाठ 'नुवसइ' ही नहीं 'दससइ' हो गया है। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि ऐसे छन्द या छन्दार्द्ध जो सबसे छोटे पाठ की प्रति सी में नहीं हैं और फिर भी निर्धारित पाठ में स्वीकृत किये गए हैं, दो-चार अपवादों के अतिरिक्त निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं।

उदाहरण के लिए निर्धारित पाठ के निम्नलिखित छन्दों या छन्दार्द्धों को लिया जा सकता है, जो सी में नहीं हैं—

(१) ३. ४६, ४७।१, ५१।१, ५२।१, ५३।१, ५४।१, ५५।१, ५६, ५७।१, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६।१ :

इन छन्दों में कान्हडदे की सेना में सम्मिलित होने वाले रावतों की नामावली दी गई है। इनमें सात नाम तो ऐसे आते हैं जो साथ के ही उन छन्दों में भी आते हैं जो सभी प्रतियों में समान रूप से पाए जाते हैं : अरजन (३.४३ तथा ३.५९); जगमाल (३.४५ तथा ३.५८); देव सी (३.४८ तथा ३.६३); घडसी (३.४८ तथा ३.५८); विजेसी (३.४१ तथा ३.६६); मूलराज (३.४३, ३.४६, तथा ३.६०); साल्हड (३.४७ तथा ३.५४।१)।

और बारह नाम ऐसे आते हैं जो इन्हीं छन्दों में—जो सी में नहीं मिलते हैं—एक से अधिक बार आते हैं। कर्णदे (३.५९ तथा ३.६४); षीमा या षीम (३.५६।१ तथा ३.६५); गांगु (३.६३ तथा ३.६५); गाजण (३.६३ तथा ३.६५); झाझण (३.५२।१ तथा ३.६४); दूदड (३.५८ तथा ३.६१); देभु यादे भउ (३.५९ तथा ३.६१); धारउ (३.५२।१ तथा ३.६६); पूनउ (३.५३।१ तथा ३.५८); फणगर (३.५९ तथा ३.६०); भीमउ (३.५१।१ तथा ३.६५); हरदास (३.६० तथा ३.६१)।

१९ नामों का इस प्रकार एक ही सूची में पुनः-पुनः आना अत्यन्त शोचनीय है। प्रकट है कि नामों के बढ़ाने के प्रयास में प्रक्षेपकारों को इस बात का ध्यान नहीं रहा कि ये नाम पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी आ चुके हैं। साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि उन छन्दों में नाम-विषयक यह पुनरुक्ति नहीं है, जो सी में भी आते हैं।

(२) २.७०, ७१ : इन छन्दों के द्वारा उन देशों की सूची में वृद्धि की गई है जिन्हें अलाउद्दीन ने अपने द्वारा विजित बताया है।

(३) ४. ६८,६६, ७० : इन छन्दों के द्वारा उन मुसलमान सामन्तों की सूची में वृद्धि की गई है जो अलाउद्दीन के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित होते हैं।

(४) ४. ७७ : इस छन्द के द्वारा उन वस्तुओं की सूची में वृद्धि की गई है, जिन्हें अलाउद्दीन से युद्ध की तैयारी में आठ वर्षों के संबल के लिए कान्हड दे ने इकट्ठा कराया है।

(५) ४. ६८,६६ : इन छन्दों के द्वारा उन स्थानों की सूची में वृद्धि की गई है, जिनके राजपूत सरदारों को अपने पक्ष में युद्ध करने के लिए कान्हड दे ने आमंत्रित किया है।

(६) ४. २४८,२४६ : इन छन्दों के द्वारा उन देवताओं की सूची में वृद्धि की गई है जो कान्हड दे और अलाउद्दीन की सेनाओं का युद्ध देखने के लिए आकाश-मार्ग में इकट्ठे हुए हैं।

(७) ४. २५४,२५५ : इन छन्दों के द्वारा उन मुसलमान सामन्तों की सूची में वृद्धि की गई है जो अलाउद्दीन के पक्ष में युद्ध करने के लिए आये हैं।

(८) ४. २६२, २६३, २६४, २६६, २६७, २६८, २६६, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५।२, २७६।१, २७७।१, २७६, २८० : इन छन्दों के द्वारा उन राजपूत योद्धाओं की सूची में अभिवृद्धि की गई है जो कान्हड दे के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित हुए हैं।

सूचियों में अभिवृद्धि प्रक्षेप का एक अत्यन्त प्रचलित रूप है और इन छन्दों में से भी अधिकतर में ढूँढ़ने पर उसी प्रकार की पुनरुक्तियाँ मिलेंगी जैसी हमने ऊपर देखी हैं।

(६) १. २२८, २३१ : इन छन्दों के द्वारा पुण्य की माहात्म्य-सूची में अभिवृद्धि की गई है। यह सूची प्रस्तुत से चार छन्द पूर्व प्रारम्भ होती है। पूर्ववर्ती छन्द है :

पुण्यइ वाह्लां नहीं वियोग, पुण्यइ हुई, सुजन संयोग।
पुण्यइ पहिरीइ वारुचीर, पुण्यइ हुइ फूटरां सरीर ॥ २२७ ॥

और इसी प्रकार के 'पुण्यइ' से प्रारम्भ होने वाले छन्द २२४ से २३२।१ तक हैं। किन्तु प्रक्षेपकार को इसका ध्यान न रहा और उसने छन्द २२८ 'पुण्यइ' के स्थान पर 'पुण्यवन्त' की महिमा में रच डाला :

पुण्यवन्तनां दुसकृत टलइ, पुण्यवन्तनइ चामर ढुलइ।
पुण्यवन्त सिरछत्र छराह, पुण्यवन्तन विपाला जाइ ॥ २२८ ॥

(१०) ४. ३४८, ३५० : इन छन्दों के द्वारा उस फल-सूची में वृद्धि की गई है जो इस ग्रन्थ के पढ़ने से प्राप्य बताये गए हैं।

(११) १. २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४६ : ये छन्द एक सम्पूर्ण गीत के हैं।

(१२) २·१५४, १५५, १५६, १५७, १५८ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।
(१३) ३·१५३, १५४, १५५, १५६, १५७ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।
(१४) ४·१६५, १६६, १६७, १६८ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।
(१५) ४·२४१, २४२, २४३, २४४ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१६) ४·३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।

(१७) ४·३२६, ३२७, ३२८, ३२९ : ये छन्द भी एक सम्पूर्ण गीत के हैं।

ये समस्त गीत ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न स्थानों पर आते हैं। इन सात गीतों का पूरा-पूरा छूट जाना भूल से संभव नहीं है और न इसी बात का कोई कारण हो सकता है कि ये गीत जान-बूझकर निकाल दिये गए हैं। इसलिए तीसरी ही सम्भावना बुद्धि-सम्मत ठहरती है कि ये गीत प्रक्षेपों के रूप में बढ़ाये गए हैं।

(१८) ३·६ : यह छन्द प्रसंग-प्रवाह में स्पष्ट विच्छेद प्रस्तुत करता है। पूर्ववर्ती तथा परवर्ती छन्द इस प्रकार हैं :

दस्यूं प्रधान कहइ तिणि समइ, सुरताणी दल कुण आंगमइ।
जास तणउ भूतलि भडवाय, जिणि वसि कीछा राणा राय ॥५॥
जास तणइ तेजी लख आठ, जास तणइ घरि गयवर भाट।
जास तणइ नवनिधि भण्डारी, जेह भिडतां नवि आवइ हारि ॥७॥

और इन्हीं दोनों छन्दों के बीच में आता है :

पद्मनाथ पंडित भणइ जिह तूठउ जगदीस।
तास तहुवडि हुइ किसी अंगिम आणउ रीस ॥६॥

(१९) ४·४१।२ : यह छन्दार्द्ध भी प्रसंग-प्रवाह में विच्छेद करता हुआ प्रतीत होता है। पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पंक्तियों में कान्हड दे की राजरिद्धि का 'बखान' किया गया है :

राज रिद्धि नूं किसूं बषाण, बातइ पंचवर्ण के काण ॥३८॥
अवधानीया अनइ रावरी, करइ मसाहणी चिंतातुरी ॥४१।१
भंडारी कोठारी जेउ, पूरइ वरउ रालगुनि नेउ ॥४२।१

और इन्हीं के बीच में आता है :

इसी अवधि बातइ राउली, त्रिणिवार घोडां जाउली ॥४१।२

(४) ४·११४।२, ११५।१, : इन पंक्तियों में आया हुआ एक चरण तो पूर्णतः वही है जो पूर्ववर्ती छन्द में आ चुका है। दोनों पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :

गढ लागइ गढषाई करउ, इणी परिआछा संचरउ। ४·११४।२
रहती बुद्धि सवे आदरउ, इणी परिआछा संचरउ। ४·११५।१

ऊपर जान-बूझकर निर्धारित पाठ के केवल ऐसे छन्दों का उल्लेख किया गया है जिनकी प्रक्षेपता स्वतः प्रकट है और इनकी री संख्या ८० छन्दों के बराबर है। यदि, मान लीजिए, ऐसे १० छन्द भी और प्रक्षिप्त ठहरें जो उपर्युक्त सूची में आने से रह गए हों, तो यह संख्या ९० हो जाती है और परिणामतः १०२८ छन्दों के निर्धारित पाठ के स्थान पर ग्रन्थ का मूल परिमाण ९३८ छन्दों का हो जाता है। निश्चय ही ९३८ के आस-पास की संख्या 'नुवसइं' या 'नवसि' से ही अभिहित की जायगी, 'रससइ' या 'ग्यारसइ' से नहीं और ९३८ की अपेक्षा ९०० के और भी निकट की संख्या तो और भी 'नुवसइ' या 'नवसि' के द्वारा अभिहित होगी।

कहना नहीं होगा कि ऊपर दिये हुए छन्दों को भूल से छूटा हुआ और इसीलिए जिन प्रतियों में ये छन्द नहीं मिलते उनको परस्पर संकीर्ण सम्बन्ध से सम्बन्धित मानकर विद्वान् सम्पादक ने जो सिद्धान्त ग्रन्थ के पाठ-निर्धारण के लिए स्थिर किये हैं, वे वैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माने जा सकते और फिर उनके अनुसार स्थिर किया हुआ सामान्य पाठ भी सर्वथा विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। फिर भी जिस असाधारण अध्यवसाय और संतर्कता से विद्वान् सम्पादक ने समस्त प्रतियों का पाठान्तर दिया है और कार्य को सर्वांगपूर्ण बनाने में उद्योग किया है, उसकी सराहना मुक्तकण्ठ से करनी पड़ती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

बालकृष्ण राव

नयी कविता

: १ :

गत वर्ष कुछ साहसी साहित्यकारों के सहकारी प्रयास के फलस्वरूप 'नयी कविता' नामक अर्द्ध-वार्षिक प्रकाशन आरम्भ हुआ। इन साहित्यकारों को साहसी मानने में तो किसी को आपत्ति न होगी और न होनी चाहिए। कविता के पाठक सदा ही अल्पसंख्यक होते आये हैं और उनकी भी छोटी-सी संख्या ऐसी होती है जिसे कविता खरीदकर पढ़ने की आदत हो। आज का युग कविता-प्रेमियों की बाढ़ का युग नहीं, कविता की लोकप्रियता के उतार का युग माना जाता है। उस पर अधुनातन युग की कविता अभी अपना भावक-वर्ग खोज रही है। उसकी धारा उपहास और उपेक्षा के किनारों में होकर रेतीली भूमि पर बह रही है जिसके सागर तक पहुँचने की सम्भावना कम और राह में लुप्त हो जाने की आशंका अधिक जान पड़ती है। इस कविता को हिन्दी-संसार के सामने रखने के उद्देश्य से एक संग्रह-ग्रन्थ का प्रणयन समझ में आ सकता है। पर वर्ष में दो बार प्रकाशित करने के निश्चय को तो साहस क्या दुस्साहस मानना ही पड़ेगा। कहाँ मिलेंगे इतने पाठक कि उसकी तुष्टि कर सकें ! कहाँ मिलेंगी इतनी संग्रहणीय कविताएँ कि प्रतिवर्ष दो बार उसकी कलेवर-पुष्टि कर सकें ! कुछ भी हो, यह सहकारी साहस इसका प्रमाण है कि इसके विधायक साहित्यकार नयी कविता में अपनी अदम्य आस्था से प्रेरित होकर ही आगे बढ़े थे, अन्यथा नियमित रूप से वर्ष में दो बार प्रकाशित करने की घोषणा न करते।

यदि यह प्रकाशन इस रूप में हमारे सामने न आता और केवल एक स्वतन्त्र संग्रह-ग्रन्थ के रूप में ही आता तो निश्चय ही यह इतना ध्यान आकृष्ट न कर पाता। जो नयी कविता को अस्वस्थ मनोदशा या विकृत मस्तिष्क की उपज मानते हैं वे एक संग्रह-ग्रन्थ की उपेक्षा करके ही उसे मार सकते हों या नहीं, चेष्टा अवश्य करते। पर प्रतिवर्ष दो बार प्रकाशन की घोषणा से हमारे साहसी मित्रों ने उन्हें चौंका दिया। दबा देने के उद्देश्य से इसके विरोधियों ने डंके की चोट पर इसका मज़ाक उड़ाया, इसे बुरा-भला कहा—यह भी इसकी चर्चा करना ही था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके प्रशंसकों ने पीठ पर थपकी दी, वाह-वाह के नारे लगाये। परिणाम में 'नयी कविता' को दोनों ओर से 'नोटिस' मिला—इतना जिसकी आशा भी उसके संस्थापकों ने न की होगी। यदि अब इसका प्रकाशन बन्द भी हो जाय तो भी नयी कविता की ओर हिन्दी-जगत् का ध्यान आकृष्ट कराने के काम में वह अपने को, एक अंक के बल पर ही, सफल मान सकती है। प्रायः सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में उसकी आलोचना हुई और उस पर लेख निकले, गोष्ठियों में उस पर वाद-विवाद हुआ, विद्यालयों में उसकी चर्चा हुई। उसे प्रशंसा मिली और गालियाँ सुननी पड़ीं। 'नयी कविता' के लिए केवल एक ही विष घातक हो सकता था और वह विष था हिन्दी-संसार की उपेक्षा। उससे इसने अपने-आपको बचा लिया।

: २ :

'नयी कविता' के पाठक को उसके प्रथम अंक में कोई लेख या वक्तव्य न मिलेगा जिससे वह जान सकता कि किस अर्थ में इस नाम में प्रयुक्त 'नयी' शब्द उसे ग्रहण करना है। न तो उसे कोई सम्पादकीय स्तम्भ ही मिलेगा न कोई स्पष्ट रूप से अधिकृत लेख ही, जो यह बताता कि यह प्रकाशन किस उद्देश्य से निकाला गया है और किस आधुनिक कविता को उसके सम्पादक 'नयी कविता' मानते हैं और क्यों ? पन्ने उलटकर वह और भी चकित होगा, क्योंकि इसमें उसे नाना 'स्कूलों' की रचनाएँ मिलेंगी और यह जानने में उसे कठिनता होगी कि वह कौन-सी ऐसी सादृश्यता संग्रहीत कविताओं की शैली अथवा भाव-भूमि में है जिसने इन सबका वहाँ एकत्र किया जाना सार्थक बनाया है। वह जानना चाहेगा कि यह एकत्रीकरण सार्थक है या नहीं। उसे प्रयोगवादी रचनाओं का बाहुल्य मिलेगा, व्रजभाषा और अन्य प्रादेशिक बोलियों का अभाव मिलेगा, शुद्ध छायावादी रचनाएँ न मिलेंगी, बहुत-कुछ ऐसी चीजें मिलेंगी जो सफल मान लें तो हास्य नहीं तो हास्यास्पद लगेंगी, कुछ दुरूह, कुछ वृत्तगंधी गद्य, कुछ गद्याकार कविता—कहीं की ईंट मिलेगी तो कहीं का रोड़ा। पर भानमती से भेंट न होगी जो उसे जानने का अवसर मिलता कि यह कुनबा क्यों और कैसे जोड़ा गया ?

पाठक को इस प्रथम अंक में 'नयी कविता : नयी अभिरुचि' शीर्षक का एक लेख मिलता है, जो सम्पादकीय के रूप में तो नहीं पर सम्पादक के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें सम्पादक ने एक वाक्यांश-मात्र से संकेत किया है कि 'नयी कविता' से उनका अभिप्राय आधुनिक कविता से है, किसी वर्ग-विशेष की रचनाओं से नहीं। वह वाक्यांश है "हिन्दी कविता को विकास की नई दिशाओं में ले जाने वाला कवि", और इस वाक्यांश से इतना स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद की कविता को इस प्रकाशन में क्यों स्थान नहीं मिल सकता। छायावादी कवि हिन्दी-कविता को न तो नई दिशा में ही ले जाता है और न उसकी दिशा विकास की ही दिशा है। उद्धृत वाक्यांश में यह गर्भित है कि नयी कविता का रचयिता कवि गतिशील हो, क्योंकि 'ले जाना' गतिशीलता के साथ ही हो सकता है और वह किन्हीं नई दिशाओं की ओर उन्मुख हो। (मैं जान-बूझकर यहाँ गतिशील कह रहा हूँ, क्योंकि 'प्रगतिशील' एक 'स्कूल' विशेष की रचना के लिए प्रयोग से रूढ़ हो गया है।) एक बात और भी है जो इस वाक्यांश में पाठक को मिलेगी और वह है इसकी ध्वनि कि यह नया कवि परम्परा से पृथक् नहीं है, परम्परागत कविता को ही ग्रहण करके उसे नये मोड़ों से, नई दिशाओं की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर ले जाता है। यह बात अपने लेख के अन्तिम दो वाक्यों में सम्पादक ने और भी स्पष्ट कर दी है। वह कहते हैं : "नई अभिरुचि के जन्म का अर्थ पुरानी अभिरुचि या अभिरुचियों का पूर्णतया नाश नहीं है। वह तो पुराने संस्कारों के बीच ही संघर्षशील होकर नवीन संस्कारों की संस्थापना और संवहन करती हुई अपना मार्ग प्रशस्त करती चलती है।"

सम्पादक के लेख से हमें 'नयी कविता' के विषय में तीन बातें मिलीं : वह नई दिशा की ओर उन्मुख हो, गतिशील हो और परम्परा से असम्बद्ध न हो।

: ३ :

तीन और लेख इस प्रथम अंक में हैं : श्री सुमित्रानन्दन पन्त का, श्री विजयदेव नारायण साही का और श्री गिरिजाकुमार माथुर का। पन्त जी का लेख 'नयी कविता' के शीर्षक से आमुख के रूप में दिया गया है, अतः इसे अविकृत मानना पाठक के लिए स्वाभाविक ही है। पन्तजी कहते हैं कि छायावाद से "एक प्रकार से नयी कविता प्रारम्भ होती है," पर हमें इसका स्पष्टीकरण नहीं मिलता कि प्रारम्भ छायावाद स्वयं ही है या छायावाद प्रारम्भ कराता है। दूसरे शब्दों में, हम जिस नयी कविता से परिचित कराये जा रहे हैं उसका आदिम रूप छायावाद में मिलता है अथवा उसका उद्‌गम छायावाद से हुआ। इसके अतिरिक्त, पन्तजी ने 'एक प्रकार से' कहकर अपने कथन को मर्यादित तो किया, साथ ही और भी अस्पष्ट कर दिया। पाठक को यह पूछने का अधिकार है कि किस नयी कविता का, किस प्रकार से छायावाद से प्रारम्भ हुआ?

आगे चलकर पन्तजी कहते हैं : "नयी कविता विश्व-वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण करके तथा आज के प्रत्येक पल बदलते हुए युग-पट को अपने मुक्त छन्दों के संकेतों की तीव्र-मन्द गति-लय में अभिव्यक्त कर, युग-मानव के लिए नवीन भाव-भूमि प्रस्तुत कर रही है।" छायावाद की कविता, पन्तजी के ही शब्दों में : "वास्तविकता से आँख-मिचौनी खेलकर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि" कर रही थी। निश्चय ही पन्तजी का यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि जो कविता वास्तविकता से आँख-मिचौनी खेल रही थी वही 'प्रत्येक पल बदलते युग-पट को' अभिव्यक्त कर रही थी या विश्व-वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण कर रही थी। फिर वह कौन-सा 'एक प्रकार' है जिस प्रकार से पन्तजी नयी कविता का प्रारम्भ छायावाद से मानते हैं?

तुलना की दृष्टि से नयी कविता को देखते हुए पन्तजी कहते हैं कि वह अधिक मौलिक, वैचित्र्यपूर्ण तथा वैयक्तिक हो गई है; अपनी भावना में अधिक रागात्मक तथा मानववादी बन गई है। "वह छायावादी स्वप्नों के कुहासे को हटाकर नवीन वास्तविकता के मुख को पहचानने का प्रयत्न कर रही है। वह अधिक व्यापक यथार्थ की भूमि में पदार्पण करना चाहती है। एक साथ ही वह अधिक वैचित्र्यपूर्ण और अधिक रागात्मक कैसे हो सकी, अधिक वैयक्तिक और मानववादी कैसे बनी, इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित ही रह जाता है। पर इस तुलनात्मक परीक्षण से ऐसा जान पड़ता है कि पन्तजी नयी कविता को छायावाद का नया संस्करण मानते हैं।

: ४ :

श्री विजयदेव नारायण साही का 'परिचय' शीर्षक लेख श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सम्बन्ध में है और उसीके माध्यम से वे नयी कविता के विषय में भी अपने विचार प्रकट करते हैं। लक्ष्मीकान्त जी की कविता को साहीजी नयी कविता का "उदाहरण प्रस्तुत करती-सी" मानते हैं, अतः उनका कथन है कि लक्ष्मीकान्त जी की कविता "भावनाओं के एक सर्वथा नये सामञ्जस्य को ढूँढ़ने का प्रयास" करती है, हम अधिक व्यापक रूप में लें और वह समझें कि उनकी दृष्टि में यह नयी कविता का प्रयास है, तो अनुचित न होगा। इस कथन में महत्त्वपूर्ण शब्द 'सर्वथा नये' हैं, क्योंकि भावनाओं का सामञ्जस्य किसी-न-किसी प्रकार प्रत्येक कविता ढूँढ़ती है, नयी कविता ही क्यों ?

साहीजी कहते हैं : "आज के कवि को एक ही साथ दो बिन्दुओं पर खड़ा (खड़े !) होकर देखने की चेष्टा करनी पड़ती है।" एक बिन्दु उसकी भावना का केन्द्र है, दूसरा परिवेश का प्रतीक। फलतः "अक्सर नये कवियों में यह दुहरी चेतना तीखे विद्रोह एवं व्यंग्य और कहीं-कहीं विद्रूप एवं कुण्ठा में व्यक्त हुई है।" (विद्रूप किस भाषा का शब्द है और हिन्दी में कैसे आया, यह मैं नहीं जानता। कई स्थानों में इसे देखा अवश्य है, कहीं संज्ञा के रूप में पर अधिकतर विशेषण के रूप में, पर इसके अर्थ का अनुमान ही लगा पाया हूँ।) परिवेश और भावना के परस्पर वैषम्य की अनुभूति और उनमें सामञ्जस्य ढूँढ़ने का प्रयास, उस प्रयास की असफलता से असन्तोष और उस असन्तोष की अभिव्यक्ति में विद्रोह एवं व्यंग्य की झलकया पुट—इसमें कोई मौलिक नवीनता नहीं है। यह सब हमें पुरानी कविता में भी मिलता है, हाँ, कहने के ढंग में नवीनता अवश्य आ गई है। 'भूखे भजन न होहिं गुपाला' और

> नंगे बच्चे
> भूखी बीबी
> साँस रोग-सी ग्रस्त त्रस्त, अंधी कोठरी,
> कवि कलाकार, अतिशय भावुक

में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, शैली का ही अन्तर है। उसी प्रकार "जानत हौं चारि फल चारहूँ चनक को" में यही परिवेश और भावना का वैषम्य व्यंजित है। नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित' में यह बहुत मिल जायगा। जीवन की नीरसता और कवि की भावुकता, आज के नहीं उतने पुराने यथार्थ हैं जितनी पुरानी कविता स्वयं है।

आगे चलकर लक्ष्मीकान्त जी की कविता के विषय में (अर्थात् नयी कविता के विषय में) साहीजी कहते हैं : "लेकिन शिल्प का विघटन इस सीमा तक पहुँचने पर भी, कविता कविता बनी रह जाय, यह अवश्य आश्चर्य का विषय है। इसी अर्थ में लक्ष्मीकान्त नयी कविता का उदाहरण प्रस्तुत करते-से जान पड़ते हैं। क्योंकि उनकी कविताएँ आभूषण हीन, बल्कि परि-धानहीन हैं—यूकेलिप्टस के वृक्ष की भाँति।" पर उनकी कविता में जो "एक अजब-सा खुर-दरापन, अनगढ़पन, व्याकृति—परिव्याप्त है, यह जान-बूझकर उतारा हुआ खुरदरापन नहीं है। ......जिस भावभूमि को उन्होंने ग्रहण किया है उससे उनकी शैली का ऐसा स्वाभाविक साम-जस्य है कि एक को अंगीकार करने पर दूसरा उसकी अनिवार्य परिणति के रूप में अंगीकृत हो जाता है।" साहीजी समझाते हैं कि उनके मन में प्रतिपल होने वाले भावनात्मक विस्फोट के कारण "कविता के शिल्प का गौण—बल्कि अनावश्यक—हो जाना स्वाभाविक था।"

श्री गिरिजाकुमार माथुर छोटे-से लेख में नयी कविता के सम्बन्ध में कहते हैं : "नयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता हम उसे मानते हैं जिसमें इन दोनों के स्वस्थ तत्त्वों का सन्तुलन और समन्वय है।" (यह 'हम' सम्पादकीय 'हमं' नहीं है, केवल 'मैं' के स्थान में प्रयुक्त हुआ है।) जिन 'दोनों' के स्वस्थ तत्त्वों की बात की गई है वे दोनों हैं शैली, शिल्प, माध्यमों के प्रयोग और समाजोन्मुखता, जिस पर नयी कविता बल देती है। "जीवन की संघर्षमय कटुता के बीच भारतीय आदर्शानुसार उसकी आशा की लौ निष्कम्प है, क्योंकि उसे विश्वास है कि······मानवता का भविष्य कल्याणमय है।"

नयी कविता से परिचय पाने के लिए इस प्रकाशन के प्रथम अंक में हमें जो मिलता है वह इतना ही है। इन कथनों की पुष्टि के रूप में पत्रिका के अवशिष्ट भाग (उसके अधिकांश भाग) में कविताओं का संकलन है। स्पष्ट है कि इतने-से मसाले से नयी कविता की मूर्ति नहीं बन पाती और जैसा हम अब देखेंगे, यह सब-का-सब मसाला मूर्ति के बनाने में सहायक नहीं हो पाता, थोड़ा ही हो पाता है।

: ५ :

मैंने ऊपर कहा है कि 'नयी कविता' के प्रथम अंक में प्रयोगवादी कविताओं का बाहुल्य है। वास्तव में अनुपात से वे संकलित कविताओं में प्रायः ६० प्रतिशत होंगी। तो क्या जिसे हम प्रयोगवादी कविता कहते आये हैं वही यह नाम अपनाकर हमारे सामने आई है? यदि हाँ, तो क्यों? यदि नहीं, तो इसमें और प्रयोगवादी कविता में क्या अन्तर है?

प्रयोगवाद न हिन्दी की विशेषता है न भारत की, पर हिन्दी में इसका प्रयोग छायावाद के विरुद्ध विद्रोह के रूप में हुआ। छायावाद, पन्तजी के शब्दों में, "वास्तविकता से आँखमिचौनी खेलकर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि" करता रहा। वास्तविक परुष और नीरस था, छायावाद ने कोमल और स्निग्ध का हाथ पकड़ा; वास्तविक प्रकाश में जलन थी, छायावाद ने अँधेरे में और चन्द्र-किरणों में रहने का अभ्यास किया। यह माया-लोक स्वप्न के समान टूट गया और जग उठने के बाद फिर बलात् आँखें मींचकर स्वप्न देखना सम्भव न हो सका। कविता ने अन्य प्रयोग आरम्भ किये। छायावाद के धुँधले स्वप्न कक्ष से निकलकर उसने बाहर की ऊबड़-खाबड़ भूमि पर पाँव धरे, पर चलने के लिए पाँव अनभ्यस्त थे, वे लड़खड़ाने लगे। आँखें सूर्य के प्रकाश में खुलकर देखने के लिए अनभ्यस्त थीं, वे झिप गईं। उसने विवश हो अपने लिए उपयुक्त साधन ढूँढ़े और कुछ समय के बाद उन साधनों का परित्याग उसके लिए वैसा ही कठिन हो गया जैसा छायावाद के मोह-जाल से बाहर आना था। प्रयोगवाद को अपने प्रयोगों से इतना प्रेम हो गया कि उन्हें उसने जीवन का अंग मान लिया। खुरदरापन जान-बूझकर उतारा जाने लगा।

पन्तजी ने छायावाद से ही 'एक प्रकार से' नयी कविता का प्रारम्भ माना है। उसकी वास्तविकता से दूर रहने की चेष्टा; स्वप्न देखने की प्रवृत्ति; अतिशय कोमल, मधुर शब्द-योजना का अभ्यास—इनसे असन्तोष और अतृप्ति ने उस प्रतिक्रिया को जन्म दिया जिसके द्विधा विभक्त होने के बाद एक का नाम प्रगतिवाद और दूसरी का प्रयोगवाद हुआ। इस अर्थ में इस प्रतिक्रिया का प्रारम्भ छायावाद से हुआ माना जा सकता है। पर पन्तजी का यह आशय नहीं है। वे छायावाद की कविता को ही उस नयी कविता का प्रस्फुटन मानते हैं जिसका नया रूप आज हमारे सामने है। इसमें सन्देह नहीं है कि काव्यानुभूति और अभिव्यक्ति, दोनों ही अर्थों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायावाद की कविता से इस प्रतिक्रिया-जन्य कविता का सम्बन्ध है। पर क्या यही नयी कविता है? छायावाद की सूक्ष्मता, कोमलता और अतीन्द्रिय काव्यानुभूति और अभिव्यक्ति हिन्दी-कविता को जहाँ ले गई थी वहाँ से वापस लाकर उसे ठोस और पार्थिव, सबल और गतिशील बनाना प्रयोगवाद और प्रगतिवाद का काम रहा है। पर दोनों ही छायावाद के प्रभाव से अपने को उन्मुक्त करने के लिए किसी बाह्य, अ साहित्यिक आधार को अपनाने के लिए विवश हुए: प्रगतिवाद ने सामूहिक चेतना का सहारा लिया (जो कला के नैसर्गिक प्रेरणा-स्रोत, व्यक्ति को छोड़ने के कारण मूलतः अ-साहित्यिक आधार है, और प्रयोगवाद ने शिल्प के नवीन प्रयोगों को ही अपनी साधना के रूप में ग्रहण किया।

: ६ :

पर यदि हम यह बात पहले से ही मानकर न चलें कि हमें जितनी भी कविता हिन्दी में मिलती है वह हिन्दी-कविता की परम्परा में ही है, चाहे उसके साथ चलें या उसके प्रतिकूल, तो हमें एक ऐसी कविता के दर्शन हो सकेंगे जो मूलतः हिन्दी-काव्य की परम्परा में है ही नहीं। यह हिन्दी-काव्य की भागीरथी की कोई शाखा या नहर नहीं है। वर्तमान युग-जीवन भावनात्मक विस्फोटों का (और वैज्ञानिक विस्फोटों का भी) जीवन है। साहीजी ने जो बात लक्ष्मीकान्त जी की कविता के माध्यम से नयी कविता के लिए कही है, मैं समझता हूँ कि वह सर्वांशतः सत्य है। पन्तजी ने अपने छोटे-से आमुख में आज के युग की वास्तविकता की भूमि में एक भूकम्प की बात कही है। इस भूकम्प और इन विस्फोटों के परिणाम-स्वरूप जो नई काव्य-धारा फूट चली है वही आज के युग की वास्तविक नयी कविता है। यह किसी एक देश, किसी एक समाज, साहित्य अथवा संस्कृति की नहीं, समस्त मानवता की जीवन-भूमि में बह निकली है, सभी साहित्य को प्लावित करती है। हिन्दी में भी हम उसे देखते हैं और अन्य भाषाओं के साहित्य में भी। यह इस युग की देन है, अतएव यह सच्चे अर्थ में नयी कविता है।

राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, अन्य क्षेत्रों में भी हम आज एक देश के नहीं अनेक देशों के नागरिक हैं। विचारों के स्तर पर हम संसार-भर के नागरिक हैं, क्योंकि आज किसी देश या भाषा का साहित्य केवल उसका ही नहीं पठित मानव का है, वह कहीं क्यों न हो। हमारा जीवन, हमारी भाव-भूमि, हमारा विचार-जगत् सभी विस्तृत और व्यापक हो गए हैं। हमारी समस्याएँ औरों की भी समस्याएँ बन गई हैं, औरों की हमने अपना ली हैं। कोरिया में हमारे सैनिक ही नहीं गये, हम भी वहाँ गए। वहाँ के दुःख, दैन्य हमने भी सहे, जैसे वे सचमुच हमें अनुभव करने पड़े हों। अणु और उद्जन बम की विभीषिका से हम वैसे ही आतंकित हैं जैसे अमेरिका और योरोप के निवासी। टी० एस० इलियट और रिल्के, सार्त्र और शॉ से हम भी परिचित ही नहीं प्रभावित भी हैं। यह अनिवार्य था कि हम सब अनेक देशवासियों का जीवन जैसे-जैसे एक-दूसरे के सम्पर्क में आता गया और एक-दूसरे से प्रभावित होने लगा, उसी गति से हम सब अपनी सीमाओं को उत्तरोत्तर ढीली होती पाते गए। अनिवार्यतः हम किसी-न-किसी रूप, किसी-न-किसी अंश में युग-मानव में परिणत होते गए और हमारी काव्यानुभूति अधिकाधिक व्यापक स्तर पर संवेदनशील होती गई। हमारे काव्य-प्रेरणा के स्रोत अनेक दिशाओं से फूट निकले। एक सार्वदेशिक काव्य-प्रेरणा इस व्यापक काव्यानुभूति और संवेदनशीलता के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठी और उसने अनेक भाषाओं ने अनेक माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्ति पाई। वही युग की नयी कविता है।

यह कविता किसी देश के साहित्य की परम्परा में नहीं है, क्योंकि यह किसी साहित्य के नैसर्गिक विकास का कोई संस्थान नहीं है। यह युग-कविता मानव-मात्र की कविता है और वह युग मानव के लिए नयी भाव-भूमि प्रस्तुत कर रही है। हम स्वयं ही इस युग-मानव के अभिभावक और उत्तराधिकारी हैं। युग-मानव की यह नयी भाव-भूमि सार्वभौम है, उसकी कविता सभी पुरानी सीमाओं को लाँघकर एक ऐसे व्यापक स्तर पर प्रस्फुटित हुई है जहाँ न उसे किसी समाज या साहित्य की परम्परा से बल मिलता है न उसकी कुण्ठा और विवशता ही उसकी सहज अभिव्यक्ति को दबा पाती है।

प्रयोग इस कविता के लिए अनिवार्य प्रणाली है, क्योंकि यह मूलतः नयी है और अपने लिए उपयुक्त कलेवर इसे स्वयं ही गढ़ना है। पर यह प्रयोग किसी 'वाद' के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक ढंग से नहीं करती, न ही इसे प्रयोग के लिए प्रयोग करना है। शिल्प इसके लिए वास्तव में न गौण है न प्रधान, शिल्प और विषय-वस्तु अन्योन्याश्रित हैं—एक के बिना दूसरा निरर्थक है। इस नयी कविता को अपने लिए नये द्वन्द्वों का आविष्कार और निर्माण करना पड़ता है क्योंकि परम्परागत छन्द और शैलियाँ इसके लिए उपयुक्त नहीं हैं, न कि इसलिए कि इसे परम्परा के विरोध में नयी शैली अपनानी है। नयी कविता परम्परा-निरपेक्ष है, परम्परा-विरोधिनी नहीं। यदि परम्परा-सम्मत शैली इसे अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त जान पड़ी तो इसने निःसंकोच ग्रहण किया; नहीं, तो उसे वैसे ही निःसंकोच छोड़ दिया। परम्परा से उसे न वैर है, न प्रेम।

: ७ :

'तार सप्तक' की भूमिका में 'अज्ञेय' ने उसके सात कवियों के एकत्रीकरण का आधार बताते हुए लिखा था : "ये सातों अन्वेषी हैं।······किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं,राहों के अन्वेषी।" हमारे आज के युग-मानव ने भी कोई मंजिल नहीं पाई, वह भी राह का अन्वेषी है। अन्वेषण में प्रयोग निहित है। अतः हमारी युग-कविता प्रयोग की कविता है, पर इस नयी कविता को प्रयोगवादी कविता कहना ठीक नहीं है क्योंकि इसके लिए प्रयोग प्रधान नहीं है, प्रयोग की अभिव्यक्ति प्रधान है क्योंकि प्रयोग ही जीवन है। महात्मा गांधी ने अपने आत्म-चरित का नाम 'सत्य के निमित्त प्रयोग' रखा था। ठीक उसी तरह हमारे युग-मानव का जीवन प्रयोग की कथा है। और जिस प्रकार महात्मा गांधी की जीवनी को 'आत्मचरित का प्रयोग' कहना भ्रामक होगा वैसे ही इस नयी कविता को प्रयोगवादी कविता कहना अर्ध-सत्य ही होगा। नयी कविता प्रयोग करती है, पर अभिव्यक्ति के लिए—क्योंकि जिस काव्यानुभूति से उसे प्रेरणा मिली वह स्वयं ही प्रयोग है।

इसका निर्णय करना कि कौन-सी कविता वास्तव में नयी कविता कही जाने योग्य है और कौन-सी, प्रयोगवादी 'स्कूल' की शैली में होते हुए भी, इस नाम की अधिकारिणी नहीं है, इसलिए कुछ कठिन हो सकता है कि नयी कविता और 'प्रयोग के लिए प्रयोग' की कविता की आकृति में सादृश्यता है। पर यह सादृश्यता केवल बाह्य ही है, आकृति तक ही सीमित है। सच्ची नयी कविता पाठक के मन में यह शंका उठने ही न देगी कि उसके कलेवर अथवा परिधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की असाधारणता 'जान-बूझकर उतारी गई है' या उसकी अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य थी। नयी कविता की विषय-वस्तु इस अर्थ में बिलकुल नयी होगी कि उसकी प्रेरणा के स्रोत नये होंगे और उसकी काव्यानुभूति नयी और इस युग की होगी। वह गतिशील होगी और विकास की दिशा की ओर उन्मुख होगी। परम्परा-निरपेक्ष होगी। विश्व-वर्चस्व से उसे प्रेरणा मिली होगी और वह युग-मानव के लिए नयी भाव-भूमि प्रस्तुत करती होगी। वह 'परप्रत्ययनेयबुद्धि' न होगी, क्योंकि वह युग-मानव की कविता है और युग-मानव के लिए कोई 'पर' नहीं हो सकता। पूर्ववर्तियों द्वारा आविष्कृत, परम्परा द्वारा आनीत सत्य उसके लिए अपर्याप्त है; क्योंकि जग-जीवन का यह युग स्वयं ऐसे सत्य की खोज कर रहा है जिसको वह अपना सके, जिसमें उसकी सार्थकता हो। सत्य एक और अविभाज्य है पर उसके रूप अनेक हैं और मानव-जीवन के दृष्टिकोण प्रत्येक युग में परिवर्तित होते रहते हैं। किसी समय भी वह सत्य को उसी रूप में देख, पहचान और अपना सकता है जिस रूप में वह उस समय, उसके लिए सार्थक हो। विगत युगों के दर्शन को वह सर्वांशतः अपना नहीं बना सकता, क्योंकि जीवन गतिशील और परिवर्तनशील है। उसे अपना सत्य स्वयं खोजना है और इसमें ही सुन्दर और शिव की खोज भी निहित है।

नयी कविता युग-मानव की कविता है और युग मानव आज के प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्तित्व का सामूहिक नाम है। वह किसी एक देश या नागरिक अथवा एक भाषा का भाषी नहीं है। हम जब बहुत-सी आधुनिक कविता में अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग देखते हैं तो चौंकते हैं, पर वह चौंकने की बात नहीं है, स्वाभाविक ही है।

इसकी सम्भावना कि प्रतिवर्ष दो बार अच्छे स्तर की इतनी नयी कविताएँ उपलब्ध हो जायँ कि यह प्रकाशन सूम कैसो दान, मइामूढ़ कैसो ज्ञान न बन जाय, यदि अधिक नहीं है तो बहुत कम भी नहीं है। हाँ, चयन में कुछ अधिक सावधानी और मनीषी की निर्ममता अपेक्षित है। 'नयी कविता' के पहले अंक में बहुत उदारता से काम लिया गया है। यह उदारता नयी कविता के लिए हितकर नहीं हो सकती। आगामी अंकों में यदि सम्पादक इस ओर अधिक ध्यान दें तो बहुत अच्छा हो। साधारण की नक़ल बहुत कठिन है, असाधारण की आसान है। नयी कविता असाधारण है। उसकी नक़ल बायें हाथ का खेल है। शिल्प का विघटन, विषय-वस्तु की विलक्षणता, उक्ति की दुरूहता नयी कविता की ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण 'नक्कालों से सावधान' का नारा लगाते रहना आवश्यक है।

यद्यपि कलेवर की पुष्टि (सम्भवतः मित्रों की तुष्टि भी) भरती की चीज़ों से हो सकती है और उन्हें अन्दर आने देना सच्ची नयी कविता के उदाहरणों को बाहर निकालने का कारण न न बने यह भी सम्भव है, फिर भी यह नयी कविता को पहचानने और उसे समुचित आदर का स्थान दिलाने में बाधक हो सकता है। 'नयी कविता' के पहले अंक में कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें नयी या पुरानी, किसी प्रकार की कविता, मानना कठिन है, कुछ ऐसी हैं जो किसी 'विविध, विषय-विभूषित' पत्रिका में तो न खटकतीं पर इस विशिष्ट प्रकाशन में अजनबी 'गेट क्रैशर'-सी लगती हैं। कुछ चीज़ें 'किंचित् कविता' के कटघरे में से चुपके से, आँख बचाकर बाहर आई हुई लगती हैं, जैसे श्री रामबहादुर 'मुक्त' के मुक्तक। इनकी 'अपशकुन' शीर्षक कविता अपशकुनों की लिस्ट है। यदि वह गम्भीर कविता है तो Thirty days hath September april, June and November' भी कविता है—पर वह नयी कविता होने का दावा तो नहीं करती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

'अज्ञेय' की 'यह दीप' शीर्षक रचना नयी कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनकी 'आज तुम शब्द न दो, न दो' नयी है, पर कविता नहीं; क्योंकि रस की सृष्टि नहीं करती। विचार-जन्य, विचाराश्रित, विचार-प्रधान रचना भी कवि की संवेदनशीलता से प्रभावित होकर रस की सृष्टि कर सकती है। इसके अगणित उदाहरण हमें नये और पुराने साहित्य में मिलते हैं। पर सब-कुछ होते हुए भी. रस की सृष्टि किये बिना कविता की सार्थकता ही नहीं है। 'काँगड़े की छोरियाँ' अच्छी है पर उसमें कोई ऐसी मौलिक नवीनता नहीं है कि वह नयी कविता का प्रतिनिधित्व कर सके। अन्य रचनाओं में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : श्री धर्मवीर भारती की दोनों कविताएँ, श्री गिरजाकुमार माथुर की 'तैंतीसवीं वर्ष गाँठ', श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की 'हस्ताक्षर' और 'आत्म-परिचय' (कुछ 'जान-बूझकर उतारी गई' विचित्रताओं के बावजूद), श्री नरेश मेहता की सुन्दर कविता 'पीले फूल कनेर के', श्री रघुवीरसहाय की 'आज फिर', श्री श्याममोहन श्रीवास्तव की कविता 'संकल्प', श्री कुँवरनारायण की 'जाड़ों की एक दोपहर' आदि। श्री सर्वेश्वरदयाल की कविताएँ 'खाली समय में' और 'लिपटा रजाई में' अच्छी हैं, पर उनकी नवीनता, मात्र शैली की नवीनता, उससे गहरी नहीं है।

'किंचित् कविता' खण्ड में जो भँड़ैतो के नमूने दिये गए हैं उनकी ओर आलोचकों का ध्यान गया है, पर उन पर गम्भीरतापूर्वक आलोचना समय का अपव्यय-मात्र है। किसी से मनोरंजन हो पाता है, किसी से नहीं। पर इनकी संख्या बहुत अधिक है। मुक्त छन्द में भँड़ैतो बहुत ही आसान हो जाती है। मज़ाक़ गद्य की शक्ल में न लिखकर उसकी नयी कविता सरीखी आकृति बना दें तो वह क्या कविता हो गई ?

अन्त में, इस पर ज़ोर देकर कि 'नयी कविता' में प्रकाशित करने के लिए रचनाओं के चयन में अधिक सावधानी और कड़ाई की जाय, मैं सम्पादकों से फिर कहूँगा कि वे अपने प्रकाशन में नयी कविता की व्याख्या की ओर अधिक ध्यान दें। यह आवश्यक है कि हिन्दी-जगत् इस पर विचार करे और इसके विषय में हम एक निष्कर्ष पर पहुँचें कि नयी कविता क्या है ? इस समय तो जाकी रही भावना जैसी, यह कविता देखी तिन तैसी।[1]

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

डॉ० जगदीश गुप्त

तीन नये काव्य-संग्रह : 'बावरा अहेरी', 'रात बीती', 'धरती और स्वर्ग'

हिन्दी कविता के क्षेत्र में पिछले वर्ष जो काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए उनमें 'अज्ञेय' का 'बावरा अहेरी', बालकृष्ण राव का 'रात बीती', और डॉ० देवराज का 'धरती और स्वर्ग' कई दृष्टियों से प्रमुख स्थान रखते हैं। इनका प्रकाशन एक ऐसे युग में हुआ है जब कविता नये धरातल को खोजती

1. 'नयी कविता', सम्पादक : डॉ० जगदीश गुप्त, श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी। कविता प्रकाशन प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई नवीन सन्तुलन ग्रहण करने में संलग्न है इसीलिए इनके मूल्यांकन के साथ यह प्रश्न सहज रूप से उभर आता है कि इस सन्तुलन को घटित करने में इनका वास्तविक योग क्या है? यहाँ इनका मूल्यांकन मुख्यतया तीन आधारों पर किया गया है। एक है कथन की सहज भाव-संकुलता (natural emotivity), दूसरा कलात्मक संयम (artistic restraint) से युक्त कृतित्व-शक्ति (creative power) और तीसरा सशक्त रचनाओं की संख्या।

कोई भी कविता भाव से सम्बद्ध होने-मात्र से भाव-संकुल नहीं हो जाती। इस तत्त्व का सम्बन्ध सीधे-सीधे मूल अनुभूति की शक्ति से है। अधिक सशक्त अनुभूति अधिक भाव-संकुल काव्य को जन्म देगी किन्तु जब मैं 'सहज भाव संकुलता' की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय अनुभूति से न होकर 'काव्यानुभूति' (poetic feeling) से है। 'अनुभूति' और 'काव्यानुभूति' के बीच स्पष्ट अन्तर है। अनुभूति किसी-न-किसी प्रकार सबको होती है, कवि को भी, किन्तु काव्यानुभूति, जिसके अन्तर्गत रूप-विधान और अभिव्यंजना की मातृ-शक्ति निहित रहती है, कवि की निजी विशेषता है। यह सहज और कृत्रिम दोनों ही रूप में व्यक्त हो सकती है। जब काव्यानुभूति मूल अनुभूति के समानान्तर आन्तरिक सूक्ष्म सन्तुलन को बिना छेड़े सारी कलात्मक प्रक्रिया को स्वभावतः अपने भीतर समाहित करती चलती है तो वह उसकी सहज स्थिति होती है, किन्तु जब यह सूक्ष्म आन्तरिक सन्तुलन टूट या विकृत हो जाता है तो रचना का निर्वाह करने के लिए कृत्रिमता का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसी दशा में मूल अनुभूति और काव्यानुभूति का अन्तर बढ़ता-घटता रहता है और परिणामस्वरूप जो भाव-संकुलता आती भी है वह कृत्रिम ही होती है। 'बावरा अहेरी' की कविताओं का स्रष्टा अनुभूति के क्षण को तथा काव्यानुभूति के प्रवाह को परखने और आँकने में अधिक सक्षम है। उसके आगे ऐसी स्थिति कदाचित् नहीं आती कि वह 'रात बीती' के कवि की तरह काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में अपनी विजय के परिमाण को नापता हुआ घोषित करे—'····परिस्थिति और वातावरण पर काव्य-प्रेरणा जिस परिमाण में विजय पा सकी, उसी परिमाण में 'पद्य-कृति' कविता बन सकी।' सी० बी० राव की रचनाओं को पढ़ने पर बराबर ऐसा लगता है जैसे अनुभूति के उक्त दोनों रूपों के बीच एक अन्तर प्रायः सर्वत्र बना रहता है। डॉ० देवराज की कविताओं में इस अन्तर का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अधिकांश स्थलों पर उनकी अनुभूति काव्यानुभूति में परिणत होते-होते रह जाती है। इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण अपेक्षित हैं।

'बावरा अहेरी' की इसी शीर्षक की कविता की कुछ पँक्तियाँ इस प्रकार हैं :

> भोर का बावरा अहेरी
> पहले बिछाता है अलोक की
> लाल लाल कनियाँ
> पर जब खींचता है जाल को
> बाँध लेता है सभी को साथ :

'रात बीती' की सबसे पहली कविता 'दो चित्र' की प्रारम्भिक तीन पंक्तियाँ यह हैं :

> डूबता है चाँद, तारे मुँह छिपाते,
> काँपते, हारे, थके, सहमे हुए-से—
> क्योंकि अब सूरज निकलने जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त दोनों कविताओं की दिशा, प्रकार, धरातल और उक्ति-विधान सभी कुछ एक दूसरे से अलग है—थोड़ी-सी वस्तुगत समानता को छोड़कर, तो भी दोनों कवियों की भावात्मक प्रक्रिया की थोड़ी-बहुत तुलना की जा सकती है। 'अज्ञेय' की पंक्तियों में उक्ति-विधान के बावजूद वस्तु के प्रति एक आत्मीय तरलता है जब कि सी० बी० राव उक्ति का निर्माण कुछ-कुछ तटस्थ भाव से करते प्रतीत होते हैं। कलात्मक पूर्णता के लिए एक प्रकार की तटस्थता भी अपेक्षित होती है किन्तु भाव-संकुलता (emotivity) के मूल्य पर नहीं। 'रात बीती' की अधिकांश कविताएँ इसी प्रकार सूक्तिमूलक हैं जिनमें कवि के अनुभूतिशील व्यक्तित्व से सूक्तिकार का व्यक्तित्व लगभग असम्पृक्त किन्तु अधिक सचेष्ट दिखाई देता है। बहुत सी पंक्तियों की सार्थकता भाव में न होकर केवल उक्ति में निहित मिलती है। पर 'अज्ञेय' का वस्तु-संगठन सूक्ति-गर्भित होते हुए भी भाव-तत्त्व को आत्मसात् करता हुआ उसीसे उपजता लगता है। इसी तरह उनकी एक दूसरी कविता है 'प्रथम किरण'; जिसमें 'वन पाखी' प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है फिर भी उससे कवि का आत्मीय सम्बन्ध साफ़ झलक उठता है। इस 'वन पाखी' से डॉ० देवराज की 'काला मुखड़ा, पीठ व गर्दन' वाली 'ओ चिड़िया, जंगल की चिड़िया !' की तुलना करने पर काव्यानुभूति का अन्तर सहज ही प्रकट हो जाता है। 'धरती और स्वर्ग' में ही ऐसी अनेक रचनाएँ हैं जो काव्यानुभूति की दृष्टि से इस कविता से श्रेष्ठतर हैं।

दूसरा आधार है 'कलात्मक संयम से युक्त कवित्व-शक्ति' का, जिसके द्वारा काव्यानुभूति शरीर धारण करके संवेद्य तथा प्रेषणीय बनती है। कवित्व-शक्ति के होते हुए भी कलात्मक संयम के अभाव में अभिव्यक्ति फैल सकती है, बिखर सकती है और कभी-कभी विकेन्द्रित अथवा विश्रृंखलित होकर असुन्दर भी लग सकती है। अज्ञेय की कविताओं में संयमन की वृत्ति एक अन्तर्भूत तत्त्व की तरह निहित मिलती है जो कला की दृष्टि से अब तक की नई कविता के सम्पूर्ण क्षेत्र में अद्वितीय कही जा सकती है। रचना के समस्त अंगों पर कवि की दृष्टि रहती है और प्रत्येक शब्द एक विशिष्ट अभिव्यंजना-प्रणाली के अनुरूप अपनी सार्थकता सिद्ध करता चलता है। कविता पढ़ते समय एक सधे हुए शिल्पी के कृतित्व का बोध होता है। इस कलात्मक कसाव के प्रयत्न में कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है जैसे मूल भाव की नसें आवश्यकता से अधिक खिंच गई हों। शब्दों को अभीप्सित अर्थ के अनुरूप वाक्यांशों में साधकर रखने की प्रवृत्ति कवि को कुछ ऐसे शब्दों तक ले जाती है जो ठेठ देशज, साधारणतया कविता में अप्रयुक्त और कभी-कभी ग्रामीण तथा अनगढ़ भी होते हैं। 'मचिया', 'अँजुरी', 'पौन', 'अलसानी', 'टिमक', 'पुहुप', 'झोंप', 'मतियाया', 'लील', 'विस्वास', 'अकास', 'हेरा गयीं', आदि बीसों शब्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग, (निश्चय ही इसमें प्रयोगशीलता का भाव रहता है) कलात्मक उद्देश्य से होने के कारण अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। यह नई अभिव्यक्ति को जन्म देने के लिए आवश्यक भी है परन्तु इनकी अधिकता प्रेषणीयता में बाधक भी हो सकती है। अज्ञेय न केवल शब्दों के प्रति वरन् वाक्यांशों के क्रम और पंक्चुएशन के चिह्नों तक के सम्बन्ध में विशेष जागरूक रहते हैं। 'रात बीती' का कवि भी अपनी रचनाओं में इस बात के प्रति सजग दिखाई देता है कि कम-से-कम शब्दों में वह अपने अभिप्राय को व्यक्त कर दे। वस्तुतः सी० बी० राव का ध्यान नये अर्थ को सँवारने और समाहित करने की ओर उतना नहीं रहता है जितना कि नई बात (अनुभव के नये खण्ड) को नये ढंग से कहने की ओर। पुराने शब्दों से अपना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम चलाने के वे अभ्यासी प्रतीत होते हैं। उनकी कला की सार्थकता कृतित्व-शक्ति की अपेक्षा अभिप्राय को सधे ढंग से कुछ चुटीला बनाते हुए व्यक्त कर देने में है। डॉ० देवराज का ध्यान भी नये अर्थ को सँवारने की ओर कम रहता है इसीलिए उनकी रचनाओं से वह कलात्मकता कम मिलती है जो नये कवि की कृतित्व-शक्ति को प्रकट करती है। कला का जो भी रूप उनकी रचनाओं में परिलक्षित होता है उसमें आधुनिक के साथ मध्यकालीन मनोवृत्ति का मिश्रण मिलता है।

तीसरे आधार को स्पष्ट करने से पूर्व प्रत्येक संग्रह की कविताओं पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार कर लेना आवश्यक है।

'बावरा अहेरी' सन् १६४६ में प्रकाशित 'हरी घास पर क्षण भर' के पाँच वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। इसमें '५० से लेकर '५३ तक की कविताएँ संग्रहीत हैं। भूमिका इसमें है नहीं, अतः कवि को इस संग्रह की कविताओं के सम्बन्ध में क्या कहना है यह अज्ञेय ही रहा है। प्रकाशक ने अवश्य घोषित किया है कि "...'हरी घास पर क्षण भर' के बाद की ये कविताएँ उनकी साहित्यिक प्रगति की परिचायक हैं। उनकी काव्य-अभिव्यंजना का सारा सौन्दर्य और माधुर्य इनमें है। एक जागरूक कवि की ये कविताएँ हिन्दी-कविता-साहित्य में अप्रतिम हैं...।"

जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है, इसमें संग्रहीत कविताओं का कलात्मक सौन्दर्य और भाव-गरिमा असंदिग्ध है, किन्तु क्या यह संग्रह अज्ञेयजी के कवि-व्यक्तित्व को आगे ले जाता है, 'उनकी साहित्यिक प्रगति' का परिचय देता है, यह प्रश्न विचारणीय है? क्या पिछले पाँच वर्ष के बाद हम उनसे इससे भी अधिक प्रौढ़ तथा अधिक समृद्ध काव्य-कृति की आशा नहीं करते थे। कुछ लोगों की तो निश्चित धारणा है कि 'हरी घास पर क्षण भर' की तुलना में, सब पक्षों को दृष्टि में रखते हुए 'बावरा अहेरी' उत्कृष्टतर कृति नहीं है। मैं इस मत से पूरी तरह सहमत नहीं हूँ, क्योंकि इस संग्रह में कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जिनके समकक्ष, भाव और कलात्मक प्रौढ़ता की दृष्टि से कवि की पिछली कोई रचना शायद ही रखी जा सके। 'बावरा अहेरी' की कविताएँ कई वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं। प्रथम वर्ग में 'आज तुम शब्द न दो', 'प्रथम किरण', 'वर्षान्त', 'देहवल्ली', 'यह दीप अकेला', 'शोषक भैया', 'विज्ञप्ति दफ्तर : 'शाम', 'झरने के लिए' और 'जो कहा नहीं गया' शीर्षक कविताएँ आती हैं; जिनमें कवि का जीवन-दर्शन और चिन्तन मानवीय सत्य को सहज रूप में ग्रहण करने की वृत्ति के साथ उभरकर सामने आया है। इस संग्रह की पहली और अन्तिम कविता के स्वर में एक विचित्र समानता है किन्तु वह आकस्मिक प्रतीत नहीं होती। ऐसा लगता है जैसे ये सारी रचनाएँ एक विशिष्ट मनःस्थिति में लिखी गई हैं जब कवि के आगे गहन अनुभूति और नये अभिप्राय को सशक्त रूप में व्यक्त करने की समस्या सर्वप्रमुख रही है। यह समस्या दोहरी है। न केवल ज्ञात अर्थों के लिए शब्दों का अभाव है, असमर्थता है, वरन् उन अर्थों को जानने की भी आकांक्षा है जो शब्दातीत हैं।

> आज तुम शब्द न दो, न दो
> कल भी मैं कहूँगा।
> ....
> गति जहाँ सब कुछ है, तुम धृति पारमिता
> जीवन के सहज छन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हें पहचानता हूँ
माँगो तुम चाहे जो : माँगोगे, दूँगा
तुम दोगे जो सहूँगा ।[1]
है, अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया ।
....

उस विशाल में मुझसे
बहा नहीं गया ।
इसलिए जो और रहा, वह
कहा नहीं गया ।
शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं ।[2]

अभिव्यक्ति और आकलन की यह दोहरी समस्या इतनी गहन है कि इसका दर्द कवि को असह्य है। अभिव्यंजना की कठिनाई पुरानी वस्तु है; किन्तु उसमें एक वेदना निहित है यह आधुनिक युग के नये कवि ने अनुभव किया है। यह वेदना छायावाद-युग की रहस्यात्मक विरह-वेदना से सर्वथा भिन्न और गम्भीरतर है ।

पूर्वोक्त चिन्तन-प्रधान कविताओं में अतिशय यान्त्रिकता के बोझ से विकृत होते हुए जीवन के प्रति संवेदना, मृत्यु को अन्तिम विराम-चिह्न मानते हुए 'सिहर झरने' का सन्देश तथा व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता को रक्षित रखते हुए भी जन-जीवन की धारा में उसे समर्पित कर देने और उसीमें उसकी चरम सार्थकता मानने की भावना प्रमुख है जन-जीवन और व्यक्ति के बीच एक सन्तुलन खोजने की समस्या इस युग की सबसे बड़ी समस्या है। आज का कोई भी प्रबुद्ध कलाकार इससे बचकर नहीं रह सकता। 'बावरा अहेरी' की कई रचनाओं में इसका संकेत है किन्तु इससे पूर्व 'हरी घास पर क्षण भर' में भी यह समस्या कवि के सामने रही है। उदाहरणार्थ 'नदी के द्वीप', 'कवि, क्या हुआ फिर', 'सपने मैंने भी देखे हैं' तथा 'कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति !'-जैसी कविताओं के नाम लिये जा सकते हैं। इनकी कुछ पंक्तियाँ तो इस प्रश्न को अत्यन्त स्पष्ट रूप में सामने रखती हैं। जैसे :

अपने से बाहर आने को छोड़ नहीं आवास दूसरा[3]
अथवा
नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को देने स्वयं का दान
विश्व-जन की अर्चना में नहीं बाधक था कभी इस व्यक्ति का अभिमान[4]

किन्तु जिस रूप में इसको यहाँ प्रत्यक्ष किया गया है उसमें कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व आबद्ध होता नहीं लगता। ज्ञात होता है जैसे प्रत्यक्षकर्ता प्रश्न के तट पर खड़ा है उसकी प्रखरता की धार में डूबा-उतराया नहीं है। 'बावरा अहेरी'में की कतिपय कविताओं में जिस रूप में यह प्रश्न

१. संग्रह की प्रथम कविता से ।
२. संग्रह की अन्तिम कविता से ।
३. सपने मैंने भी देखे हैं, से ।
४. कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति ! से ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उभरकर आया है उससे प्रतीत होता है जैसे वह कवि के अस्तित्व में समाहित होकर उसका एक अंश बन गया है। व्यक्तिगत स्नेह-अहंकार को वह अब तक जीवन का सबसे बड़ा मूल्य मानता हुआ उसकी वास्तविक महत्ता को खोज रहा था; जो उसे मात्र आत्मस्थ होने पर नहीं उपलब्ध हो सकी थी। 'यह दीप अकेला' शीर्षक कविता, जिसे मैं इस संग्रह की श्रेष्ठतम कविताओं में से एक मानता हूँ, ऐसी मनःस्थिति में लिखी गई है जब उसने एक मूल्य से ऊपर उठकर—त्यागकर नहीं—दूसरे मूल्य को स्वीकार कर लिया है। व्यक्ति के स्नेह-अहंकार की सार्थकता उसने पंक्ति (सुशृङ्खलित समाज) के आगे अर्पित हो जाने में मान ली है :

> यह दीप अकेला स्नेह-भरा
> है गर्व भरा मदमाता, पर
> इसको भी पंक्ति को दे दो।

तथाकथित जनवादियों ने इस भावना को पग-पग पर व्यक्त किया है—पर नारे के रूप में, बिना गहन आत्म-मंथन के, बिना आन्तरिक उपलब्धि के; फलतः बार-बार दोहराई जाकर भी वह अब तक निष्प्राण ही रही। शोषकों की सैद्धान्तिक रूप से भर्त्सना करने वालों की एक भी कविता ऐसी नहीं मिलती जिसमें शोषकों के प्रति इतना तीखा व्यंग्य आ सका हो जितना इस संग्रह की 'शोषक भैया' कविता में। इन कविताओं के आधार पर यदि यह कहा जाय कि ये उच्चतर मानसिक धरातल को व्यक्त करती हैं तो सही ही होगा। 'दीप' के इस प्रतीक को 'द्वीप' (नदी के द्वीप) के प्रतीक से मिलाकर देखने पर भी यही परिणाम निकलता है, क्योंकि इसे उसकी तरह 'यदि' और 'तो' की बैसाखियों पर टिकाने का प्रयास नहीं किया गया है। 'बावरा अहेरी' में एक और कविता है 'प्रथम किरण', जिसका उल्लेख पहले भिन्न प्रसंग में हो चुका है, उसमें भी, 'अपने छोटे छन' की 'गरिमा महिमा' वनपाखी के माध्यम से पृथक् आकलित करते हुए 'जन-जीवन' के आगे प्रणत होकर अपनी मानसिक, शारीरिक सभी साधना सहज भाव से अर्पित की गई है। यह स्वर प्रयोगशील कविता पर लगाये गए संकीर्ण व्यक्तिवादिता के आरोप को भ्रामक सिद्ध करता है! जो लोग जन-जीवन की उपासना व्यक्ति की बलि देकर करना चाहते हैं उनका पथ दूसरा है; वे रक्त-क्रान्ति में विश्वास करते हैं, किन्तु जो आत्म-प्रेरणा से जन-जीवन के आगे अर्पित होने को श्रेयस्कर समझते हैं, उनका भी अपना एक मार्ग है।

दूसरे वर्ग में उनकी वे कविताएँ आती हैं जिनमें उनका कलाकार उभरकर सामने आया है। 'हवाई यात्रा' तथा 'बावरा अहेरी'-जैसी कविताएँ इस बात को व्यक्त करती हैं कि 'अज्ञेय' की कल्पना सावयव प्रतीकों (symbols) और प्रतिभाओं (images) के निर्माण में विशेष सक्षम है। यह उसी कवि में सम्भव है जिसका रूप-बोध परिष्कृत हो और तन्त्र-कौशल भी विशिष्ट हो। उत्तर छायावादी युग के कवियों में, यह गुण उनमें सर्वाधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। उनकी ऐसी कविताओं में प्रायः एक आन्तरिक ढाँचा (structure) होता है जो काव्यानुभूति में निहित रूप (form) का ही अंग होता है और क्योंकि कविताओं की उत्कृष्टता में वे उदात्तीकरण अथवा घनत्व (sublimation or intensification) की अपेक्षा इस तत्त्व पर विशेष बल देते हैं इसीलिए उन्हें रूपवादी या 'फार्मलिस्ट' कहा जाता है। मैं इसे अनुचित नहीं मानता। उनकी इस प्रकार की रचनाओं का गहन विश्लेषण होना चाहिए; जो यहाँ सम्भव नहीं है। यों यदि हर्बर्ट रीड का आधार लेकर कहा जाय तो उनकी कविताओं में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकतर 'organic form' ही रहता है।[1]

तीसरे वर्ग में 'घास फूल धैर्य का', 'ऊगा तारा', 'तारा दर्शन', 'सन्ध्या तारा', 'खद्योत-दर्शन', 'शरद की साँझ के पंछी' और 'वसन्त की बदली'-जैसी कई कविताएँ आती हैं जिनमें प्रकृति की लघु-लघु, उपेक्षित एवं नगण्य वस्तुओं से आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हुए प्रकृति की विशालता में आत्म-विलय, जिसे दूसरे रूप में आत्मोपलब्धि भी कहा जा सकता है, की भावना प्रधान है। 'हरी घास पर क्षण भर' में कवि अपने इस 'प्रकृतिवाद' को उपेक्षा भाव से देखने वाली दृष्टि के प्रति व्यंग्यशील दिखाई देता है :

प्रकृतिवाद है स्खलन
क्योंकि युग जनवादी है

उस संग्रह में भी 'कलगी बाजरे की' और 'मैले उपमान' आदि कई ऐसी कविताएँ हैं जो प्रकृति की बाँहों में खोये हुए कवि के हृदय से निकली हैं। प्रकृति के प्रति कवि का सख्य-भाव रहा है। 'बन्धु हैं नदियाँ' में उसने स्पष्टतः कहा है 'प्रकृति भी बन्धु है'। मानवीय जीवन को देखते समय सहज भाव से नैसर्गिक रमणीयता के प्रतीकों को लेना अज्ञेय के कवि-व्यक्तित्व की एक प्रमुख विशेषता है। 'बावरा अहेरी' की उक्त रचनाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि कवि प्रकृतिवाद को अपनाते हुए भी उसके कारण अब जनवाद के प्रति व्यंग्य नहीं करता वरन् वहाँ भी उसने एक समन्वय और सन्तुलन की स्थिति पाने का प्रयत्न किया है। इस स्थल पर मैं फिर 'प्रथम किरण' शीर्षक कविता का उल्लेख करूँगा : क्योंकि उसमें अज्ञेय की व्यक्तिवादी, प्रकृतिवादी तथा नवविकसित जनवादी, तीनों प्रकार की चेतना का संगम मिलता है। इससे भी मेरी यह स्थापना प्रमाणित होती है कि 'बावरा अहेरी' भावना की दृष्टि से कवि के विकसित मानस की रचना है और कला के प्रश्न को भी इससे नितान्त असम्बद्ध नहीं माना जा सकता।

प्रकृति की क्रोड़ में विमुग्ध होकर लिखी हुई इन रचनाओं के साथ ही 'वह नाम' और 'वहाँ रात'-जैसी कविताएँ भी मिलती हैं जो व्यक्तिगत स्नेह भाव से अनुप्रेरित होकर लिखी गई हैं। रागात्मकता का स्तर दोनों प्रकार की कविताओं में प्रायः समान ही है जिससे सिद्ध होता है कि कवि को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में संतरण करते हुए किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती। लगता है जैसे उसका व्यक्तित्व दोनों क्षेत्रों के बीच सम्बन्ध-सेतु हो। जो लोग आज भी अज्ञेय को कवि मानने से इन्कार करते हैं उनको भी, मैं सोचता हूँ, इन कविताओं का भाव-तारल्य असम्पृक्त न छोड़ेगा।

अज्ञेय ने मौज में आकर कुछ हल्की Ticklish कविताएँ भी लिखी हैं जो उनके कवि-व्यक्तित्व के गौरव को तो नहीं बढ़ातीं पर उनकी अहेरी मनोवृत्ति को अवश्य व्यक्त करती हैं। 'काँगड़े की छोरियाँ' इसी कोटि में आती है। कुछ इसी तरह की मनोवृत्ति से देव कवि ने

1. हर्बर्ट रीड ने कविता के रूप (form) का विश्लेषण करते हुए उसके दो विभाजन किये हैं। एक organic और दूसरा abstract. पहले का लक्षण इस प्रकार है—'When a work of art has its own inherent laws, originating with its very invention and fusing in one vital unity both structure and content, then the resulting form may be described as organic. Page 19, Collected Essays in Literary Criticism.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जातिविलास' लिख डाला। जो भी हो ऐसी कविताओं के जीवन्त सौन्दर्य से इन्कार नहीं किया जा सकता।

कुछ स्थल इस संग्रह में ऐसे भी हैं जहाँ अर्थ की संगति नहीं बैठती। इस सम्बन्ध में एक ही उदाहरण पर्याप्त है। 'तडित् दर्शन' नामक कविता को हर तरह से समझ-बूझकर अगणित बार पढ़ने पर भी मैं यह नहीं समझ पाया कि इसका यह शीर्षक क्यों है? सारी बात आकाश में दूरस्थ तारों के सम्बन्ध में कही गई है। 'खद्योत दर्शन' और 'उषा दर्शन' में, जो इसी टाइप की कविताएँ हैं, शीर्षक और वस्तु की ऐसी असंगति नहीं मिलती। कवि ने जान-बूझकर असंगति से कोई अर्थ उत्पन्न करना चाहा हो ऐसा मुझे नहीं लगता।

'रात बीती' प्रमुख रूप से सॉनेट-संग्रह है। कवि ने अपने वक्तव्य में सॉनेट-रचना-सम्बन्धी जो अनुभव और मान्यताएँ व्यक्त की हैं वे विचारणीय हैं; क्योंकि काव्य-रूप के प्रति सजगता आज के जागरूक कवि की एक विशेषता है। कथन का नयापन और मनःस्थिति का भिन्न धरातल पुराने जड़ीभूत, एकरस काव्यरूप को सह नहीं पा रहा है इसका प्रमाण इस संग्रह की कविताओं में मिलता है। कवि अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम को पूर्व-निश्चित नहीं मानता; वह अधिकाधिक स्वतन्त्र होकर उसे ग्रहण करना चाहता है—निश्चय ही यह स्वतन्त्रता उछृङ्खलता नहीं है—इसीलिए उसे सॉनेट के लिए 'चौदह लाइनों का बन्धन' और तुक-विधान अमान्य है। यह बात कवि की सामर्थ्य को घोषित करती है कि वह इन बाह्याकारों की सीमाओं को त्यागकर भी अपने अभिप्राय को स्पष्ट, संयत और सन्तुलित रूप में व्यक्त करने में बहुधा सफल हुआ है और कुछ उक्तियों में विशेष शक्ति-संचार कर सका है। इस दृष्टि से 'भाड़ा गाड़ी' 'सर्प', 'बादल से', 'मुग्धा का स्वप्न-भंग', 'रात बीती'-जैसे सॉनेटों का नाम लिया जा सकता है। नये युग के कवियों ने जिन विदेशी काव्य-रूपों को अपनाया है उनमें सॉनेट प्रमुख है। हिन्दी में माचवे, त्रिलोचन आदि कई कवियों ने सॉनेट लिखे हैं। हिन्दीतर भाषाओं में गुजराती कवियों ने कदाचित् इसका सर्वाधिक प्रयोग किया है। बलवन्तराव ठाकुर तो अपने सॉनेटों और उर्मि-गीतों के लिए ही विशेष रूप से विख्यात हैं। परन्तु जहाँ तक 'रात बीती' के कवि का सम्बन्ध है उसका सम्बन्ध कवित्त-सवैया की पुरानी परम्परा से भी रह चुका है जिसमें सारे छन्द का निर्माण प्रायः किसी एक उक्ति को आधार-रेखा मानकर होता है। पहले तीन चरण अन्तिम चरण की नींव पर किन्तु उसे ऊपर उठाने के लिए रचे जाते हैं। सी० बी० राव के इन सॉनेटों की रचना-प्रक्रिया का यही पैटर्न है। कवि के ही शब्दों में :

"कहने की बात एक हो, उस बात को उठाकर बीच में उसका स्पष्टीकरण किया जाय और अन्त में एक चमकती, चुभती-सी बात से उसका निर्वहण कर दिया जाय।"

उसकी इस रचना-विधान की सीमाओं का संकेत प्रारम्भ में किया जा चुका है। कविता तटस्थ भाव से किया हुआ किसी 'बात का निर्वहण'-मात्र नहीं है, वह कवि के सम्पूर्ण भावमय कलाकार व्यक्तित्व का घनीभूत, निविड़ किन्तु सहज संकुलन-आकलन है।

'रात बीती' का कवि गीतकार भी है। यही नहीं हिन्दी में 'गीत' के दुरुपयोग के प्रति वह चिन्तित और खिन्न है। अपने संग्रह में उसने रखे तो कई गीत हैं परन्तु इस संज्ञा का ताज केवल एक ही रचना के शीश पर रखा है। इसकी पहली पंक्ति है 'गीत यदि गा दे।' गीति-तत्त्व के अतिरिक्त यदि 'गीत' शब्द आ जाना इसकी श्रेष्ठता का कारण न हो तो कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है कि 'दीपक मन्द न हो' शीर्षक रचना श्रेष्ठतर गीत है और इस संग्रह में वह 'गीत' के गौरवमय पद की अधिक उपयुक्त अधिकारिणी है।

सी० बी० राव की कुछ कविताओं में यत्र-तत्र जीवन के अन्तर्संघर्ष को निर्भीक होकर ग्रहण करने का प्रयत्न परिलक्षित होता है। सत्य की नग्नता तथा कटुता के आगे कवि पराजित नहीं हुआ है वरन् उसने उन्हें आत्मसात् करके एक मानसिक दृढ़ता प्राप्त की है। रहस्यवादियों की तरह साधना को ही उसने जीवन का साधन स्वीकार किया है :

आमरण
अनिवार्य जीवन;
साधना स्वयमेव साधन।

'सर्प' और 'परिवर्तन' शीर्षक रचनाओं में उसने इस 'साधना' से मिलते-जुलते शब्द 'भक्ति' को केन्द्र में रखकर अपनी बात कहनी चाही है। कवि भक्ति को 'निष्कलुप-अचंचल' मानते हुए 'बदले ऋतु के साथ गगन भी' का सन्देश देता है। इस तरह के सारे कथन एक छायावादी भावुकतापूर्ण शैली की याद दिलाते हैं। कवि ने साहसपूर्वक स्वीकार कर लिया है कि 'इस संग्रह की कुछ कविताओं में छायावाद की झलक है; विशेषतः पुरानी रचनाओं में। मैं अपनी रचनाओं को छायावाद के प्रभाव से बचाने का प्रयत्न नहीं करता और न करना चाहता हूँ।' इस स्पष्ट स्वीकृति के साथ छायावाद के सम्बन्ध में जो धारणाएँ व्यक्त की गई हैं वे बहुत-कुछ सही प्रतीत होती हैं।

'धरती और स्वर्ग' की भी कतिपय कविताओं में कुछ तत्त्व ऐसा है जो उन्हें इस समय के काव्य में व्यक्त होने वाली प्रमुख भाव-धारा से अलग कर देता है। कवि ने उसे 'अध्यात्मवाद से अछूती 'रोमांटिसिज्म' की गन्ध कहा है। यह उसकी स्पष्टवादिता है किन्तु इससे पूर्व उसने अनुमान से ही सही, एक स्थापना की है कि 'यूरोप तथा इस देश में भी नया काव्य शीघ्र ही रोमांटिक प्रतिक्रिया को जन्म देगा। लोक-गीतों की बढ़ती हुई चर्चा इसका संकेत है।' कथन के दोनों सिरों को मिलाने पर यह निष्कर्ष आसानी से निकल आता है कि कवि अपने को आगामी 'रोमांटिक प्रतिक्रिया' के अग्रणी रूप में रखना चाहता है। अँगरेजी कविता में 'थर्टीज' के कवियों के उद्भव के साथ लुई मैकनीस-जैसे कुछ कवियों की कविताओं में 'नियोरोमांटिक' भावना का उदय हुआ अवश्य था, परन्तु हिन्दी में यह प्रतिक्रिया किस रूप में घटित होगी यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि अभी तो वर्तमान आन्दोलन की क्रिया ही चल रही है। फिर डॉ० देवराज की कविताओं में जो रोमांटिक भावना मिलती है उस पर मध्यकालीन प्रेम-भावना की स्पष्ट छाया है जिसका संकेत प्रारम्भ में किया जा चुका है :

दूर खड़े मुस्करा रहे हैं वह,
बिजलियाँ फिर गिरा रहे हैं वह;
मैं शपथ ले चुका न जाने की,
पास फिर क्यों बुला रहे हैं वह?

कुछ कविताओं में आधुनिक प्रेम-भावना भी मिलती है। जैसे : 'मैं समझता था....।' इस तरह की कविताएँ अपेक्षाकृत सुन्दर और कवि के अनुभूति-पक्ष को अधिक संवेद्य रूप में व्यक्त करती हैं। रोमांटिक भावों के अतिरिक्त कवि का आकर्षण वात्सल्य की ओर भी है। खड़ी बोली के कम ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि इससे उन्मुख हुए हैं। 'शशि' 'बधाई', तथा 'मा समीप लेटी है आकर' इत्यादि कविताओं में शिशु-प्रेम का वर्णन किया गया है। किन्तु कहीं-कहीं कवि के पास शिशु-सौन्दर्य के चित्रण में उपयुक्त शब्दों का अभाव बुरी तरह खटकता है—

उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों को लिया जा सकता है :

विकसित प्रसन्न शुचि गंडफलक,
कुछ खुले सरस वे रदनच्छद;

संस्कृत-शैली के समासगर्भित पदों के प्रति कवि का इतना मोह न जाने क्यों है। सीधी सरस शब्दावली के बीच अचानक वह एक शब्द ऐसा रख देता है जिससे सारे भाव-प्रवाह को ठेस पहुँचती है :

खिले खोये कौन-सी नभ-दीर्घिका में पा सकी तुम ?

यह प्रवृत्ति बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि और भी कई हिन्दी-कवियों में मिलती है। इससे कहीं भी यह सूचित नहीं होता कि कवि भाषा में नई अभिव्यंजना-शक्ति लाने की चेष्टा कर रहा है। आज कविता की भाषा एक दूसरे ही रूप में भाव-शक्ति अर्जित कर रही है जिसके समक्ष यह सब अजीब-सा लगता है। साँस को 'वक्ष की अभिमुख पवन' कहना अब वह काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न नहीं करता जो नये कवि का इष्ट है।

'धरती और स्वर्ग' के कवि का झुकाव जीवन की वर्तमान परिस्थितियों को काव्यानुबद्ध करने की ओर भी है। इस संग्रह की बहुत-सी कविताएँ आधुनिक युग की समस्याओं को लेकर लिखी गई हैं। डॉ० देवराज हिन्दी के एक चिन्तनशील समालोचक हैं, दर्शन-शास्त्र के मनस्वी अध्येता एवं अध्यापक हैं तथा उपन्यासकार होने के नाते जीवन को अनेक पहलुओं से गहराई के साथ देखने की शक्ति भी उनमें है। ऐसी दशा में उनसे सहज ही आशा की जा सकती है कि वे समस्यामूलक कविताओं में अधिक गहरे जा सकेंगे; परन्तु 'क्लर्क', 'इतिहास का निर्माण अभी बाकी है', 'कविवर ! क्या गाते हो ?'-जैसी कविताओं को देखने से लगता है जैसे कवि ने यथार्थ का स्पर्श तो किया है लेकिन उसे वह यथोचित रूप से गम्भीर एवं संवेद्य नहीं बना सका है। कविवर को व्यंग्यात्मक ढंग से सम्बोधित करके डॉ० देवराज ने 'भारतीय जन की मूक व्यथा, कष्ट-कथा' का चित्रण प्रगतिवादी दृष्टिकोण से किया है। इसके साथ उनकी 'अध्यात्मवाद से अछूती' रोमाण्टिक भावना की संगति कहाँ तक बैठती है यह सोचने की बात है। 'अखबार' शीर्षक कविता में संसार की व्यापक गति-विधि से व्यक्ति का आज कितना घना सम्बन्ध हो गया इसका सफल निर्देश है। इसी तरह 'ये बच्चे' और 'जन्म-दिन' शीर्षक कविताओं में वर्तमान पूँजीवादी सभ्यता के अभिशाप से उत्पन्न आर्थिक वैषम्य का स्पष्ट अंकन है। 'एक्ट्रेस' और 'सोसायटी गर्ल' में आधुनिक युग की नारी के दो रूप चित्रित किये गए हैं। जो उसकी बाह्य सज्जा के भीतर घटित होने वाले आत्मविघटन को व्यक्त करते हैं। इन सभी कविताओं में कवि का भावात्मक धरातल काफ़ी ऊँचा दिखाई देता है पर जब हम उसकी 'नाश और निर्माण'-शीर्षक एक विशाल कैनवस को लेकर लिखी रचना की परिसमाप्ति 'आर्यवीर' के अभियान-सन्देश से होती देखते हैं तो सर्वथा भिन्न प्रकार का प्रभाव उत्पन्न होता है। क्योंकि इस रचना का निर्माण-काल वही है जो 'अखबार' का। मानवीय सहानुभूति के क्षेत्र की यह अनस्थिर सीमाएँ संग्रह के सामूहिक प्रभाव को कम कर देती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० देवराज के इस संग्रह में कई कविताएँ अनूदित हैं। 'लाउत्से का दर्शन' शीर्षक कविता काफी रोचक और प्रवाहयुक्त है। 'जेबुन्निसा' पर लिखी गई कविता का अन्तिम अंश उसके सुप्रसिद्ध फ़ारसी शेर का अनुवाद है। शेर इस प्रकार है :

वर मज़ारे मा ग़रीबाँ ना चिरागे नै गुले।
ना परे परवाना सोज़द ना सदाये बुलबुले।

कवि ने इसका अनुवाद निम्नलिखित रूप में किया है :

दुखिया की रे समाधि पै चिराग़ न हो,
बिखरे न कहीं फूल हों, पराग न हो।
पर अपने जलाये न वहाँ कोई शलभ
बुलबुल के गले में भी करुण राग न हो!

इसकी प्रथम पंक्ति में 'रे' और अन्तिम में 'गले में' मूल की दृष्टि से अनावश्यक हैं और अनुवाद को शिथिल भी बनाते हैं। इसी तरह कवि के द्वारा प्रयुक्त 'लौं' और 'पै'-जैसे विभक्ति-रूप 'प्रिय प्रवास' की भाषा का स्मरण दिलाते हैं। वस्तुतः इस संग्रह में कवि की काफी समय पूर्व लिखी हुई कविताएँ भी संग्रहीत हैं और नई भी। यदि दोनों को पृथक्-पृथक् रखा गया होता तो अधिक उपयुक्त होता; यों रचना-काल का निर्देश है जिससे विकास की गति का अनुमान होता है।

इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह निर्णय करना कठिन नहीं है कि किस कृति में भाव-शक्ति और कलात्मक प्रौढ़ता है और किस संग्रह में ऐसी कृतियाँ किस अनुपात में हैं। किन्तु यह निर्णय मैं पाठकों पर ही छोड़ना उचित समझता हूँ।[1]

गंगाप्रसाद मिश्र

'अंचल' के नये गीत

'वर्षान्त के बादल' हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की नई कविताओं का संग्रह है। अंचल की कविताएँ अपनी रूमानी रंगीनियों, मांसल चित्रणों और प्रौढ़ शब्द-चयन के लिए प्रसिद्ध हैं। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस क्षेत्र में अंचल ने अपना एक स्थान निर्धारित कर लिया है। रूप की अनुभूति और उसकी अभिव्यञ्जना साहित्य के सभी माध्यमों के सबसे प्रिय विषय रहे हैं। हिन्दी के कवियों ने भी अपने कृतित्व के बहुत बड़े भाग में सौन्दर्य के चरणों पर ही अर्घ्य दिया है। इस कारण इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान पाना साधारण बात नहीं है। अंचलजी की कविताओं को इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है, यह श्रेयस्कर है।

१. 'बावरा अहेरी'—अज्ञेय, प्र० सरस्वती प्रेस, प्रयाग।
'रात बीती'—बालकृष्ण राव, प्र० इण्डियन प्रेस, प्रयाग।
'धरती और स्वर्ग'—डॉ० देवराज, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर पिछले कतिपय वर्षों में कविता बहुत आगे बढ़ गई है। अणु-बम के इस युग में कवि का दृष्टिकोण भी आमूल परिवर्तित हो गया है। पाठक भी अब पुराने उपमानों को सुनते-सुनते उकता गया है, चन्द्र-मुख और कमल-नयन अब उसके मन के सम्मुख कोई चित्र उपस्थित नहीं कर पाते। कविता में नये प्रयोगों की धूम है और जो कि रूढ़िवादी-आलोचना की चिन्ता किये बिना काव्य-क्षेत्र को नये प्रयोग दे रहे हैं उनका भविष्य उज्ज्वल समझा जा रहा है। यदि हम अंचलजी की कविताओं को इस दृष्टि से देखें तो हमें निराशा होगी, परन्तु अंचलजी से इस प्रकार की आशा करना उनके साथ अन्याय भी होगा। कुछ समय पहले जब प्रगतिवाद का दौर दौरा था अंचलजी ने कुछ शक्तिशाली प्रगतिशील कविताएँ हिन्दी को दी थीं, परन्तु कुछ समय बाद ही वे अपनी रोमाण्टिक कविताओं की ओर लौट गए। इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि रोमाण्टिक कविताएँ ही कवि की परिस्थिति और प्रकृति दोनों के ही लिए अधिक अनुकूल हैं। 'वर्षान्त के बादल' में भी इसी प्रकार की कविताएँ हैं। अपनी जिन विशेषताओं के कारण ये कविताएँ प्रसिद्धि पाती रही हैं उन्हींके अनुसार इनका मूल्याङ्कन करना उचित होगा जो इनमें है ही नहीं है, अथवा कवि का अभिप्रेत नहीं है उसके अभाव पर इनकी आलोचना करना और कवि से गिला-शिकवा करना अनुचित होगा—ऐसा मेरा विचार है।

'वर्षान्त के बादल' में अंचलजी की अनेक प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी कविताएँ हैं। 'वर्षान्त के बादल' सम्भवतः इस प्रकार की कविताओं में सर्वश्रेष्ठ है :

जा रहे वर्षान्त के बादल
हैं बिछुड़ते वर्ष-भर को नील जलनिधि से
स्निग्ध कज्जलिनी निशा की ऊर्म्मियों से
स्नेह गीतों की कड़ी-सी राग-रंजित ऊर्म्मियों से
गगन की शृङ्गार सज्जित अप्सराओं से
जा रहे वर्षान्त के बादल
किस महावन को चले
अब न रुकते अब न रुकते ये गगनचारी
नींद आँखों में बसी गति में शिथिलता
किस गुफा में लीन होंगे
सान्ध्य-विहगों-से थके डैने लिए भारी
साथ इनके जा रहा
अगणित विरहिणी-विरहियों का दाह
दे रही अनिमेष नयनों से हरित वसुधा विदाई
किस सुदूर निभृत कुटी में पूजिता सुधि की इन्हें फिर याद आई
भर गई आ रिक्त कानों में
किस कमल वन में अनिद्रित शारदीया की करुण चंचल रुलाई
जा रहे आलोक पथ से मन्दगति
वर्षान्त के बादल

वर्षान्त के बादलों का यह चित्रण पाठक के नेत्रों के सम्मुख रूप, रंग और गति का कैसा विशद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्र उपस्थित कर देता है।

आन्तरिक और बाह्य तूफान की रात का यह वर्णन कवि के विरहाकुल अन्तर का कैसा विशद परिचय देता है। सम्पूर्ण सृष्टि ही जैसे उसकी वेदना के स्वरों से स्वर मिला रही है :

सारी रात हवा गरजी है बादल बरसे सारी रात
सिसक रहा था जब सन्नाटा तारे तरसे सारी रात
फूट-फूटकर फैल-फैलकर वन-पथ रोये सारी रात
बिजली की तड़पन में मेरे प्राण न सोये सारी रात

× × ×

पीती रही हृदय जन-जन का भय की प्याली सारी रात

× × ×

झंझा से झुँझला-झुँझला अँधियारा बोला सारी रात
नभ से भू पर उतरा तम का उड़नखटोला सारी रात

प्रकृति के इस चित्र में वन-पथ का फूट-फूटकर फैल-फैलकर रोना, भय की प्याली का जन-जन के हृदय को पीते रहना, अँधियारे का तूफान से सारी रात झुँझला-झुँझलाकर बोलना और आकाश से सारी रात पृथ्वी पर अंधकार के उड़नखटोले का उतरते रहना उस भयावह दृश्य को मन में बहुत गहरे उतार देते हैं। दूसरी ओर शरद्-निशा का यह मनोरम वर्णन, जो विरही मन को तड़पा देता है, कैसा अद्भुत है :

भूल गई पथ जैसे रूठा दिन को इस जीवन की हरियाली,
मूक हुई रोमों की भाषा रिक्त हो गई सुख की प्याली।
तुम न मिलो तो कौन कुमुद-कुञ्जों में मादक रूप सँवारे,
तुम न दिखो तो कौन चितवनों से खंजन की पाँत पुकारे।
कौन रचे मंजरियों से धानों की डाली।
किन केशों से गुँथने को फूले शेफाली।
किस रंजित यौवन के दर्पण में अपना मुँह देखें तारे।
चन्द्र मल्लिका किसके स्वागत में मोती की लड़ियाँ वारे।
मुझको लगता—
दूर कपूरी गिरि-शिखरों पर
तरल संगमर्मरी रूप के उन झरनों में,
तेरी छाया अकुलाती है—
शरद्-निशा में तेरी बड़ी याद आती है।

शरद्-निशा के फूटे पड़ते हुए इस रूप में कवि का मन सर्वत्र अपनी प्रिया के रूप की झलक देखता है। उसे यह दृढ़ विश्वास है कि यदि उसकी प्रिया सम्मुख नहीं है तो प्रकृति का यह अनुपम सौन्दर्य क्रान्तिहीन हो जायगा, अपना आकर्षण खो देगा, अप्रतिभ हो जायगा। इसी प्रकार की कविताओं में 'वर्षा-गीत', 'आज बरसते बादल', 'काली शाम, 'शारदी सन्ध्या' इत्यादि बड़ी सफल हैं।

दूसरे प्रकार की कविताएँ वे हैं जिनमें कवि का लक्ष्य सौन्दर्य-निरूपण ही है। प्रकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कोमलतम और उज्ज्वलतम अवयवों के ताने-बाने से सँवरा हुआ यह अलौकिक कान्तिमय रूप पाठकों को रूप-मन्दाकिनी में निमग्न कर देता है :

सोचा करता घूँघट में काकुल के घन घिरते होंगे
मुस्काती गुलमिनियों के जादू जिनमें तिरते होंगे
गुरुता के तारों में बँध तन की चंचलता नत होगी
अँगों बसी मुग्धता से आँखों में लाज अँजी होगी
जड़ित नमित चाँदी के कंपन-सी सिहरन ढाँका न करो
अधरों की उत्सुकता पर सुमौन आँका न करो

सरस समृद्ध और प्रौढ़ भाषा में लिखी हुई ये कविताएँ पाठक के मन को अपने रंग में रंगने की पूरी सामर्थ्य रखती हैं। माधुर्य और प्राञ्जलता की छटा इनमें सर्वत्र दिखलाई देती है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह संग्रह पाठकों में अत्यन्त लोकप्रिय होगा।[१]

डॉ० देवराज उपाध्याय

हिन्दी-कहानियाँ : शिल्प और शैली

जब से विश्वविद्यालयों ने हिन्दी-साहित्य में अन्वेषण-कार्य को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया है तब से अनेक ग्रन्थ हमें उपलब्ध हुए हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि हमारे आलोचना-क्षेत्र की समृद्धि में उनका कोई विशेष अनुदान नहीं हो सका है। कुछ थीसिस तो "जीवितकवेराशयो न वक्तव्यः" वाले सिद्धान्त पर प्राचीन साहित्यिकों की जन्म-पत्रिकाओं को पढ़ते रहे, उनके जन्म और निवास-स्थान को खोजते रहे। जब इससे कुछ पिण्ड छूटा और आधुनिक समकालीन साहित्य की ओर लोगों का ध्यान गया तो कुछ अन्वेषकों ने सुनी-सुनाई बातों को ही इधर-उधर उलट-पलटकर देने में ही अपने अभीष्ट की सिद्धि समझी, कुछ ने गलत और भ्रामक और कहीं-कहीं अनावश्यक पर ही सन्तोष किया। डॉक्टर लक्ष्मीनारायण लाल की प्रस्तुत आलोच्य थीसिस 'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास' इन त्रुटियों से अनेक अंशों में मुक्त है। विषय को उचित परस्पेक्टिव में रखने के लिए कुछ बातें चक्कर से कही गई हैं। उदाहरणार्थ, पूर्व-परिचय, उद्गम और विकास-सूत्र तथा कहानी-कला की समीक्षा वाले अध्याय। प्रथम में भारत के प्राचीन कथा-साहित्य की बात आ गई है, द्वितीय में रूसी, अमेरिकन, फ्रान्सीसी, अंग्रेजी, लोक-कहानी तथा बंगाली कहानियों की चर्चा आ गई है तथा तृतीय में कहानी-कला का सैद्धान्तिक विवेचन है। थीसिस के विषय का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दी-कहानी-साहित्य से है, जो १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हमारे यहाँ पनपने लगा है। वैदिक काल से लेकर १९वीं शताब्दी तक के भारतीय कथा-साहित्य से नहीं। यदि ऐसा होता तो प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य पर विस्तार से लिखना पड़ता; क्योंकि प्राचीनों ने कथा के क्षेत्र में पर्याप्त प्रयोग किये हैं और टेकनीक

१. 'वर्षान्त के बादल'—ले० अंचल, प्र० साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विकास किया है। यद्यपि लाल महोदय ने सानुपातिकता का ध्यान रक्खा है, फिर भी पुरानी सामग्री भी प्रचुर रूप से प्रस्तुत की है।

सच पूछिये तो यह उपलब्धि अधिक कृतज्ञ बनाने वाली है, क्योंकि यह मुफ्त में मिलती है। हम इस पुस्तक को पढ़ने के लिए खोलते हैं तो यह आशा बाँधकर नहीं चलते कि हमें यह ज्ञान भी इतने सहज ढंग से प्राप्त हो जायगा। लाल की पुस्तक ने अवान्तर भी जो कुछ बातें दी हैं उनका कम महत्त्व नहीं। हाँ, कहानी-कला की समीक्षा वाला अध्याय अन्त में न होकर पहले रखा जाता तो अधिक सुन्दर होता। कारण कि इसकी जानकारी को लेकर पाठक कहानीकारों की शिल्प-विधि में कही गई बातों के मर्म को समझने में अधिक सफल हो सकता है। शिल्प-विधि पर लिखने वाले से शिल्प की भूल कैसे बन पड़ी, समझ में नहीं आता।

पुस्तक का मुख्य अंश लेखक के गम्भीर परिश्रम, अध्यवसाय और अध्ययन का परिचायक है। लेखक ने कहानीकारों की कहानियों का विधिवत् अध्ययन किया है, और उनके विवेचन में, उनके वर्गीकरण में, उनके असली रूप को पहचानने में प्रतिभा का परिचय दिया है। हिन्दी-कहानियों के विकास का ऐसा ब्यौरेवार, क्रमिक और सांगोपांग विवेचन अभी तक देखने को नहीं मिला था। अब तक कहानियों के प्रारम्भिक विकास के लिए बस 'सरस्वती' और 'इन्दु' का आभार-मात्र स्वीकार कर लिया जाता था। पर एक-एक वर्ष को लेकर और उसमें कितना और किस तरह कहानियों का विकास हो सका है, इसके प्रदर्शन का काम इस पुस्तक के द्वारा हुआ है।

'इन्दु' के सम्बन्ध में लिखते हुए डॉ० लाल ने एक और स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय दिया है। 'इन्दु' के प्रारम्भिक लेखकों में स्व० पं० पारसनाथ त्रिपाठी की ओर आलोचकों का ध्यान नहीं गया है। वे स्व० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, स्व० पं० रामदहिन मिश्र तथा श्री शिवपूजन सहाय के मित्रों में से थे। श्री राजा राधिकारमण प्रसाद सिंहजी को साहित्य-क्षेत्र में उन्होंने ही दीक्षित किया था। पर आज तक किसी भी इतिहास या आलोचना के क्षेत्र में उनका नाम तक नहीं लिया गया है। डॉ० लाल का ध्यान इस ओर गया है और उन्होंने लिखा है कि "इन्होंने (स्व० त्रिपाठी जी) बंगला-कहानियों के अनुवादों से 'इन्दु' की किरणों को बार-बार सुशोभित किया।" आशा है अब आलोचकों का ध्यान इनके साहित्य की ओर जायगा। इतनी सी बात ही इस बात का प्रमाण है कि डॉ० लाल में शोधकर्ता की सच्ची स्पिरिट है।

इस पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है—कहानियों के विकास का प्रारम्भिक अंश तथा प्रेमचन्द और प्रसाद पर लिखे हुए अध्याय। 'सरस्वती' के प्रथम सात-आठ वर्षों में कहानियों ने सात तरह के प्रयोग किये तथा भावगत एवं शैलीगत क्या विशेषताएँ रहीं इस बात का उल्लेख है। प्रेमचन्द और प्रसाद की तुलना में भी काफी सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया गया है। जो हो कम-से-कम १० वर्ष तक यह पुस्तक विश्वविद्यालयों में हिन्दी के शिक्षकों की सहायता करती रहेगी।

प्रेमचन्द के बाद के लेखकों के बारे में पर्याप्त सामग्री का संकलन है, पर ऐसा मालूम पड़ता है उनकी गहरी पकड़ अभी आई नहीं है। यह स्वाभाविक भी है। कारण कि वे हमारे इतने समीप हैं कि ठीक से उन्हें देख पाने की तटस्थता सम्भव भी नहीं। 'अज्ञेय' की स्ववार्तालाप-शैली (Interior monologue) अबाधित चेतना-प्रवाह शैली, आत्मचरितात्मक शैली और उसके कारणों की और अधिक चर्चा होनी चाहिए थी। साथ में ऐसा भी लगता है कि शिल्प

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Technique) और वर्ण्य-वस्तु (Content) के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या पर सम्यक् प्रकारेण विचार नहीं किया गया है। इस प्रश्न को भी स्पार्श नहीं किया गया है कि क्या कारण है कि आज टेकनीक की नवीनताएँ अधिक साहित्य के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होती हैं और आलोचक का ध्यान भी इसी ओर अधिक आकर्षित होता है।

हिन्दी की आलोचना को ही नहीं, इधर अर्द्धशताब्दी की यूरोपीय आलोचना की प्रवृत्ति को देखा जाय तो आलोचकों की यही प्रवृत्ति रही है कि किसी भी रचना में यदि शिल्प-कौशल (Craftsmanship of execution) उच्च कोटि का मिल जाय तो उसे साहित्यिक मान्यता मिल जानी चाहिए, चाहे विवेच्य वस्तु कैसी हो। प्राचीन आलोचना विवेच्य वस्तु को प्रधानता देती थी, विवेचन के समय सर्वप्रथम उसका ध्यान यह रहता था कि वस्तु कैसी है, दिव्य या नीच,

"का भाषा का संस्कृत, भाव चाहिए साँच।
काम जो आवे कामरी का ले करौं कमाँच।"

यह प्राचीन आलोचक का नारा था, आज है भाव चाहे जो हो, भाषा, मतलब शिल्प, संस्कृत होना चाहिए। यह साहित्यिक अथवा आलोचनात्मक क्रान्ति क्योंकर हुई इस प्रश्न पर कथा-शिल्प की व्याख्या करने वाली पुस्तक में विचार होना आवश्यक था।

आलोचना दो प्रकार की होती है—एक तो वह जो आलोच्य विषय के बारे में बहुत-कुछ बातें कहने का उपक्रम करती है, उनका वर्गीकरण करती है, दूसरों से तुलना करती है। वह तथ्य-कथन-प्रधान होती है। पर दूसरे प्रकार की आलोचना तथ्य-कथन तो नहीं करती पर विचारों को उत्तेजित करती है, नये ढंग तथा दृष्टिकोण से विचार करने की प्रेरणा देती है। तथ्य तो कम होते हैं पर उनको बड़े ही मौलिक ढंग से उपस्थित किया जाता है। इसमें पाण्डित्य और अध्ययन की गुरुता नहीं रहती, पर मौलिकता की स्फूर्ति और सूझ-बूझ अवश्य रहती है। डॉ० लाल की यह आलोचना प्रथम श्रेणी में ही आयगी। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि यह रिसर्च की पुस्तक है और रिसर्च तथा समालोचना बहुत हद तक एक रहते भी दोनों में कुछ अन्तर रहता ही है। मेरे कथन का अभिप्राय केवल यही है कि यह अन्य अन्वेषण-सम्बन्धी पुस्तकों के ही ढंग पर लिखी गई एक महत्त्वपूर्ण कृति है पर इसमें रचनात्मकता, सृजनात्मकता का अभाव कुछ खटकता अवश्य है। मन कहने लगता है कि क्यों नहीं इस पुस्तक में कुछ ऐसे अंश आ सके जो हमें रमा ले, ठहरा ले और स्फूर्ति से भर दे।

इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी-आलोचना की श्रीवृद्धि हुई है और उसका क्षेत्र समृद्ध हुआ है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी में ऐसी खोजपूर्ण और गम्भीरता तथा अधिकारपूर्वक लिखी पुस्तक आने में कुछ वर्ष लगेंगे। इस परिश्रम और पाण्डित्य का स्वागत है।[1]

१. 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास': ले०—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल; प्र०—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीरेन्द्र कृष्ण माथुर

छोटी-बड़ी कहानियाँ

कहानियाँ कैसी होनी चाहिएँ—इस प्रश्न पर कम-से-कम दो बातों को लेकर मतभेद नहीं होना चाहिए। पहली बात यह कि कहानी पाठक की दिलचस्पी को उलझाये रखे और दूसरी बात यह कि कहानी में सत्य का पुट हो। कहानी-कला के दो छोर हो सकते हैं—एक तो यह कि कहानी अपने में दिलचस्प, हो उसकी सार्थकता उसीमें हो; दूसरा यह कि कहानी एक मनोवैज्ञानिक अथवा नैतिक सत्य पर प्रकाश डाले और सत्य की पुष्टि के लिए ही लिखी गई हो। हमारे सामने जो दो संग्रह हैं, उनमें से एक को ही कहानी-संग्रह माना जा सकता है, दूसरे संग्रह की रचनाएँ अपने ही ढंग की एक चीज हैं। राजेन्द्र यादव के संग्रह में बारह कहानियाँ हैं, जिनमें से कई कहानियाँ विविध पत्रिकाओं में छप चुकी हैं और जिनसे कहानीकार को नाम मिला है और पाठक भी मिले हैं। उनमें मनोवैज्ञानिक सत्य की यथार्थता है, और विषय-वस्तु पर लेखक की पकड़ है, विशेषतः टाईटिल कहानी 'खेल खिलौने' में। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर की पुस्तक की विषय-सूची का नाम है 'कहाँ क्या है ?' जिनमें कि ४३ शीर्षक हैं, जिनके बारे में यह आशा की जाती है कि यह लेख भी हैं, कहानी भी हैं, और इनमें हमें सूत्र-रूपेण कथन भी मिलेंगे। स्पष्ट है कि लेखक एक उद्देश्य से लिख रहा है और उसकी सारी कला उसके उद्देश्य के साथ सम्बन्धित है।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की पिछली पुस्तक का नाम बड़ा था, पर कहानी और लेख के सूत्र-रूपेण मिश्रण आकार में छोटे थे और साथ ही प्रभावोत्पादक थे। उनकी इस पुस्तक का नाम छोटा है, अधिकतर रचनाएँ आकार में बड़ी हैं—और प्रभावोत्पादकता? अपनी बात कहूँ तो मैं स्वयं इधर कई असफलताओं से गुजरा हूँ. मान लीजिये कि मैं इतना निराश हो जाता हूँ कि आत्म-हत्या की तैयारी कर बैठूँ, फिर 'जिन्दगी मुस्कराई' मेरे पास समीक्षा के लिए आ गई है, सोचता हूँ कि चलो मरने से पहले 'आलोचना' के लिए कुछ लिख जाऊँ। और मैंने पुस्तक के पन्ने पलटे, तीन लेख बिना छाँटे पढ़े—और बस मेरी राह मेरे सामने थी, साफ-सुथरी राह; क्योंकि 'यह पुस्तक जिन्दगी की मुस्कराहट का बीमा है' साथ ही 'बिगड़े वक्त का रक्षा-कवच और सदा जीवन को सरस बनाने वाली जीवन-संगिनी 'भी।' 'तीन लेख बिना छाँटे पढ़िये' वाले फार्मूले के पीछे भूमिका यह है—इस तरह के लेखों का संग्रह इन पन्नों में है, जिन्हें पढ़कर जाने कितने बच गए, जाने कितने बढ़ गए, जाने कितने चढ़ गए और जाने कितने सीख गए। आप आत्म-हत्या नहीं कर सकते, आप निराश नहीं हो सकते, आप चिन्तित नहीं हो सकते, आप असफल नहीं हो सकते। यह पुस्तक खुशी और उत्साह का तावीज ही है। हरेक लेख कहानी की तरह दिलचस्प है, हरेक लेख धर्म-पुस्तक की तरह जीवन-बोधक है। गुरु की तरह ज्ञान-गम्भीर, तो मित्र की तरह रसपूर्ण। दिल टूट गया हो या सूख गया हो, कोई बात, कोई राह सूझती न हो, किसी भी काम में मन न लग रहा हो, तीन लेख बिना छाँटे पढ़िये—आप की राह सामने होगी—साफ-सुथरी राह; यह पुस्तक जिन्दगी की मुस्कराहट का बीमा है! मैं तो चिकना घड़ा निकला, पर उन मित्रों से सलाह है जो कि आत्म-हत्या पर आ तुले हैं : कृपया घर से अठन्नी नहीं चार रुपये लेकर निकलें, और इस पुस्तक को एक मौक़ा तो दें!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार के साहित्य को हम 'डेल कार्नेगी वाद' कह सकते हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह नागरिक है, अपने परिवार, पड़ोस, नगर तथा देश के प्रति उसके कुछ कर्तव्य हैं—यह एक शुभ कार्य है कि उसे अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक किया जाय और अच्छी सलाह दवा की कड़वी घूँट है, जिसे मिसरी के साथ दिया जाय तो बात अधिक बनती है। इन लेखों में बात कहने का ढंग (कम-से-कम हिन्दी के लिए) नया है, और सफल भी। लेखक नैतिक और व्यावहारिक मूल्यों का समर्थन करता है और व्यक्ति को सर्वप्रथम सामाजिक प्राणी मानकर चलता है। लेखक की टेकनीक है, एक सत्य को तीन-चार किस्से-कहानियों द्वारा समझाकर कहना, दूसरे प्रश्नोत्तर शैली। लेखक और 'अज्ञात पाठक' की बातें, लेखक से सवाल पूछे जाते हैं या वह उन्हें पुछवाता है। इस टेकनीक को लेखक ने एक सफल परिपक्वता पर पहुँचाया है। और वर्षों की तपस्या के बाद हिन्दी-साहित्य को लेखक की यह देन है, अपनी पृष्ठभूमि को आँकते हुए लेखक ने हमसे यह मनवाना चाहा है।

हर साहित्यिक के प्रारम्भिक संस्मरणों का अपना मूल्य होता है। उस लेखक के प्रति हम एक आत्मीयता का भाव पाते हैं, दूसरे उसके जीवन से कुछ सीख सकते हैं। (शायद यही सीख सकते हैं कि हर एक को अपना साहित्यिक जीवन स्वयं तराशना पड़ता है।) श्री प्रभाकर का प्रारम्भिक साहित्यिक जीवन दिलचस्प रहा है—पर इस विचार से कि पुस्तक के लेखका-कांक्षी पाठक उनके जीवन-सत्य से लाभ उठाना न भूलें, उन्होंने स्थान-स्थान पर ऐसे सूत्र दिए हैं, कि 'छपाओ मत, फाड़ो!' 'छपाने के लिए मत लिखो, लिखने के लिए लिखो', 'फालतू चीज मत लिखो, वही लिखो जिसमें पूरा मन लगे, पूरा रस मिले, और पूरी डुबकी आए' इत्यादि। लेखक इस बात को भूल नहीं पाता कि यह पुस्तक पाठकों के लाभ के लिए लिखी जा रही है। एक दृष्टिकोण से यह पुस्तक की सबसे बड़ी सफलता है तो दूसरी ओर यह इसकी सबसे बड़ी कमजोरी भी है।

× × ×

तरुण कहानीकार राजेन्द्र यादव के प्रकाशक उनके बारे में लिखते हैं कि 'राजेन्द्र अपनी कहानियों में समाज की असंगतियों पर कसकर वार करता है। वह समाज के मानस में गहरा बैठने की अपूर्व सामर्थ्य रखता है। 'बाद में'···'सघन अनुभूति-रंजित कहानियाँ'···'तीव्र मनोवेगों के गुम्फन' और प्रेमचन्द और शरत् की सम्मिलित प्रतिभा का युगानुरूप संस्करण' का भी जिक्र आता है।

राजेन्द्र यादव की कहानियाँ मैंने सबसे पहले 'प्रतीक' में पढ़ी थीं, उसके बाद अन्य पत्रिकाओं में जो छपीं, उन्हें बड़ी उत्सुकता से पढ़ा। किसी अच्छे कहानीकार का संग्रह हाथ लगने पर यह जानने की उत्कण्ठा होती है कि उसकी विभिन्न कहानियों में उसकी प्रतिभा कैसे प्रगटी है, दूसरे यह जानने की कि लेखक कुछ नये प्रयोग कर सका है, अथवा किसी माने हुए सत्य को नये रूप में रख सका है, इस दृष्टि से मुझे इस संग्रह ने निराश ही किया। कहानी-संग्रह अधिकतर से रेडियो के मिले-जुले गानों वाले प्रोग्राम-जैसे होते हैं—कुछ कहानियों में रस मिला, तो कुछ उतनी अच्छी नहीं लगीं।

इस संग्रह की मुख्य कहानी है 'खेल खिलौने', जिसे मैं यूरोप के स्टीफन ज्वीग और टामस मान की लम्बी कहानियों के साथ रखता हूँ। यह एक लड़की की कहानी है, जो कि आगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़ना चाहती है, पर जिसे विवाह के लिए मजबूर किया जाता है, अन्त को वह आत्म-हत्या कर लेती है। जब कि यह कहानी सुनाई जा रही है, तब सुनने वालों के बीच छोटा पापा भी बैठा है और बराबर एक मूर्ति माँगने को मचलता रहता है और अन्त में मूर्ति को तोड़ डालता है। कहानी की बात इस प्रतीकात्मक ढंग से छाया की तरह साथ चलती रहती है। बच्चे की जिद को उसकी माँ रख लेती हैं और दूसरों के मना करने पर कहती हैं, "हाँ-हाँ नहीं तोड़ेगा, हम दे देंगे पैसे, दूसरी ले आना", और बच्चे को समझाया जाता है कि "हाँ भैया, तोड़ियो नहीं।" सामाजिक परम्पराओं के संरक्षकों पर जो कि स्त्रियों का स्थान पुरुष से निचला रखना चाहते हैं, यह एक कड़ा व्यंग है।

अन्य कहानियाँ विभिन्न रसों की हैं। 'अंगारों का खेल' टाईटिल कहानी के निकट आती है और उसमें पत्र-शैली का सफल निर्वाह हुआ है। 'वे नरभक्षी' एक फैंटेसी है; कुछ कहानियाँ व्यंगात्मक हैं, जैसे 'मेरा तन मन तुम्हारा है' और 'यथार्थवादी कहानी लेखक'। 'खानदानी घर' एडगर एलन पो की याद दिलाती है। कुछ कहानियों के बारे में कहा जा सकता है कि एक प्रचलित टेकनीक और विषय-वस्तु को लेकर लेखक ने केवल एक दिलचस्प और पठनीय कहानी लिख दी। मुझे स्वयं इस संग्रह की सबसे मार्मिक कहानी 'आजकल के लड़के' लगी।

इन पुस्तकों के प्रकाशक से एक निवेदन है कि यह जो हर कहानी के अन्त में ब्लाक्स लगाये गए हैं, ये पुस्तकों की सुन्दरता को बिगाड़ते ही हैं। 'जिन्दगी मुस्कराई' में यह बात अधिक खटकती है। कवर के ब्लर्ब्स भी कुछ ध्यान से लिखें तो अच्छा है।[१]

मोहन राकेश

दो कहानी-संग्रह

एक-एक करके पन्ने पलटते जाते हैं और जीवन के भिन्न-भिन्न चित्र सामने से निकलते जाते हैं। हर रोज तरह-तरह की कहानियाँ आँखों से गुजरती हैं। पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं और पाण्डु-लिपियों में बिखरी हुई कहानियाँ—नन्ही मासूम आँखों और नुकीले दाँतों की, चिप-चिपाये हथों और रेशम में फड़कती हुई छातियों की, शक्ति, संघर्ष, उन्माद, विवशता और प्रवंचना की, संयमित आवेश और अनिरुद्ध पालगपन की हजार दास्तानें!

फिर भी बहुत थोड़ी कहानियाँ ऐसी होती हैं जो याद रह जाती हैं और जिन्हें दूसरे को सुनाने को मन होता है, सुनाने से पहले दूसरे की निश्चित प्रतिक्रिया का पता रहता है और सुना चुकने के अनन्तर अपेक्षित प्रभाव की सृष्टि का सन्तोष प्राप्त होता है। नानी से सुनी हुई कहानियों में कलात्मकता रही हो या न रही हो, पर यह गुण अवश्य था कि उन्हें बार-बार सुनने और सुनाने की कामना होती थी। और यही गुण विश्व-साहित्य की चुनी हुई कहानियों में भी है।

१. 'खेल खिलौने'—राजेन्द्र यादव।
२. 'जिन्दगी मुसकराई'—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर, प्रकाशक'—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश, युग, कला और कोण की दृष्टि के एक-दूसरी से बहुत दूर और बहुत भिन्न होते हुए भी उनमें यह, एक बात सामान्य है कि वे भूलती नहीं, और उन्हें बार-बार दोहराने को मन हो आता है। कहानी 'कफ़न' और 'बाल शव् फैंट' की तरह चरित्र-प्रधान हो या 'हकमच लैंगड इज ए मैन रिक्वायर' की तरह भाव-प्रधान; उसमें 'नेकलेस' की तरह घटना की विशेषता हो या 'बू' की तरह अनुभूति की, उसमें चेखव की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि झलकती हो या सार्त्र की जुगुप्सारमता, उसकी सजीवता की पहचान उस छाप की गहराई है जो वह मस्तिष्क पर छोड़ जाती है। हर व्यक्ति कहानियों का कोष संचित करना चाहता है और करता है। परन्तु हजारों कहानियाँ पढ़ने और सुनने के अनन्तर भी उस कोष में बहुत कम कहानियाँ संचित होती हैं। इसका पता उस कोष को टटोलने से तुरन्त चल जाता है।

परन्तु नई कहानियाँ हाथ में आने पर संचय का चाव फिर जाग उठता है, पन्ने फिर पलटने लगते हैं और आँखें उत्सुकतापूर्वक नई-नई पंक्तियों पर से गुजरने लगती हैं।

'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ?' और 'पान-फूल' दो नये कहानी-संग्रह हैं। एक में प्रतिष्ठित कहानीकार यशपाल की तेरह नई कहानियाँ संकलित हैं और दूसरे में नये कहानी-लेखक मार्कण्डेय की बारह आरम्भिक कहानियाँ दी गई हैं। कहानी के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि का परिचय देते हुए यशपाल ने अपने कहानी-संग्रह की भूमिका में लिखा है: "लेखक कभी-कभी विचारों के उद्गार में ऐसी भी रचनाएँ लिखते हैं जिसमें तथ्य या भाव को घटना के माध्यम में प्रस्तुत न करके केवल विचारों की शृंखला या शब्द-चित्र के रूप में पेश कर दिया जाता है। अथवा कभी किसी विशेष व्यक्तित्व को उसके जीवन की किसी घटना का आधार लिये बिना ही पाठकों से परिचित कराने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार की घटनाहीन वर्णन-प्रधान रचनाओं की सारगर्भितता और रोचकता के विषय में सन्देह न होने पर भी उन्हें कहानी की व्याख्या और परिभाषा में ही क्यों समेटा जाय? कोई भी परिभाषा वस्तुओं के वर्ग की समता की द्योतक होती है × × × शब्दचित्रों, गद्य-काव्यों, आप बीतियों, विचार-चित्रों या कथात्मक निबन्धों को कहानी न मानने से उनकी रोचकता, कौशल या कलात्मकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह कहानी की कला से प्रेरणा पाकर उत्पन्न हुई कला की नवविकसित स्वतन्त्र शाखाएँ हैं।"

इसका आशय यह है कि लेखक कहानी में घटना को मुख्य तत्त्व मानता है, जिससे विहीन रचना कहानी की परिभाषा में नहीं आनी चाहिए। आज विश्व-भर में कहानी के इतने व्यापक प्रयोग हो रहे हैं कि कहानी की परिभाषा इस तरह संकुचित कर देने में इस श्रेणी की अन्य रचनाओं को न जाने कितनी उपशाखाओं में रखना पड़ेगा और शब्दचित्र, (स्केच) आप बीती और—कथात्मक निबन्ध में भी किसी-न-किसी अंश में घटना रहती ही है, अतः इस आधार पर कहानी को अलग से छाँट लेना बहुत कठिन है। फिर भी इतना तो है ही कि कहानी के नाम से लिखी जाने वाली हर रचना कहानी नहीं होती। उसमें विवरणात्मक प्रबन्धन के अतिरिक्त एक और चीज का होना अपेक्षित है और वह है घटनाश्रित या भावाश्रित चरमस्थिति (climax)। यदि कहानी उस स्थिति की ओर स्वाभाविक ढंग से बढ़ती है और उसकी ग्राहिता बनी रहती है तो उसे कला की दृष्टि से एक सफल कहानी कहा जायगा, भले ही अन्य विषय, विचार या विश्लेषणगत त्रुटियों के कारण वह एक संरक्षणीय कहानी न बन सके। और यदि कहानी को उस चरमस्थिति तक ले जाने में लेखक को स्वाभाविकता से जरा भी हटना पड़ता है तो कहानी कला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि से भी कमजोर हो जाती है।

यशपाल के इस नये कहानी-संग्रह में कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें घटना-विकास प्रयत्नसाध्य है—और शायद उसका मूल उद्देश्य दो स्थितियों के वैषम्य का चित्रण ही है। 'चोरबाजारी के दाम' की कहानी इतनी है कि एक व्यक्ति जो कभी स्वयं दवाइयाँ चोर बाजार के भाव बेचा करता था, विभाजन के बाद स्वयं अपने मरते हुए बच्चे के लिए चोर बाजार से दवाई खरीदने के लिए विवश हो जाता है, जिसके लिए उसे अपना सब-कुछ बेच देना पड़ता है, पर फिर भी वह समय पर दवाई नहीं ला पाता और बच्चे की मृत्यु हो जाती है। इसी तरह 'गवाही' और 'तगमे की चोट' में भी स्थिति-वैषम्य का चित्रण करने के लिए ही घटना की कल्पना की गई है। इन सब कहानियों में एक-न-एक निष्कर्ष तो निकलता है, पर जो पाठक 'कला के क्षेत्र में अपना राई-रत्ती उगाहने की आशा' से इन कहानियों को पढ़ता है, उसे निराश होना पड़ता है। बहुत पहले की कहानियों में अवश्य इस शैली का प्रयोग हुआ है, परन्तु उनका स्थान एक विशेष श्रेणी के साहित्य में ही है।

परन्तु इसी संग्रह में 'कोकला डकैत' और 'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ!' जैसी कहानियाँ भी हैं, जिन्हें अच्छी कहानियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। 'कोकला डकैत' में बहुत तीखा व्यंग है, जो नश्तर की तरह हृदय में चुभ जाता है। कोकला को डकैती के अपराध में सजा हुई, क्योंकि उसने हँसिये के जोर से कुछ राहगीरों से अठन्नियाँ वसूल कीं, परन्तु अठन्नी के जोर से बीसियों बार कोकला से जो छीना गया, उसके लिए किसी को सजा नहीं हुई, क्योंकि कानून की आँखों ने उस डकैती को डकैती नहीं समझा······

'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ!' एक मनोवैज्ञानिक कहानी है। क्षय की रोगिणी माया के लिए अपनी सुन्दरता का झूठा विश्वास ही ट्रेजेडी बन जाता है। जिस पुरुष ने उसे यह विश्वास दिया है, उसीके प्रति अपने को समर्पित करने के लिए जब वह आतुर हो उठती है तो वह पुरुष उसे स्वीकार नहीं करता और माया उसी क्षण में जैसे निर्मूल होकर रह जाती है। कहानी में फ़ोटोग्राफ़ वाली बात में—अन्य स्त्री के नग्न चित्र के माया द्वारा अपना चित्र मान लिये जाने में—कुछ अस्वाभाविकता अवश्य है, जो खटकती है।

वैसे संग्रह की कहानियों में काफी वैविध्य है—समकालीन जीवन के विभिन्न चित्रों का लेखक ने यथार्थ की भूमि पर कुशलतापूर्वक अंकन किया है। कहानियों के चरित्र सजीव हैं, उनमें मानवीय सन्तुलन भी है, यद्यपि 'घटना' का मोह कहीं-कहीं चरित्र की रेखाएँ पूरी तरह उभरने नहीं देता। लेखक की दृष्टि स्पष्ट है और उसकी पहचान निश्चित है—वह ठीक जगह चोट करता है और जहाँ अपेक्षित हो वहाँ अपनी पूरी सहानुभूति भी देता है। 'मिट्टी के आँसू' और 'असली चित्र' ये दो कहानियाँ क्रमशः उदाहरण के रूप में रखी जा सकती हैं। झूठी सामाजिक विडम्बना का एक अच्छा कलात्मक चित्र 'कम्बल दान' शीर्षक कहानी में प्रस्तुत किया गया है। यदि सोद्देश्यता की दृष्टि से ही देखा जाय तो 'अखबार में नाम' शीर्षक कहानी को छोड़कर, जो शायद संग्रह की सबसे शिथिल कहानी है, शेष सब कहानियों में कुछ-न-कुछ स्पष्ट उद्देश्य लेखक के सामने रहा है। जीवन के खोखलेपन को साहस के साथ उघाड़ देना, यह यशपाल की अधिकांश कहानियों की विशेषता रही है, जो इन कहानियों में भी है। परन्तु साथ ही यह भी कहना होगा कि यह संग्रह यशपाल की कहानी-कला के विकास में एक नया मार्ग-चिह्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं बन पाया, इसमें लेखक का कृतित्व उसके पुराने धरातल से आगे नहीं बढ़ा। इसलिए इस संग्रह में हिन्दी की कहानी-परम्परा के लिए कोई नया संकेत नहीं है, ऐसा संकेत जो कहानी को और अधिक परिमार्जित और अधिक भारतीय बनाने में सहायक होता।

'कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए' मार्कण्डेय के कहानी-संग्रह 'पान फूल' की अन्तिम कहानी है, जिसे यशपाल की परिभाषा के अनुसार कहानी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि उसमें घटना नाम को भी नहीं है। वह एक व्यंगात्मक कथा निबन्ध-मात्र है, फिर भी उसकी एक अपनी विशेषता है। उसमें जीवन के एक सत्य को बहुत स्पष्टता और सादगी के साथ व्यक्त किया गया है और उसका कोण नया है। हिन्दी में पिछले दिनों जिस तरह की 'दीदी प्रेयसियों' की एक परम्परा-सी चल पड़ी थी सामान्य नारी उससे कितनी भिन्न है, इसका चित्रण लेखक इस कहानी के माध्यम से सफलतापूर्वक कर पाया है। वह अपनी कहानी के लिए ऐसी नारी का पता विज्ञापन द्वारा पाना चाहता है 'जो आम्र-वल्लरी की भाँति तन्वंगी हो, मल्हार के कोमल स्वर-सी ध्वनि हो जिसकी और छुई-मुई-सा संकोच। पारलौकिक प्रेम में हर क्षण डूबी रहती हो, तपती हो और कम-से-कम ब्याह के लिए माँ-बाप की आज्ञाकारिणी हो''''''

हाँ, एक बात है। ऐसी नारियाँ समकालीन कथा-साहित्य में तो दिखाई देती ही हैं, उनकी कुछ सजीव अनुकृतियाँ—साहित्य के साँचे में ढली हुई मानवी प्रतिमाएँ भी जहाँ-तहाँ नज़र आ जाती हैं, जो साहित्य की भाषा बोलती हैं और एक या दूसरे उपन्यास की नायिका की तरह व्यवहार करती हैं। वे शायद मार्कण्डेय की अनुपलब्धि को झुठला सकती हैं!

मार्कण्डेय की अधिकांश कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं, जिनमें 'गुलरा के बाबा', 'घूरा' और 'मुन्शी जी' का उल्लेख किया जा सकता है। इन कहानियों में लेखक की यथार्थ दृष्टि का ही नहीं जीवन के साथ उसके घनिष्ठ सम्पर्क का भी परिचय मिलता है। लगता है कि वह जिस वातावरण को चित्रित कर रहा है उसमें वह स्वयं रहा है— उसकी रेखाएँ मांसल भी हैं और सप्राण भी। मार्कण्डेय ने अभी बहुत थोड़ा लिखा है, यह उसके रचना-काल का आरम्भ ही है, इसलिए कहीं-कहीं उसके उपकरण अधमँजे प्रतीत होते हैं, फिर भी, इन कहानियों को पढ़कर कहा जा सकता है कि उसकी सम्भावनाएँ असन्दिग्ध हैं। उसने अपने समय तक के कथा-साहित्य के अभावों को ग्रहण किया है, पर कहीं-कहीं, 'सवरइया' और 'रेखाएँ'-जैसी कहानियों में ये प्रभाव बहुत परिलक्ष्य हो गए हैं, जिससे ये कहानियाँ एक-दूसरी से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि एक निश्चित दृष्टिकोण लेकर चलने वाले लेखक की कृतियाँ नहीं जान पड़तीं। जिन कहानियों में लेखक ने घटना को विशेषता दी है, वे कहानियाँ अपेक्षाकृत कमजोर हैं, जैसे 'वासवी की माँ', 'रामलाल', 'नीम की टहनी' और 'पान फूल'। लगता है कि घटना-विकास के सम्बन्ध में वह किन्हीं परम्परागत धारणाओं को लेकर चल रहा है। 'पान फूल' में नीली का चरित्र जितना स्वाभाविक है, कहानी का वस्तु-संगठन उतना ही अस्वाभाविक है—दो बच्चियों की जिस भावुकता का चित्रण किया गया है, वह उस आयु की भावुकता नहीं हो सकती।

मार्कण्डेय की कहानियाँ इस दृष्टि से सोद्देश्य नहीं हैं कि उनमें से कोई-न-कोई निष्कर्ष निकाला जा सके, परन्तु वास्तविकता के अंकन की अपनी सोद्देश्यता है और इस दृष्टि से उसकी अधिकांश कहानियाँ आज के जीवन के लिए हैं, क्योंकि वे जीवन से ही ली गई हैं। 'गुलरा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाबा' में चमेली के अन्धी हो जाने की बात खटकती है, अन्यथा वह एक याद रहने वाली कहानी है।[1]

उदयशंकर भट्ट

टूटे काँटे

'टूटे काँटे' श्री वृन्दावनलाल का नवीन प्रकाशित उपन्यास है। इस उपन्यास में १७३७ और उसके आस-पास के समय का सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक चित्र है। भारतवर्ष पर उन्हीं दिनों नादिरशाह का आक्रमण हुआ और दिल्ली के निरीह प्राणियों की किस क्रूरता-बर्बरता से हत्या हुई इसका विशेष चित्र उपन्यासकार ने इसमें दिया है। बाजीराव पेशवा, निजाम, भोपाल और मुहम्मदशाह में किस प्रकार राजनीतिक षड्यन्त्र चल रहे थे! किस प्रकार एक राज्य दूसरे को हड़प जाना चाहता था। साधारण मनुष्य कितना त्रस्त और बेचैन था। लूट-मार, डकैती, मार-धाड़-हत्या से जनता का जीवन कितना संशयग्रस्त, कितना विपन्न था और इतने पर भी राजमहलों में रंगरेलियाँ होती थीं। रुपया पानी की तरह बहाया जाता था।

उपन्यासकार ने इन सबको एक कथा-सूत्र में बाँधा है। भोला-भाला किसान और जाट मोहन फतेहपुर सीकरी का रहने वाला इस कथा का जहाँ नायक है वहाँ उपन्यास का भी। नूर-बाई इसकी नायिका। मालूम होता है प्रत्येक पात्र इस उपन्यास में मनुष्य के गुण-दोषों का एक प्रतीक है। शुबराती, बाजीराव पेशवा की सेना का सिपाही मुसलमान होते हुए भी मुग़ल-सेना के सिपाही और हिन्दू मोहन के प्रति मित्रता का व्यवहार करता है और मोहन उसके बदले निष्ठा तत्परता से मित्रता निभाता है। नूरबाई मुसलमान होती हुई भी मोहन के साथ भागकर उसे अपना पति स्वीकार कर लेती है। बाजीराव की प्रेमिका मस्तानी मुसलमान होती हुई भी बाजी-राव के प्रति एकनिष्ठ है। जहाँ यह चित्र है वहाँ हिन्दू हिन्दू की हत्या करता है, मुसलमान मुसलमान की।

उस समय राज-शक्तियों में परस्पर फूट के कारण जनता दुखी थी। फसल काटने के बाद किसान सिपाही बनकर किसी राजा या नवाब की छाया में प्रान्तों या राज्यों पर आक्रमण करते थे। छावनियों में सेना के लाव-लश्कर के साथ गाने-नाचने वाली स्त्रियाँ साथ रहती थीं। शराब पी जाती थी। जो सिपाही युद्ध में मर जाता था उसके परिवार को आजीवन निर्वाह के लिए पाँच रुपये भेज दिये जाते थे। कभी-कभी वे पाँच रुपये बीच में ही सरकारी आदमी हड़प लेते थे। प्रायः वेतन के अलावा सिपाही को लूट में भी भाग मिलता था। साधु-संत देश-देश में प्रचार करते उपदेश देते रहते थे। उदासी साधुओं की अपेक्षा बैरागी साधुओं का ही बाहुल्य था। वे कभी-कभी जनता और धर्म की रक्षा के लिए तलवार, त्रिशूल और भाले लेकर शत्रुओं पर टूट पड़ते थे। नादिरशाह के पंजाब के आक्रमण के समय कुरुक्षेत्र में साधुओं ने उसकी सेना से लोहा

---

१. 'तुमने क्यों कहा मैं सुन्दर हूँ' : ले०—यशपाल, प्र०—विप्लव प्रेस, लखनऊ।
'पान-फूल' : ले०—मार्कण्डेय, प्र०—चेतना प्रकाशन, हैदराबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया और वे सभी मारे गए। मालूम होता है देश की रक्षा और प्रजा को सुखी-सम्पन्न रखने की ओर किसी भी राजा या नवाब का ध्यान नहीं था। साधारणतया सभी सरकारी कर्मचारी प्रजा को लूटते थे। फिर भी लोग धनी थे। बाजार, दुकानें सम्पन्न दिखाई देती थीं।

ये सब चित्र आपको इस उपन्यास में मिलते हैं। वर्माजी के प्रायः सभी उपन्यास इतिहास की भित्ति पर अवलम्बित हैं। अब तक के उनके उपन्यास बुन्देलखण्ड और उसके आसपास का चित्र उपस्थित करते हैं। 'टूटे काँटे' का क्षेत्र उन सबसे अधिक व्यापक है। घटना-प्रधान इस उपन्यास में उस समय के जीवन का पूर्ण चित्र आ गया है। फिर भी प्रश्न होता है कि घटनाओं में चरित्र का क्या महत्त्व है? साधारणतया ३६० पृष्ठों के इस उपन्यास में कुछ ही चरित्र उभर पाये हैं। शेष घटनाओं की विभीषिका में उभर-उभरकर दब गए हैं। प्रमुख नायक व मोहन उसके मित्र शुबराती के चरित्र अपने में पूर्ण हैं। तोता, मोहन की बहू रोनी-जैसे चले थे अन्त तक वैसे ही हैं। नूरबाई के चरित्र में उठान है, उमंग है; पर ऐसा लगता है कि परिस्थितिवश यह सब उसने स्वीकार किया है। फिर एकाएक मोहन के प्रति उसका आत्म-समर्पण कुछ अमनोवैज्ञानिक लगता है। अन्त तक यह नहीं जान पड़ता कि नूरबाई और मोहन की प्रकृति में साम्य कहाँ था। एक ओर बादशाह और नवाबों के यहाँ उच्च कोटि की गायिका सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी नूरबाई, दूसरी ओर गँवार, अपढ़ सिपाही जाट मोहन। यह केवल परिस्थिति ही कही जायगी जिसमें बाध्य होकर उसने अपने पूर्वरूप को भुला दिया। साथ ही ब्रज के कृष्ण कन्हैया के प्रति उसके झुकाव का भी उसके पिछले जीवन में कहीं आभास नहीं मिलता। बाजीराव का रूप भी इस उपन्यास में नहीं निखर पाया है। हाँ नादिरशाह अपने पूर्ण बर्बर रूप में प्रकट हुआ है।

नादिरशाह के दिल्ली से चले जाने के बाद उपन्यास का रूप एकदम अन्तर्मुख होकर चलता है। फिर भी उसमें कहीं नीरसता नहीं आने पाई है। उपन्यास के प्राण क्लाईमेक्स-संघर्ष केवल उस जगह आते हैं जहाँ मोहन की पहली बहू रोनी तोता, अपने देवर के साथ मोहन से मिलती है। जिसे अब तक वह लड़ाई में मर जाने पर भूत के रूप में प्रसिद्ध सुनती रही थी। उस स्थल पर उपन्यासकार ने बड़े कौशल से अपनी उपन्यास टेकनीक के अनुसार उन दोनों को मिला दिया है और नूरबाई को उसे अपनी बहन मानने के लिए बाध्य कर दिया है।

उपन्यास के तत्त्वों पर विवेचन-दृष्टि डालते हुए मैं चाहता हूँ इसका नाम 'राजनीतिक-ऐतिहासिक उपन्यास' होता पर नादिरशाह के बाद लेखक ने बाजीराव के पुत्र का यज्ञोपवीत, मस्तानी की मृत्यु और बाजीराव की मृत्यु का संक्षिप्त समाचार देकर आधे से अधिक उपन्यास में मोहन, नूरबाई, तोता और रोनी की कथा को स्थान दिया है। भरतपुर, मथुरा के आस-पास वे पात्र घूमते रहते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि राजनीतिक घटनाएँ देश में उस समय नहीं हो रही थीं। फिर भी उनका कोई भी चित्र सामने नहीं आता। राजपूताना में उन दिनों क्या हो रहा था। क्षत्रियों की क्या अवस्था थी। राजपूत क्या सोचते थे इत्यादि प्रश्नों का उत्तर 'टूटे काँटे' में नहीं है। पर हम शायद सब बातों के उत्तर की उपन्यासकार से अपेक्षा भी नहीं रख सकते। हमें तो जो-कुछ उसने हमें दिया है उसी दृष्टि से देखना है। विरोध और संरोध को कहीं स्थान नहीं हैं। प्रत्येक उत्तर में एक प्रश्न निहित है। देखना यह है कि लेखक ने जो प्रश्न उठाए हैं उनका उत्तर कहाँ तक ठीक है, कहाँ तक सम्मत है। फिर उसकी शैली उपन्यास के केन्वेस के सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी प्रश्न उठता है। इन सब दृष्टियों से मेरा विश्वास है यह उपन्यास जिस उद्देश्य को लेकर लिखा गया है उसमें लेखक पूर्ण सफल हुए हैं।

वर्माजी की भाषा की शैली अपनी है, वह बुन्देलखण्ड की प्राकृतिक छटा से सप्राण हुई है। उसने इस उपन्यास में पूना से लेकर पंजाब तक चक्कर लगाया है उसमें न उसने कुछ छोड़ा और न नया कुछ ग्रहण ही किया। काश यह भी होता। नूरबाई के नृत्य-वर्णन में यद्यपि मद में भरकर लेखक ने नृत्य की गहराई तन्मयता को पकड़ा है पर कहीं-कहीं वह पुनरावृत्ति में रपट भी गई है। मैं हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकार श्री वर्माजी के इस उपन्यास का स्वागत करता हूँ। विश्वास है कि उनके अन्य उपन्यासों की ही तरह इसका भी स्वागत होगा।

नादिरशाह के काल का कोई भी उपन्यास अब तक नहीं था। मेरा विश्वास है उक्त विषय पर अधिकारी कलाकार ने हमें जो-कुछ दिया है उससे हिन्दी के एक अंग की पूर्ति हुई है।[1]

डॉ० शैल कुमारी

चाँदनी के खण्डहर

प्रेमचन्दोत्तर-काल में यथार्थवादी उपन्यासों की बाढ़-सी आ गई। यथार्थवाद का भवन-निर्माण एक ओर मार्क्स के सिद्धान्तों को लेकर और दूसरी ओर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद को लेकर होता रहा है। कहना अत्युक्ति न होगी कि उक्त प्रकार के उपन्यासों के रचयिता अनेक स्थलों पर वाद और विज्ञान को उसके कच्चे (row) रूप में ग्रहण करने की भूल कर बैठे। प्रथमतः साहित्य का किसी वाद का प्रचारक बन जाना उसके पतन का द्योतक है, द्वितीय जब कोई साहित्यकार संस्कृति और मानवता के विकास में अपनी कला के द्वारा सम्यक् योग नहीं दे पाता तो उसकी रचना उसके उत्तरदायित्व के प्रति विश्वासघात ही सिद्ध होती है। हिन्दी में आज एक ओर ऐसे उपन्यास आ रहे हैं जो समाज की वीभत्सता को ही उघाड़ना अपना ध्येय बनाकर चलते हैं और अधिकतर समाज के प्रति उत्तरदायित्व का भाव जाग्रत करने के स्थान पर कटुता, अरुचि और वितृष्णा ही मन पर छोड़कर समाप्त होते हैं, दूसरी ओर ऐसे उपन्यास हैं जो व्यक्ति को नग्न रूप में उपस्थित करते हुए उसके समस्त व्यापारों और व्यवहारों को खोखला सिद्ध करते हुए उसके आत्मविश्वास की ही जड़ खोदने में सफल होते हैं। डार्विन के अनुसार मनुष्य सबसे विकसित पशु है। इस नई विचार-धारा ने १९वीं शताब्दी में दुनिया में हलचल मचा दी थी। फ्रायड के मनोविश्लेषण-विज्ञान ने इस विचार-धारा को अग्रसर किया और व्यक्ति की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, काम और ईर्ष्या मानकर उसे पाशविक प्रवृत्तियों के बण्डल के रूप में हमारे सामने रख दिया। विज्ञान का कार्य किसी भी वस्तु के अंगोपांगों का विश्लेषण करना है; अपनी

१. **'टूटे काँटे' : ले०—वृन्दावनलाल वर्मा, प्र०—मयूर प्रकाशन, झाँसी।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस शक्ति को लेकर वह दोषी नहीं ठहराया जा सकता। किन्तु मनुष्य विज्ञान के प्रायः प्रत्येक रूप के व्यावहारिक मूल्यों का आदर करके उन्हें ग्रहण करता है। विज्ञान के केवल-मात्र विश्लेषणात्मक रूप को ग्रहण करना हानिकर हो सकता है। पुनश्च हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य बुद्धिजीवी भी है, वह केवल पशु नहीं है, उसके पास मनोबल और विवेक की अमूल्य सम्पत्ति है, जो सृष्टि के किसी भी अन्य जीव के पास नहीं है। मनुष्य का सबसे बड़ा सत्य है उसकी मानवता। यही उसका ईश अंश है, यही वह चिरसत्य है जिसको भुलाने के बाद ही वह पशु है। बुद्धि और हृदय, विवेक और संवेदना के सहारे मानव जिस आदर्शवाद का सृजन करता है, वह उसकी प्रकृति का प्रथम यथार्थ है। इस यथार्थ, इसी राख में छिपे हुए अंगारे के समान अनाहत मानवता को उद्बुद्ध करना साहित्यकार का दायित्व है; व्यक्ति को स्वान्वेषण में प्रवृत्त करके अपनी शक्तियों को खोजने के मार्ग में अग्रसर करना साहित्य का प्रथम लक्ष्य है। इतिहास साक्षी है कि विश्व के साहित्य में वही रचनाएँ चिरजीवी हो सकीं जो इस लक्ष्य को सामने रखकर चलीं।

गिरिधर गोपाल गीतकार के रूप में जाने जाते हैं। उपन्यासकार के रूप में यह उनका प्रथम प्रयास है। वस्तु-चयन तथा वर्णन-शैली दोनों ही दृष्टि से इसकी सफलता प्रशंसनीय है। उपन्यास छोटा, घटनाएँ कम; किन्तु प्रभाव गहरा और लक्ष्य vital यही इसकी विशेषताएँ हैं। कथावस्तु का चुनाव हुआ है युद्धोत्तरकालीन एक मध्यवर्गीय परिवार से। गतयुद्ध के फलस्वरूप आर्थिक कष्ट का अनुभव सबसे अधिक मध्यवर्ग ने किया। वह सबसे अधिक दया का पात्र इसलिए बन गया कि वही समाज का सबसे अधिक महत्त्वाकांक्षी वर्ग है, और धनाभाव में उसका सारा जीवन घुटा-घुटा, दबा-दबा और दर्दभरा हो जाता है। भारतीय मध्यवर्ग के अनेक परिवार सुशिक्षित हैं, अगली पढ़ी को अपने से भी अधिक शिक्षित और सुसम्पन्न बनाने के अभिलाषी हैं, वह भले और सुसंस्कृत समाज का सदस्य बनकर रहना चाहता है और सबसे ऊपर अपनी शिक्षा को लज्जित न करना चाहते हुए सचाई और ईमानदारी को निभाते रहना चाहते हैं। इस परीक्षा में वे बल ग्रहण करते हैं अपनी पारिवारिक शिक्षा (training) से तथा उन विशिष्ट संस्कारों से, जिनमें वे पले हैं। जीवन सरल नहीं है, संघर्ष पग-पग पर है, गुत्थियाँ भी कभी-कभी पड़ ही जाती हैं, किन्तु जन्म से पड़ने वाले ममता और स्नेह के संस्कार मार्ग-प्रदर्शन करते है :[1] मानवता को इस मूलभूत तत्त्व से ही प्रेरणा ग्रहण करके संघर्षरत व्यक्ति नवीन प्रभाव का स्वप्न देखने में समर्थ है और स्थिर क़दमों पर जमे रहकर जिन्दगी के अन्धेरे का सामना करने की शक्ति पाता है।[2]

वास्तव में आधुनिक उपन्यासों की राशि को देखते हुए, प्रस्तुत उपन्यास की वस्तु (theme) और नायक सच ही नवीन प्रकार के हैं। (उपन्यास किसी प्रेम-कथा की उलझनों का विश्लेषण नहीं करता)। उपन्यास का नायक वसन्त न तो कोई साम्यवादी विद्रोही युवक है और न विश्लेषणवाद के चक्कर में फँसा हुआ असाधारण (abnormal) चरित्र। वह एक शुद्ध पारिवारिक प्राणी है—अत्यन्त सामान्य और सरल भारतीय मध्यवर्गीय युवक उसके अपने परिवार के विशिष्ट संस्कार उसकी रग-रग में बसे हैं जो उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। परिवार का

१. द्रष्टव्य पृ० १२७।

२. द्रष्टव्य पृ० १२७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धा और विश्वास स्नेह और ममता का वातावरण उस मानसिक सन्तुलन विवेक और पुरुषार्थ का निर्माण करता है जिसके अभाव में बड़ी तेजी से व्यक्तिवादी बनता हुआ समाज मजबूरियों से निकलने का रास्ता खोजने की बजाय उनसे पिसता हुआ दम तोड़ रहा है और अपनी अस्वस्थ स्थिति में बुद्धि की टी० बी० का शिकार हो गया है।

जोशी द्वारा लिखित भूमिका, जिसमें उन्होंने नायक को 'जटिल प्रकृति' कहा है और उपन्यासकार को 'ऐसे रहस्यमय चरित्र का चित्रण' करने के लिए बधाई दी है, के प्रसंग में एक बात कहनी आवश्यक प्रतीत होती है। वसन्त निश्चय ही अणु-युग की उपज है। १९वीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप दुनिया बड़ी तेजी से धार्मिक विश्वासों पर पदाघात करके भौतिकवाद की तरफ दौड़ी थी। किन्तु पिछले महायुद्ध में प्रकट होने वाले विज्ञान के राक्षसी और मानव-संहारक रूप को देखकर तेजी से भौतिकतावाद की तरफ दौड़ते कदम आश्चर्य और भय से ठमक गए। विज्ञान से जिस बल को प्राप्त करने की आशा उसने की थी उसे खोखला देखकर वह अपने अन्तर को ही फिर से खोजने की ओर अग्रसर हुआ। वर्तमान शिक्षित नवयुवक धर्म के रूढ़ रूप को तो ग्रहण करने में असमर्थ है और साथ ही व्यावहारिक जीवन में भौतिक के प्रति विरक्त होना भी उसके लिए असम्भव है, अतः वह एक सहज स्वस्थ समन्वय करने में प्रयत्नशील है। उसके धर्म के मान उसके आन्तरिक व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं, यद्यपि उसका बाह्य, पुराने आदर्शों के अनुसार, सर्वथा अधार्मिक प्रतीत होता है। वास्तव में वर्तमान युग का युवक नैतिकता को कुण्ठाओं से मुक्त करके एक सहज, सरल और स्वस्थ रूप देना चाहता है। यह युवक उस युग की देन है जब भारतीय राष्ट्रीयता का आन्दोलन समाप्त-प्रायः था, जब दासता के जमाने में बनी मनोग्रन्थियों से वह छुटकारा पा रहा था, जब भारत पाश्चात्य सभ्यता के पहले धक्के से प्रकम्पित हो गई सन्तुलन की धुरी को पुनः प्राप्त करने की ओर अग्रसर हो रहा था।

शिल्प की दृष्टि से 'चाँदनी के खण्डहर' का अपना एक महत्त्व है। यों तो हम 'तीन वर्ष' और 'चित्रलेखा'-जैसे उपन्यास देख चुके हैं, जिनमें कुछ समय की सीमाओं को बाँधकर वस्तु का विकास हुआ है, किन्तु प्रस्तुत उपन्यास की विशेषता यह है कि यह एक बहुत ही छोटा-सा उपन्यास है और इसकी काल-सीमा है केवल २४ घण्टे। एक सुबह ६ बजे वसन्त इलाहाबाद जंकशन पर उतरता है, वहाँ से उपन्यास आरम्भ होता है और दूसरी सुबह ६ बजे नवल स्वर्णिम प्रभात को देखता हुआ जब वह शय्या त्याग करता है, तभी उपन्यास का अन्त आ जाता है। इस बीच में भी कोई कहने लायक 'घटना' नहीं घटती। फिर भी वस्तु-गठन, कथा का प्रवाह, रोचकता और प्रभाव की मार्मिकता की दृष्टि से लेखक वास्तव में बधाई का पात्र है। इस उपन्यास के शिल्प-सौन्दर्य का मूल है सशक्त चरित्र-विधान जिसके सहयोग में उपस्थित हुए हैं कलात्मक कथोपकथन, संक्षिप्त मनोवैज्ञानिक सूत्र और सजीव वातावरण-चित्रण। किंचित् स्थानीय संकेत (local colour) के साथ वह और भी सजीव और आकर्षक बन गया है। लघु उपन्यास की मार्मिकता का बीज उसकी संक्षिप्त किन्तु सशक्त शैली है, वह अनेक घटनाओं का समावेश नहीं कर सकता, वह लम्बी और व्यापक भूमिका नहीं उठा सकता, वह अनेक पात्रों की चरित्र-योजना नहीं कर सकता। घटना-प्रधान न होकर वह भाव और विचार-प्रधान हो जाता जाता है और अपने छोटे-से क्रोड़ में एक महान् सन्देश को लेकर चलता है, जिसकी सफल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मार्मिक अभिव्यंजना में ही उपन्यास की सफलता निहित होती है। छोटे उपन्यास का नायक सामान्य नहीं वरन् एक विशिष्ट व्यक्तित्व (personality) होगा, जो समस्त संवेदना को केंद्रीभूत करता हुआ सन्निहित सन्देश का विकास करता है। अतः छोटा उपन्यास एक ओषधि-सार (concentrated chemical) की भाँति होता है जिसका प्रभाव भी उतना ही गहरा होता है। उस कार्य को पूर्ण करने के लिए जिस कुशलता और विदग्धता की आवश्यकता है वह 'चाँदनी के खण्डहर' के शिल्प-विधान में प्राप्त है।[1]

जनार्दन मुक्तिदूत

कठपुतली

पिछले कई वर्षों में उपन्यास-साहित्य में अनेक नये प्रयोग किये गए हैं; और अब हम बहुत कुछ अंशों में प्रत्येक उपन्यासकार से किसी न-किसी प्रयोग की आशा भी करने लगे हैं। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का उपन्यास 'कठपुतली' भी एक प्रयोग ही है। उपन्यास की कथा-वस्तु की जालियाँ बुनने के लिए कविता, दृष्टान्त, आख्यायिका, लोक-गीत, नाटकों के दृश्य, जीवन-चरित्र, आत्मकथा, निबन्ध, टिप्पणी (यदि कोई फार्म बच गया हो तो वह भी) आदि साहित्य-अभिव्यंजना के सभी 'फ़ार्म्स' का उपयोग किया गया है।

सबसे पहले हमें कथानक की, इस दृष्टिकोण से परीक्षा करनी चाहिए कि उसके पात्रों के लिए उपन्यासकार द्वारा दिया हुआ अभिव्यक्ति का माध्यम अत्याधिक गरिष्ठ या अनुपयुक्त तो नहीं और किस माध्यम की पाठक के मनोरंजन की दृष्टि से उपादेयता है। मनोरंजक साहित्य की पहली शर्त है जो केवल मनोरंजक न होकर मूल में स्वस्थ भी हो।

नायिका दीपाली का परिचय हमें अनावश्यक रूप से लाहौर के एक बुक-स्टाल पर होता है, जहाँ वह गाड़ी आने के समय के बीच के अवकाश को किसी तरह से काटना चाहती है। किसी तरह राम-राम करके गाड़ी आती है और योजनानुसार दीपाली का बॉय फ्रैंड (?)—नाटककार सुनील उसके साथ बनारस जाने के लिए आ पहुँचता है। गाड़ी में 'थर्ड-क्लास' के वातावरण से प्रतीत होता है कि दीपाली को उपन्यासकार ने सिर्फ़ पाठकों के लिए ही थर्ड-क्लास में सफ़र करवाया है। वरना वह क़तई थर्ड-क्लास में फिट नहीं होती। पर सवेरा होते-होते दीपाली उत्तरप्रदेश की सभ्यता) वह बनारस वासिनी हैं। पी-एच० डी० के लिए अपने चाचा के पास लाहौर में रहती हैं) को ताक पर धरकर ज़ोर-ज़ोर से "चैन की निंदिया जिया अलसाने हो रामा" गीत गाने लगती है। यद्यपि उपन्यास में लेखक ने दीपाली को पॉलिश्ड़ और आधुनिक युवती बताया है। बनारस पहुँचकर दीपाली अपनी छोटी बहन मीना की शादी में शामिल हो लेती है और इस बीच दीपाली और सुनील का परिचय विमल बाबू नामक बंगाली चित्रकार से हो जाता है और दोनों—बल्कि तीनों मिलकर इस सत्य का प्रतिपादन करना चाहते हैं कि कलाकार को विवाह नहीं करना चाहिए और जीवन के आर्थिक पहलू के प्रति सर्वथा उदासीन रहना

१. 'चाँदनी के खण्डहर', ले०—गिरिधर गोपाल, प्र०—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। बीच-बीच में उपन्यासकार जो वर्णन देता है उससे प्रतीत होता है कि उस पर लोक-गीत-संग्रह का 'मेनिया' बुरी तरह हावी है। वह हर चिन्तन का आधार एक लोकगीत मानता है। मीना की विदा पर समवेदना प्रकट करने के लिए वह वधू को इस रूप में देखता है—

"हम तो बाबुल खूँटे की गैयाँ, जित हाँको हँक जायँ रे—सुन बाबुल मोरे।"

उपन्यास का आकार बढ़ाने की गरज से दीपाली और सुनील सारनाथ घूमते हुए लाहौर वापस लौट आते हैं। उपन्यासकार के कथनानुसार सुनील ने एक नाटक 'मिट्टी की मूरत' लिखा है जो नाटककार की अपनी जीवनी है। नाटक गाँव से चौथे क्लास तक पढ़ने के बाद रासधारियों की मण्डली के साथ हो लेता है और घूमता-घामता बम्बई पहुँचकर उन्हें छोड़ देता है और होटल में कप साफ करने से लेकर फिल्म-कम्पनी के एक्स्ट्रा तक का काम करता है। पता नहीं इस कथा में दीपाली-जैसी सुशिक्षिता और वह भी अंग्रेजी नाटकों पर थीसिस लिखने वाली विदुषी को क्या नवीनता दिखाई देती है कि वह उसे खेलने के लिए अपना सारा प्रभाव उपयोग कर देती है। आखिर नाटक स्टेज होता है और सफल होता है। दीपाली नायिका बनती है।

इस बीच धीरे-धीरे लाहौर में सुनील लोकप्रिय हो जाता है और उसके सम्पर्क में दीपाली की तीन सखी जीनत, पारुल और तेजकौर भी आ जाती हैं। जीनत इक़बाल पर एक पेपर लिख रही है और वह जब उसे लिटरेरी सोसायटी में पढ़ती है तो साहित्य-संसार में तहलका मच जाता है। इससे दीपाली जीनत से ईर्ष्या करने लगती है। इस घटना से कहानी के प्रसार में कोई सहायता नहीं मिलती।

सुनील दूसरा नाटक लिखता है 'गुड़िया और लोरी'। उसके स्टेज होने के बीच के समय में तेजकौर का मामा रिसालदार सरदार अर्जुनसिंह भी एक दिन सुनील से परिचित हो जाता है। अर्जुनसिंह सीधा-सादा गाँव का सिक्ख है और पूरे उपन्यास में सबसे अधिक मनोरंजक पात्र। उसका तकिया कलाम है—'दशम पादशाह दे सिंघों ने'....ऐसा किया वैसा किया, इत्यादि। उसे लेखक ने इतना मूर्ख चित्रित किया है कि जब ब्रिटिश सेना की द्वितीय महायुद्ध में विजय होती है तो सेना की टुकड़ियों से अपने-अपने राष्ट्रीय गीत गाने को कहा जाता है। अर्जुनसिंह को कोई राष्ट्रीय गीत याद नहीं है तो वह निम्नलिखित लोकगीत राष्ट्रीय गीत की तरह अपनी टुकड़ी से गवाता है।

घुग्गी दन्द बटेरा, श्रो घुग्गी दन्द बटेरा। हाँ घुग्गी दन्द बटेरा!
हाय हाय शेरा, हाय हाय शेरा, हाय हाय शेरा!
बल्ले, बल्ले, बल्ले, बल्ले!

[अर्थात् फ़ाख्ता के दाँतों (सरदार जी ने फ़ाख्ता के दाँत देखे होंगे) में बटेर आ गया। हाय रे शेर...शाबाश...शाबाश...शाबाश...शाबाश!]

सरदार जी के अनुसार यह भारत का राष्ट्रीय गीत सबसे अव्वल रहा।

सरदार जी ने अपनी डायरी में अंग्रेजों द्वारा गीत की तारीफ़ के साथ यह भी लिख लिया कि अंग्रेजों को भारत से जाना पड़ेगा....और दशम पातशाह दे सिंघों की नौकरी छूट गई।

'गुड़िया और लोरी' में दीपाली बीमारी के कारण अभिनय न कर सकी, इसलिए जीनत ने उसकी जगह भूमिका की और नायक के न होने के कारण सुनील और एक बूढ़े पात्र में दशम पादशाह दे सिंघों ने भी पार्ट किया। नाटक पुनः सफल हुआ और वह पंजाब यूनीवर्सिटी में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इण्टरमीडियेट के कोर्स में भी लग गया। इस बीच जीवन-यापन के लिए सुनील ने एक प्रेस में प्रूफ़रीडरी का काम भी कर लिया। पर प्रूफ़रीडरी जीनत के उससे विवाह करने में बाधक न हुई, यद्यपि जीनत एक अमीर कांग्रेसी मुसलमान की कन्या है। वे मुस्लिमलीग की तरफ़ झुकते जा रहे हैं, पर अपनी कन्या को क़तई एक हिन्दू से विवाह करने में नहीं रोकते। जीनत के पूर्व-प्रेमी जावेद का दिल टूटता है तो दया करके पारुल जावेद से विवाह कर लेती है। इन दोनों शादियों में वर-वधू पक्ष के लोग कुछ नहीं बोलते। अस्तु।

प्रेरणा के लिए सुनील अर्जुनसिंह की जमींदारी में सांदलबार पहुँचता है और वहाँ के 'जांगली' लोगों से आगामी नाटक 'जंगल रोता है' की प्रेरणा प्राप्त करके ऐसे वक्त वापस लाहौर लौटता है जब कि लाहौर में हत्याकाण्ड, आग और लूट का ताण्डव हो रहा है। जीनत के पिता भारत-विभाजन से पहले ही मुस्लिमलीगी हो जाते हैं और उनकी तथा जावेद की सहायता से जीनत (कल्याणी बनकर) दीपाली, तेजकौर, सरदार अर्जुनसिंह, सुनील आदि दिल्ली (शरणार्थियों के रूप में) सुरक्षित पहुँच जाते हैं। इधर के हिन्दू और उधर के मुसलमान अपने वर्गों के प्रेम का परिचय देते हैं। पारुल अब नर्गिस बन गई है। दीपाली, कल्याणी और तेजकौर एक ही स्कूल में पढ़ाती हैं। वे रोज गाँधीजी की प्रार्थना सभा में भाग लेती हैं। इधर सुनील के यहाँ पुत्र पैदा होता है और सुनील लिखना बन्द कर देता है। तेजकौर का विवाह केवल चौधरी नामक पत्रकार से हो जाता है। इस तरह सबके विवाह हो जाते हैं, पर दीपाली विवाह नहीं करती। वह एक परित्यक्त जारज बच्चे को गोद ले लेती है और एक दिन बिना किसी उद्देश्य के बनारस वापस चली जाती है।

मूल कथा तो यही है। इसमें इतना और जोड़ देना चाहिए कि गाँधीजी की मृत्यु का सबसे अधिक असर हुआ सुनील पर। यह सोचकर कि संसार कलाकारों, रहनुमाओं और मसीहाओं की क़द्र नहीं करता तो वह नाटक क्यों लिखे? उसने फिर कभी नाटक नहीं लिखे। पुनः होटल में 'कप-वसी' धोये या नहीं, यह लेखक ही जाने।

इस जरा-सी कथा को पूरे ४४८ पृष्ठों में लिखा गया है। मेरे ख़याल से इससे चौथाई भी जरूरत से ज़्यादा ही रहते। ख़ैर यह तो लेखक की अपनी स्वतन्त्रता है। हमें तो यह देखना है कि उपन्यास का विस्तार अनावश्यक तो नहीं है। प्रत्येक पात्र लोकगीत गाता है या आख्यायिकाएँ सुनाता है। प्रूफ़रीडरी के दिनों में सुनील भगतसिंह के सम्पूर्ण जीवन को बार-बार पढ़ता है और लेखक उसे उदारता से पाठकों की सूचना के लिए उपन्यास में भी दर्ज कर देता है। इसी तरह नायक के नाटक की लोरी या दृश्य भी उपन्यास में शामिल हैं, जिनसे कथा के प्रसार की गति दीर्घकाल तक रुद्ध रहती है। सच कहा जाय तो उपन्यास की असली कथा शुरू के २०० पृष्ठों के बाद आरम्भ होती है। उससे पहले के वर्णन लम्बे, सुस्त और शिथिल हैं; बल्कि उन्हें कठपुतली की भूमिका मानना ही ज़्यादा अच्छा होगा। जैसा कि लेखक ने समर्पण में कहा है 'श्री जवाहरलाल नेहरू को जिनके 'दो मसजिदें' नामक निबन्ध से मुझे इस उपन्यास की प्रेरणा मिली'। दो मसजिदों की कथा उपन्यास के पाठकों तक प्रतीक रूप में पहुँचाने के लिए कुछ नहीं तो कठपुतली के ३०० से अधिक पृष्ठ क़ुरबान कर दिये गए हैं। फिर कहीं-कहीं वर्णन अश्लील भी हो उठते हैं जिनकी न जरूरत थी और न उन्हें चूँकि ऐसा पंजाब में हुआ करता था ज्यों-का-त्यों धर देने की जरूरत थी। जरा मेले का वर्णन सुनिये—"भीड़ को चीरती हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीनों सखियाँ (दीपाली, जीनत और तेजकौर) बाहर की तरफ़ चल पड़ीं। लोगों की रगों में नया खून उछल रहा था, उनके चेहरों पर मुस्कानें नाच रही थीं। कोई कह रहा था—माल बुरा नहीं ! कोई कह रहा था—दूध में बताशे घुले जा रहे हैं ! फिर एक तरफ़ से आवाज़ आई—मेले की गुड़िया ! किसी ने कहा—फ़ाख्ता नहीं कबूतरी ! पास से एक आवाज़ उछली—हुस्न का छज्जा ! ये सब आवाज़ें, ये मज़ाक मेले में रंग भर रहे थे। इसका बुरा मानना तो ठीक नहीं था।" इतना-सा ही अंश काफ़ी होगा। इससे क्या हम यह मानें कि पंजाब ने सभ्यता के नाम पर उच्छृङ्खलता ही दी है और संस्कृति के नाम पर पंजाब शून्य है ?

भाषा कहीं-कहीं तो बहुत सुन्दर है और कहीं-कहीं अजीब अनगढ़-सी। ऊबड़-खाबड़, गैर मुहावरेदार और अंग्रेज़ी का अनुवाद····

सरदार अर्जुनसिंह, जिसने अंग्रेज़ी नहीं पढ़ी है, कहता है—"हमारे बीच में कोई-न-कोई काली भेड़ तो रहती ही है" जो 'there is always a black-sheep in the fold' का सीधा अनुवाद है, इत्यादि।

यद्यपि उपन्यास में राष्ट्रीय तत्त्वों की भरमार है पर वे बड़े अस्वाभाविक रूप में उपन्यास में पेश किये गए हैं। इस तरह से एक अच्छा-खासा उपन्यास अति-प्रयोगशीलता के कारण भूल-भुलैया बनकर रह गया। हम ४४८ पृष्ठों (पढ़ने को धीरज काफ़ी चाहिए) को दस बार भी पढ़कर यह समझने में असमर्थ हैं कि उपन्यास का ध्येय क्या है ? पात्रों के जीवन का कोई लक्ष्य है या नहीं ? सभी पात्र लेखक के हाथों की कठपुतलियाँ हैं। वह जैसे चाहता है नचाता है, मारता है, जिलाता है। इस दृष्टि से कि सभी पात्रों की अपनी कोई गति नहीं बल्कि वह लेखक की खींची हुई डोरी से परिचालित होते हैं, उपन्यास सफल है और नाम सार्थक। किन्तु अच्छा होता कि इस तरह के सुन्दर प्रयोग (जैसे कठपुतली में हैं) कठपुतली-जैसे निर्जीव उपन्यासों पर ज़ाया न किये जायँ।[1]

विजयेन्द्र स्नातक

'ओ मेरे सपने'

आधुनिक जीवन के वैषम्य और विद्रूप को हास्य-विनोद के मृदुल-मोहक वातावरण में अङ्कित करने की सहज शैली का सुन्दर रूप हमें श्री जगदीशचन्द्र माथुर लिखित 'ओ मेरे सपने' में संकलित पाँच एकांकी नाटकों में दृष्टिगत होता है। हमारे मन-वचन-कर्म की असंगतियों के अन्तराल में एक ओर जहाँ हमारी मान्यताओं की निस्सारता रहती है, वहाँ दूसरी ओर कृत्रिमता, आडम्बर-प्रियता और अज्ञानता की एक ऐसी अन्तःसलिला धारा प्रवाहित होती रहती है जिसे देखते हुए भी हम देख नहीं पाते और अपनी मूर्खताओं की अजस्र परम्परा बनाते चले जाते हैं। नाटककार

1. कठपुतली : लेखक—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रकाशक—एशिया प्रकाशन, १०० बेयर्ड रोड, नई दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी विषमताओं और विडम्बनाओं पर कटाक्ष-व्यंग्य की प्रखर शैली से प्रहार करते हैं। ऐसी मानसिक-सामाजिक व्याधियों के निराकरण और निदान का यही मार्ग प्रायः नाटकों में अपनाया जाता रहा है, किन्तु प्रस्तुत एकांकियों में कठोर व्यंग्य के दंश-प्रहार को सर्वथा दूर रखकर हास-परिहास की ऐसी मनोरम शैली लेखक ने स्वीकार की है जो अभिव्यंग्य को व्यक्त करती हुई भी अपनी कोमलता तथा शालीनता को अक्षुण्ण बनाये हुए है। लेखक के पास परिहास-भावना 'सेंस ऑव ह्यूमर' की इतनी पूँजी है कि वह मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन करते हुए 'स्मित-आनन' बना रहता है और पाठकों का मनोरंजन करता हुआ व्यंग्य-पुलक तक ही सीमित रहता है। जीवन में आये-दिन घटित होने वाली छोटी-मोटी बातों, घटनाओं और अनुभवों को विनोदवार्ता के माध्यम से 'मिनिएचर' में झलकाने की ऊँचे दरजे की कला इन नाटकों में है और यही इनकी सफलता है।

साधारणतः नाटकों में बाह्य संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करके ही लेखक अपने चरित्रों को उद्भासित और विकसित करते हैं। पात्रों को स्पन्दित करने के लिए भी द्वन्द्व और संघर्ष की भूमिका बनानी पड़ती है। किन्तु इन नाटकों में न तो कोई उल्लेख्य द्वन्द्व है और न किसी प्रकार का गम्भीर संघर्ष। यदि कहीं छुटपुट संघर्ष आया भी है तो उसे लेखक ने अपनी विनोदी वृत्ति से तिरोहित करके विकच हास्य की धवलिमा में छिपा लिया है। सामाजिक एवं मानसिक जटिल ग्रन्थियों को खोलने का लेखक ने उपक्रम ही नहीं किया। जो भाव-ग्रन्थियाँ प्रस्तुत की हैं उनका आधार प्रच्छन्न न होकर स्पष्ट और दृष्टिगोचर है। भावों की विवृति में किसी दार्शनिक शैली या गूढ़ पदावली का प्रयोग नहीं है। वैषम्य और विद्रूप के आर-पार देखने की पैनी दृष्टि लेखक के पास है अतः साधारण विनोद में भी वह अभिव्यंग्य को पकड़कर व्यक्त करने में नहीं चूकता।

इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने कोई गूढ़-गम्भीर तथ्य, गहन दर्शन अथवा उदात्त आदर्श इन नाटकों में प्रस्तुत नहीं किया। जीवन की ऐसी कोई व्यापक या जटिल समस्या भी इनमें नहीं जो अपना समाधान पाकर कल्याणकारी सिद्ध होती। लेखक की सृजन-प्रेरणा के मूल में भी ऐसा कोई भाव नहीं रहा। उसने तो अपने व्यस्त जीवन के दो-चार फुरसत के क्षणों में दिल-बहलावे के लिए ही इन्हें लिखा है। अपने नाटकों के सम्बन्ध में लेखक स्वयं सशंक है कि 'कहीं गम्भीर पाठकों और सुधी समालोचकों को कोणार्क के बाद शायद मेरे ये एकांकी हल्के जंचें। न इन नाटकों में कोई गहन दर्शन है, न किन्हीं प्रबल प्रेरणाओं का आघात-प्रतिघात, न किन्हीं उदात्त आदर्शों की आवेशपूर्ण व्यंजना!' दिल-बहलाव के लिए उद्देश्य-विशेष की छाप से रहित रूपक लिखने की तबियत को ही इनकी रचना का प्रेरक माना है। नाटक-रचना के मूल में गहन दर्शन या उदात्त आदर्श की अनिवार्यता कदाचित् आज कोई भी नहीं मानेगा। जीवन की छोटी-मोटी बातें भी नाटक द्वारा व्यक्त की जा सकती हैं और उनकी संवेदना और सरसता में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए। सामाजिक विषमताओं और मानसिक विडम्बनाओं के उद्घाटन के लिए यदि लेखक व्यंग्य-दंश की दाहक मशाल न जलाकर फुलझड़ी के निरापद अग्नि-स्फुलिंगों के आलोक में उन्हें चमका भर देता है तो यह उसकी सफलता ही कही जायगी। मानवीय दुर्बलताओं पर 'खड्ग-हस्त और कुंचित-भ्रू' होकर प्रहार करना सर्वदा श्लाध्य भी नहीं होता। 'ओ मेरे सपने' के नाटकों में लेखक ने 'केरिकेचर' की शैली द्वारा कतिपय विद्रूपों से हमारा हास्य के वातावरण में परिचय कराया है। इस शैली के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि 'केरिकेचर' की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेखाओं में गम्भीर, गहन, सूक्ष्म तथ्यों को समेटना सामान्य कोटि के लेखक की क्षमता से बाहर की बात है। केरिकेचर के असन्तुलित होते ही स्वयं हास्यास्पद होने का खतरा तो सदा रहता ही है। हिन्दी में, इसी कारण हल्की और सरल, संयत और भावपूर्ण शैली में लिखे गए मर्मस्पर्शी हास्यपूर्ण एकांकियों का अभाव है। तीक्ष्ण और प्रहारपूर्ण व्यंग्य की शैली में तो बीसियों सुन्दर नाटक लिखे गए, किन्तु कोमल, मृदुल और आह्लादक शैली में नहीं। हर्ष का विषय है कि श्री माथुर ने अपना दिल बहलाव करते हुए एक उपेक्षित अंग का प्रसाधन भी कर दिया।

इन एकांकियों में जिन पात्रों की अवतारणा हुई है वे 'चरित्र चित्रण' की पूर्णता तक नहीं पहुँच सके। व्यक्तित्व का सहज चित्राङ्कन ही इन नाटकों में मिलेगा; वह भी कतिपय विशिष्ट क्षणों के व्यक्तित्व का। जिन क्षणों को लेखक ने चुना है वे प्रायः मानसिक दुर्बलता के हैं, किन्तु ऐसे नहीं कि समाज को डुबा दें या किसी मर्यादा को खण्डित करके नाश का ताण्डव प्रस्तुत करें। सम्भव है इसी कारण इन नाटकों में परिपूर्ण चरित्रों की सृष्टि नहीं हुई। लेखक ने अपनी सफाई में कहा है कि—'पात्रों के साथ छेड़-छाड़, कुछ चुहल, कुछ शरारत तो की गई है, लेकिन उनको बिलकुल स्याह या सफेद नहीं रँगा गया।'

नाटकों की अभिनेयता की ओर लेखक का पूरा-पूरा ध्यान रहा है। नाट्य-वस्तु के चयन के लिए लेखक को किसी विशिष्ट प्रवृत्ति का संधान नहीं करना पड़ा, रोजमर्रा के जीवन में से ही उसने वस्तु को ग्रहण करके उपन्यस्त किया है। कथोपकथन अतीव सरल, तरल, कोमल और आकर्षक हैं। शैली में कृत्रिमता का लेश भी नहीं। फड़कते होंठों पर आने वाले विनोदी-सम्वाद, कॉफी-हाउस और रेस्टराँ के किलकते वातावरण में गूँजने वाले लुभावने वाक्य, सिनेमा की हल्की-फुल्की अभिव्यंजना पर आधृत पैरोडी का शिल्प। पात्र-सृष्टि भी जानी-पहचानी है। कहीं परिवार-नियोजन में विश्वास करने वाले सन्तति-बहुल युवक हैं तो कहीं दफ्तर के कार्यभार से व्यस्त जीवन व्यतीत करने वाले अफसर जिन्हें अपने दाम्पत्य जीवन के उषाकाल में ही मध्याह्न का आभास होने लगा है। सिनेमा-प्रेमी मनचले युवकों का केरिकेचर प्रस्तुत करने में अतिरंजना भले ही हो किन्तु ऐसे मूढ़ों को मार्ग बताना 'सविता गहि भूमि पै डारिबो है।'

नाटकों की अभिव्यंजना-शैली की विशेषता यह है कि इनमें लेखक ने अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने के लिए इतने विचित्र उपमान ढूँढ़े हैं कि लेखक की उद्भावना शक्ति पर विस्मय होता है। प्रायः फिल्मी जीवन के गाने, कथानक और पात्रों की पृष्ठभूमि में अप्रस्तुत योजना की गई है। 'शादी वह दीवार है जो मनुष्य अपनी आत्मा रूपी अनारकली के चारों तरफ चिनता है ताकि वह घुटकर मर जाय।' दाम्पत्य जीवन पर व्यंग्य करते हुए लेखक ने अच्छे मार्मिक वाक्य कहे हैं। सन्तति-निग्रह के युग में दो बच्चों का एक साथ पैदा होना ही कुछ कम अभिशाप नहीं है। 'खिड़की की राह' एकांकी में गायक दिलीप की अर्थ-गर्भ उक्ति आज के प्रपंची समाज की कार्य-शैली का पूरा-पूरा परिचय देने में समर्थ है। दिलीप खिड़की की राह घर में आया—अर्थात् 'बैक डोर पॉलिसी' स्वीकार की और उसने कार्यसिद्धि इतनी क्षिप्रता के साथ की कि दरवाजे से आने वाले लोग देखते रह गए। 'समाज उसके आगे झुकता है जो खिड़की की राह कूदकर उसे रौंदा सके। जिसने दरवाजा पकड़ा, वह तो उसका गुलाम है।' प्रवीण धोखा खाता है और उर्मिला दिलीप के साथ—कलाकार के साथ (!)—नौ-दो ग्यारह होती है। 'ओ मेरे सपने' शीर्षक एकांकी में सिनेमा-प्रेमियों का केरिकेचर प्रस्तुत करते हुए, दूसरे दृश्य में तीनों का सरिता के घर पहुँचकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रणय प्रदर्शन अधिक युक्तिसंगत और स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता, फिर भी लेखक ने उसका वर्णन अवश्य सजीव शैली में किया है। भारतीय फिल्मों के कथानक, संगीत, सम्वाद आदि पर भी लेखक ने प्रसंग-प्राप्त रिमार्क कसे हैं और फिल्मों की अस्वाभाविक शैली का अच्छा खाका खींचा है। फिल्मी सितारों के पीछे मतवाले मूढ़ों की कसक-कहानी कहते समय उनके 'विशफुल-थिंकिंग' का वर्णन नाटकीय शैली में अभिराम है।

इस संग्रह के प्रत्येक नाटक के साथ लेखक ने रंगमंच की रचना का निर्देश देने के निमित्त चित्र बनाए हैं जिनके आधार पर 'सैटिंग' तैयार की जा सकती है। अभिनय में रुचि रखने वाले के लिए कुछ ज्ञातव्य बातें भी प्रारम्भ में लिखी हैं, जिनकी उपादेयता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। अन्त में 'मैं भी खेल चुका हूँ' शीर्षक एक लघु लेख है जिसमें लेखक ने अपनी अभिनय-सम्बन्धी प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए अपने वे अनुभव लिखे हैं जो किसी भी अभिनेता के लिए ग्राह्य हो सकते हैं। आजकल स्कूल, कॉलेज तथा अन्य अव्यावसायिक (एमेचर) नाटक-संघ अभिनय की दिशा में तीव्रता से कदम बढ़ा रहे हैं। क्या ही अच्छा हो कि अनुभवी लेखक और अभिनय में रुचि रखने वाले कलाकार उन्हें उचित परामर्श और निर्देशन देकर सत्पथ पर आरूढ़ करें। लेख 'पर्सनल' होने पर भी अभिनय में रुचि रखने वालों के लिए उपयोगी है।

संक्षेप में, श्री माथुर के इन नाटकों में भले ही वस्तुगत मौलिकता या नाटकीय नूतन उद्भावना न हो किन्तु उनकी सरस और सहज अभिव्यंजना ही इनकी नवीनता है और यही इनकी विशेषता भी। गम्भीर समस्याओं में उलझने के बजाय लेखक यदि कभी-कभी दैनिक जीवन की छोटी-मोटी विडम्बनाओं पर भी नजर रखे तो यह कला के क्षेत्र में स्पृहणीय प्रवृत्ति का ही सूचक है।[1]

विश्वम्भर 'मानव'

परिव्राजक की प्रजा

'परिव्राजक की प्रजा' में श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने छोटे-छोटे अनेक संस्मरणों के रूप में अपनी आत्म-कथा लिखी है। शान्तिप्रिय के पिता संन्यासी हो गए थे। ग्रन्थ में इन्हीं संन्यासी (परिव्राजक) पिता की सन्तान (प्रजा) की जीवन-गाथा वर्णित है।

इतने बड़े ग्रन्थ से इस बात का पता नहीं चलता कि शान्तिप्रिय का जन्म कब हुआ। पर इनका बचपन का नाम मुच्छन था। इनके पिता आजमगढ़ जिले में बरहँपुर गाँव के निवासी थे। संस्कृत की शिक्षा के लिए वे काशी आए। बाद में संन्यासी हो गए। परिवार वहीं रहने लगा। इनकी माँ की मृत्यु इनके बचपन में ही हो गई थी। बड़ी बहन कल्पवती बाल-विधवा थी। उसी पर इनके भरण-पोषण का भार पड़ा। इनके दो छोटे भाइयों की मृत्यु अल्पावस्था में ही हो गई। एक दिन पिता की दुःखद मृत्यु का समाचार मिला। छोटी बहन का विवाह

१. ओ मेरे सपने (एकांकी-संग्रह)—ले० जगदीशचन्द्र माथुर। प्र०—नीलाभ प्रकाशन गृह, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक गाँव में हुआ था। वह भी चल बसी। लेकिन इन्हें जीवन का सबसे बड़ा आघात उस समय लगा जब मार्च १६३६ में इनकी बड़ी बहन की मृत्यु एक अस्पताल में हो गई और उसे बचाने के लिए ये कुछ नहीं कर सके।

इस ग्रन्थ में दो ही व्यक्ति प्रमुख हैं—एक शान्तिप्रिय, दूसरी उनकी बड़ी बहन। बड़ी बहन करुणा की सजल मूर्ति है। वह बाल-विधवा अपने छोटे-से जीवन में माता-पिता, छोटी बहन और दो कोमल भाइयों की मृत्यु का आघात झेलती है और बच्चे के समान शान्तिप्रिय का लालन-पालन करती है। शान्तिप्रिय ने उन्हें धार्मिक, सुरुचिपूर्ण, आचार-विचार का ध्यान रखने वाली और परिश्रमी चित्रित किया है। उनकी तुलना मीरा और स्वर्ग की कल्पलता से की है। इस बहन के प्रति शान्तिप्रिय के हृदय में अत्यधिक श्रद्धा है; अतः वर्णन प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण और अतिरंजित हो गए हैं। अपने को बधिर और कृशकाय बतलाया है। इस कृशता की तुलना उन्होंने मृगशावक, शशक, कुड्मल और ओसबिन्दु से की है। ये उपमान उनके लिए कहाँ तक उपयुक्त हैं, यह तो वे ही लोग बता सकेंगे जिन्होंने उनके कभी दर्शन किए हैं।

इस आत्म-कथा में शान्तिप्रिय ने अपने साहित्यिक और सांसारिक जीवन के विकास के साथ अपनी बड़ी बहन के प्रति हृदय की समस्त श्रद्धा उंड़ेलते हुए अपने अभावों का खुला वर्णन किया है। यद्यपि लेखक के अकर्मण्य होने और विषम परिस्थितियों में संघर्ष से पलायन करने के कारण इस कृति से पाठकों को कोई सामाजिक प्रेरणा नहीं मिलती, फिर भी इसके कुछ स्थल बड़े मर्मस्पर्शी और पठनीय बन पड़े हैं।

वर्णन की दृष्टि से यह ग्रन्थ थोड़ा महत्त्वपूर्ण है। शान्तिप्रिय को कवि-हृदय मिला है और उसका प्रभाव उनकी गद्य-शैली पर भी पड़ा है। विभिन्न प्रसंगों के बीच सरयू-तट और सरोवर, खेत और अमराइयों, शरद चाँदनी और पटपर, कनेर, नीबू, नीम और बेर जिस किसी भी वस्तु को इन्होंने बाह्य वस्तु-वर्णन के रूप में ग्रहण किया है, उसे चमका दिया है। काशी तो बहुत ही सजीव होकर इनके संस्मरणों में आई है।

इन संस्मरणों में अनेक व्यक्तियों की चर्चा हुई है। राजनीतिक क्षेत्र में जिन महापुरुषों की चर्चा है, उनकी झाँकियाँ ही इस ग्रन्थ में मिलती हैं। नाम तो इन्होंने बहुत-से व्यक्तियों के लिये हैं जैसे महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, सरोजनी नायडू, गणेश शंकर विद्यार्थी और चन्द्रशेखर आजाद आदि; पर इसे राजनीतिक महापुरुषों का सम्पर्क नहीं कह सकते। इनमें से किसी को इन्होंने दूर से देखा-भर है, किसी का भाषण सुना है, किसी के पास खड़े हो गए हैं और किसी के बढ़कर चरण भी छू लिए हैं। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में थियॉसोफ़ीकल सोसाइटी, आर्य समाज और ईसाई प्रचारकों की चर्चा-मात्र है। इससे इनके मन की किसी गहरी प्रतिक्रिया का पता नहीं चलता।

शान्तिप्रिय अन्ततः साहित्यिक व्यक्ति हैं। इनके छोटे-छोटे दो कविता-संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। कवि के रूप में तो इन्हें ख्याति नहीं मिली, पर आलोचक के रूप में इन्होंने यश का अर्जन किया। यह वह युग था जब हिन्दी में आलोचना की परम्परा प्रारम्भ नहीं हुई थी और छायावादी काव्य को सहृदयता की दृष्टि से देखने वाले समीक्षक एक प्रकार से थे ही नहीं। उस युग में अपने ढंग से उस शाखा का भावात्मक विवेचन करके इन्होंने बड़ा समयो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पयोगी कार्य किया। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी में आलोचना के ऐतिहासिक विकास की चर्चा जब कभी होगी, तभी अन्य प्रभाववादी आलोचकों के साथ इनका नाम लिया जायगा। इस ग्रन्थ में कविताओं के लम्बे उद्धरणों से इस बात का आभास मिलता है कि अपने कवि-रूप के प्रति कुछ आवश्यकता से अधिक मोह इनके हृदय में अब भी शेष है। पर इस दिशा में इनकी स्थिति कुछ-कुछ वैसी ही रहेगी जैसी पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० देवराज और प्रभाकर माचवे की।

साहित्यिकों में प्रसाद और राय कृष्णदास की चर्चा थोड़ी अधिक है। अन्य साहित्यकारों में प्रेमचन्द, बनारसीदास चतुर्वेदी, कृष्णबिहारी मिश्र, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, उग्र, दुलारेलाल भार्गव, निराला, पन्त, महादेवी, 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा और रामकुमार का उल्लेख हुआ है। विभिन्न क्षेत्रों की इन सूचियों से ऐसा विश्वास जगेगा कि लेखक ने इस ग्रन्थ में अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक हलचल का परिचय दिया होगा। पर युग-चेतना शान्तिप्रिय जी में है ही नहीं। यह युग सभी दिशाओं में अनेक महान् घटनाओं का युग है; पर इस ग्रन्थ में किसी भी महान् घटना की कोई महान् प्रतिक्रिया नहीं पाई जाती। कहा जा सकता है कि राजनीति, धर्म, समाज और शिक्षा उनके क्षेत्र नहीं हैं और महात्मा गांधी, एनी बीसेंट, महामना मालवीय आदि की जो चर्चा हो गई है वह वैसे ही; पर साहित्य तो उनका क्षेत्र है। इस क्षेत्र में भी सिवाय एक प्रकार की मुग्ध दृष्टि के और कुछ नहीं पाया जाता।

दूसरी प्रवृत्ति जो थोड़ी खटकती है वह है इनका अधिकतर साहित्यिकों को स्वार्थ की दृष्टि से देखना। ये जिस किसी के सम्पर्क में आते हैं उससे आश्रय या आर्थिक सहायता की आशा करते हैं और क्योंकि ऐसा सदैव सम्भव नहीं होता; अपने हृदय के असन्तोष को ये छिपा नहीं पाते। प्रसाद, राय कृष्णदास, पन्त और महादेवी सभी से ये इस दृष्टि से असन्तुष्ट दिखाई देते हैं। इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द, मैथिलीशरण और 'निराला' पर भी दबे-छिपे व्यंग्य इन्होंने किए हैं। संस्मरणों में दो ही ऐसे सौभाग्यशाली व्यक्ति हैं जिन्हें शान्तिप्रिय की प्रशंसा प्राप्त हुई है—उनमें से एक है हिटलर, दूसरे श्री दुलारेलाल भार्गव।

यह आत्म-कथा कई समस्याएँ हमारे सामने उठाती है। पहली है मनोवैज्ञानिक। बाधाएँ सभी के जीवन में रहती हैं—कलाकार के जीवन में कुछ अधिक। जीवन-संघर्ष में व्यक्ति या तो परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है या फिर उनसे दब जाता है। दुःख से दबने वाला व्यक्ति आत्म-रक्षा के लिए प्रायः परमुखापेक्षी हो जाता है। संवदेनशील और अन्तर्मुखी स्वभाव के व्यक्ति के साथ उलझन यह रहती है कि वह सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से आशा तो बहुत कुछ करता है, पर अधिक खुलकर कुछ नहीं कह पाता। चाहता वह यह है कि सामने का व्यक्ति उसकी कठिनाइयों को स्वयं समझकर उन्हें दूर कर दे। यदि नहीं करता तो जैसे वह कोई अपराध करता है। ऐसी दशा में परोपजीवी स्वभाव के हीन-भावना युक्त दुर्बल प्राणी कभी-कभी व्यक्ति और संस्थाओं से आगे बढ़कर अपने जीवन के अभाव और पीड़ा के लिए सारे समाज को ही दोष देने लगते हैं, यद्यपि व्यक्ति और समाज का उतना बड़ा दोष नहीं होता।

दूसरी समस्या है साहित्यिक। व्यक्ति के साहित्य पर उसके जीवन की घटनाओं और स्वभाव का कहीं-न-कहीं प्रभाव पड़ता ही है। लेकिन यदि किसी व्यक्ति की यह धारणा बन गई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि वह तो है निरीह और उसके चारों ओर का वातावरण है एकदम विपाक्त, तो यह बहुत सम्भव है कि वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण विकृत हो उठे और प्रत्येक उस व्यक्ति को जो किसी रूप में उसके काम नहीं आया, निरपेक्ष और न्यायपूर्ण दृष्टि से वह न देख सके। इस आत्म-कथा में जिन बड़े साहित्यकारों के सम्पर्क में लेखक आया है उनके व्यक्तित्व और साहित्य में बहुत-सी ऐसी बातें उसे मिल सकती थीं जो पाठकों की उत्सुकता-वृत्ति को तुष्ट करके संस्कारों को व्यापक और कोमल बनातीं। आलोचक होने के कारण लेखक यह काम अत्यन्त विदग्धता से कर सकता था; पर खेद की बात है कि उसने अपने युग के सभी बड़े साहित्यकारों को बड़े सीमित और संकुचित दृष्टिकोण से ही देखा।

तीसरी समस्या है सामाजिक। यह मानते हुए भी कि शान्तिप्रिय जी में अपनी परिस्थितियों से ऊपर उठने की शक्ति नहीं रही, इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि बचपन से ही उनके अन्तर में एक ऐसा उज्ज्वल संस्कार निहित था जो धीरे-धीरे साहित्य के क्षेत्र में उन्हें खींच लाया। यदि शान्तिप्रिय जी साहित्य के क्षेत्र में न आए होते तो कहा नहीं जा सकता वे क्या होते। यह बात यद्यपि साहित्यिक आलोचना के बाहर की है, फिर भी क्योंकि एक साहित्यिक के जीवन से सम्बन्ध रखती है, अतः उपेक्षणीय नहीं है। आलोचना के क्षेत्र में अपनी क्षमता के अनुसार शान्तिप्रिय जी ने हमें कुछ-न-कुछ दिया ही है। उनकी नाम-मात्र की शिक्षा-दीक्षा और दुर्बल शरीर को देखते हुए यह भी स्पष्ट है कि जीविकोपार्जन के लिए वे कोई और काम कर भी नहीं सकते थे। आज के युग में यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि दो-एक साहित्यिकों को छोड़कर हिन्दी में कोई लेखक केवल अपनी रचनाओं के बल पर जीवित नहीं रह सकता। ऐसी दशा में यदि हम सभी मिलकर एक 'लेखक निधि' की स्थापना कर सकें और भविष्य में अपने संकट-ग्रस्त लेखकों की जीवन-ज्योति को असमय बुझने से बचा सकें तो एक महान् कार्य की नींव डाल सकेंगे। साहित्यिक से आलोक और आनन्द चाहे संसार-भर को मिले, पर उसका दर्द केवल साहित्यिक ही समझ सकता है।[1]

बालशौरि रेड्डी

तेलुगु साहित्य का इतिहास

तेलुगु साहित्य का इतिहास इतना विस्तृत है कि उसे सौ या सवा सौ पृष्ठों में समझाना कठिन है। ऐसी स्थिति में 'तेलुगु और उसका साहित्य' भूमिका आदि को मिलाकर १२५ पृष्ठों में तैयार की गई है। इसमें कितना विषय दिया जा सकता है, पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि इसमें लेखक ने तेलुगु-साहित्य के इतिहास की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है। उन्हीं के शब्दों सुनिए—"मैंने इसमें 'गागर में सागर' भर देने की विनम्र चेष्टा की है। तेलुगु साहित्य का इतिहास इतना विस्तृत और गम्भीर

[1] **लेखक—शान्तिप्रिय द्विवेदी, प्रकाशक—इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि इस जरा-सी पुस्तक में उसकी रूप-रेखा प्रस्तुत करना कठिन काम था। मैंने इस विषय का ध्यान रखा कि हिन्दी के माध्यम से आन्ध्रेतर भाषियों को तेलुगु-साहित्य का परिचय सरल ढंग से मिल जाय।"

तेलुगु साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। आधुनिक तेलुगु साहित्य के युग-प्रवर्तक स्वर्गीय श्री वीरेश लिंगम पंतुलुजी ने अपने 'आन्ध्र कवुल चरित्र' (आन्ध्र कवियों का इतिहास) में ग्रन्थ को अधिक सुगम व सरल बनाने की दृष्टि से कवि तथा काव्यों को तीन प्रधान भागों में बाँटा था जो क्रमशः (१) प्राचीन कवि (२) मध्य-युग के कवि तथा (३) आधुनिक कवि थे। श्री गुरजाड राममूर्तिजी ने अपने 'कवि जीवितमुल' (कवियों की जीवनियाँ) नामक ग्रन्थ को कवियों की रचनाओं के आधार पर (१) महाभारत के कवि (२) रामायण के कवि और (३) प्रबन्धों के कवि नाम से काल-विभाजन किया है। परन्तु विषय की दृष्टि से महाभारत, रामायण और प्रबन्ध ही नहीं बल्कि नाटक, कहानी, उपन्यास, जीवनियाँ, शतक, खण्ड-काव्य, रीति-ग्रन्थ आदि भी तेलुगु में समय-समय पर रचे गए हैं। तेलुगु का शतक साहित्य इतना समृद्ध है कि उसने अपना एक युग ही बना लिया है। ऐसी दशा में उपयुक्त ग्रन्थों का प्रतिनिधित्व करने वाला युग ही नहीं रहा।

इनके बाद श्री के० वेंकेट नारायणरावजी ने 'आन्ध्रवाङ्मय चरित्र संग्रहम' (आन्ध्र-साहित्य के इतिहास का संग्रह) नाम से एक तेलुगु साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया। उन्होंने इस ग्रन्थ को पाँच प्रधान खण्डों में विभक्त किया, जिनके उपखण्ड भी हैं। ये इस प्रकार हैं।

(१) प्राचीन कविता ई० पू० २८ से ई० सन् १००० तक

(२) पुराण कविता ई० स० १००१ से १३८० .

- (अ) चालुक्यपोडयुग (१००१—१२००)
- (आ) काकतीययुग (१२०१—१३८०)

(३) काव्य तथा प्रबन्ध कविता ई० १३८१—१६५०

- (अ) रेड्डी, नायक, कर्नाटक युग (१३८१—१५००)
- (आ) श्री रायल युग (१५०१—१६५०)

(४) अर्वाचीन कविता ई० १६५१—१८६०

- (अ) मध्य युग—शतक (१६५१—१८००)
- (आ) सन्धियुग—(१८०१—१९००)

(५) नवयुग १९०१ से आज तक

इस पुस्तक में लेखक ने काव्य-रचना व काव्य-लक्षणों के आधार पर काव्य-विभाजन किया है जो अधिक युक्तिसंगत मालूम होता है। परन्तु इसमें भी इस समय मतभेद हैं। तेलुगु साहित्य के मर्मज्ञ आलोचक श्री कोरडा रामकृष्णय्याजी ने तेलुगु-साहित्य के इतिहास का निम्न प्रकार से विभाजन किया है।

(१) अज्ञात युग ई० पू०	२८ से १००० तक
(२) भाषान्तरीकरणयुग या कवित्रययुग	१००१—१३५०
(३) सन्धियुग या श्रीनाथयुग	१३५१—१५००
(४) प्रबन्धयुग या रायलयुग	१५०१—१७००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) दक्षिणदेश वाङ्मययुग	१७०१—१६००
(६) आधुनिक युग	१६०१—आज तक

उपर्युक्त सभी काव्य-विभागों में श्री कोरडा रामकृष्णय्याजी का युग-निर्णय काव्य, लक्षण, कवि तथा युग की परिस्थितियों के अनुकूल है। प्रत्येक युग का नाम अपने समय के साहित्य का परिचय दे रहा है।

परन्तु इस ग्रन्थ के लेखक ने काल-विभाजन में एक दूसरी पद्धति को ही अपनाया, किन्तु इस काल-निर्णय के सम्बन्ध में अपनी राय स्पष्ट नहीं की। इसके अलावा इसका युग-निर्णय अधिक भ्रमात्मक है। उदाहरण के लिए देखें—लेखक ने साहित्य के इतिहास का इस प्रकार वर्गीकरण किया है।

(१) अति प्राचीन साहित्य ई० स०	५००—१०००
(२) पुराण युग	१००१—१३००
(३) काव्य काल	१४००—१७००
(४) ह्रास काल	१६५०—१६००
(५) आधुनिक काल	१८५०—१६५० तक

इसमें पुराण युग ई० सन् १००१ से १३०० तक माना गया है। इसके बाद काव्य-काल १४०० से प्रारम्भ होता है। १३०१ से १४०० तक कौनसा काल था? समझ में नहीं आता। इसमें लेखक व प्रकाशक दोनों का ध्यान नहीं गया है। वैसी ही भूलें और देखिए—काव्य-काल १४०० से १७०० तक है और ह्रास-काल १६५० से १६०० तक माना गया है। ऐसी स्थिति में काव्य-काल को १४०० से १६५० तक ही मानते तो अच्छा होता। १७०० तक काव्य-काल ही था तो ह्रास-काल १७०१ से मानना चाहिए था। ऐसे ही ह्रास-काल १६५० से १६०० तक है तो आधुनिक काल १८५० से ही प्रारम्भ हो जाता है, जो पाठकों को संदेह में डाल देता है। इसे स्पष्ट करना चाहिए था।

पुस्तक की छपाई, सफाई व गेट अप सुन्दर एवं सुरुचिपूर्ण है। पुस्तक की शैली व विषय-प्रतिपादन का ढंग भी उत्तम है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखक तेलुगु व हिन्दी के अच्छे विद्वान् हैं और बहुत ही परिश्रम के साथ पुस्तक की तैयारी की है। ग्रन्थ के आरम्भ में तेलुगु-प्रदेशः जनता व भाषा और अन्त में विविध प्रवृत्तियाँ तथा पत्र-पत्रिकाएँ व संस्थाएँ निबन्ध जोड़कर लेखक ने स्वर्ण में सुगन्ध का कार्य किया है। भाषा विषय के अनुकूल है। गम्भीर विषयों को समर्थ भाषा में संक्षिप्त में समझाने का लेखक ने अच्छा प्रयत्न किया है। आन्ध्रेतर भाषियों को तेलुगु भाषा व साहित्य के विकास का ज्ञान कराने के लिए यह पुस्तक पर्याप्त एवं सुन्दर है।

इतना होते हुए भी यत्र-तत्र छपाई की भूलें रह गई हैं। ये भूलें लेखक की ओर से तो हो ही नहीं सकतीं, तेलुगु का ज्ञान न होने के कारण छपाई में ही हो गई होंगी, ऐसा मेरा विश्वास है। उदाहरण के लिए :

येद्लनिनन् की जगह—येट्लनिमन्[१], जेरवु—नेरुवु[२], कोनबुद्धारेड्डी—गोनबुद्धारेड्डी[३],

१. पृष्ठ २३, पंक्ति २।
२. ,, ,, ,, ३।
३. ,, २५ ,, ५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विन्नकोट पेछ्न्न—विन्नकोट पेद्दना[४], अल्लसानि पेछ्न्न के स्थान पर अल्लसानि पेद्दना[५], छपवाना चाहिए था। यह भूल तो सर्वत्र हुई है। मुद्दु पल्लु के स्थान पर मुद्दु पल्कु[६] होना चाहिए। ऐसी ही भूल गजोपाख्यान गयोपाख्यान[७] के स्थान पर छपी है, जिससे अर्थ का अनर्थ हो गया है। बोंदेलपाटि के स्थान पर बोंद्देन्नपाटि[८], मोटूरि के स्थान पर मोट्टूरि[९] छपे हैं।

इनके अलावा एक विचित्र गलती यह छपी हुई है कि अंग्रेजी के महान् कवि व नाटककार की कृति कामेडी ऑव एर्रर्स (Comedy of Errors)[१०] की जगह पर 'कामेडी ऑव टू एर्रर्स' छपा है। यह भूल कैसे हुई, पता नहीं चलता है।

लेखक ने श्री गोपीचन्द की रचनाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'असमर्थुनि जीवित यात्रा' तथा 'देवुनि जीवितं'[११] इनके छोटे-छोटे उपन्यास हैं। परन्तु स्मरण रहे कि 'देवुनि जीवितं' गोपीचन्द का उपन्यास नहीं बल्कि उनकी कहानियों का संग्रह है। उनके दो उपन्यास और हैं—वे 'परिवर्तनम्' और 'ना क्रोत्त नवल' (मेरा नया उपन्यास) हैं।

प्रगतिशील कवि श्री आरुद्र के बारे में परिचय वाक्य लिखा है कि 'कविता और विचारधारा में ये अपने मामा से प्रेरित हैं।'[१२] परन्तु इस बात का कहीं ग्रन्थ में उल्लेख नहीं हुआ है कि इनके मामा कौन हैं। अधिकांश तेलुगुभाषी जनता को यह नहीं मालूम कि इनके मामा तेलुगु-प्रगतिशील साहित्य के प्रवर्तक श्री श्री रंगम श्री निवासराव (श्री श्री) हैं। ऐसी दशा में हिन्दी जगत् को कैसा मालूम होगा? सम्भवतः परिचय देना भूल गए होंगे।

इन त्रुटियों को अगले संस्करण में सुधारा जाय तो पुस्तक सुन्दर व उपादेय बन सकती है। विषय जो कुछ भी दिया है, सुन्दर एवं प्रामाणिक है। कुछ कवि और काव्यों के सम्बन्ध में जो मतभेद हैं, उनका विवरण ग्रन्थ-विस्तार के भय से देना छोड़ दिया मालूम होता है। हाँ, प्रत्येक काल के विषय में आरम्भ में उस युग की सामाजिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों का कुछ विस्तारपूर्वक परिचय करते तो अच्छा होता।

अन्त में हम इसके सम्पादक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' को बधाई देना चाहते हैं। उन्होंने भारतीय साहित्य परिचय नामक ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी जगत् को समस्त भारतीय भाषाओं व साहित्यों के विकास की रूप-रेखा का परिचय कराने का संकल्प किया है। इस ऐतिहासिक प्रकाशन के लिए श्री सुमन जी धन्यवाद के पात्र हैं। उनके इस स्तुत्य प्रयत्न की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही होगी।[१३]

---

४. पृष्ठ २७ पंक्ति १८।
५. ,, ४४ ,, ६।
६. ,, ४८ ,, १२।
७. ,, ८६ ,, १०।
८. ,, १२० ,, ८।
९. ,, १२६ ,, २।
१०. ,, ५२ ,, २४।
११. ,, १०३ ,, २४।
१२. ,, २०२ ,, २४।
१३. तेलुगु और उसका साहित्य, लेखक—हनुमच्छास्त्री, 'अयाचित'। सम्पादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन'। प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, बम्बई, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

द्विवेदी-पत्रावली

किसी भी साहित्य के अध्ययन की सामग्री में पत्र-साहित्य का अपना विशेष स्थान है। बहुत-सी बातें जो सार्वजनिक रूप से नहीं कही जा सकतीं या जो सार्वजनिक रूप से ज्ञात नहीं होतीं वे पत्रों में सहज ही स्वीकार कर ली या कह दी जाती हैं—वह भी ऐसे क्षणों में जब पत्र-लेखक अपने स्वभाव और अकृत्रिम रूप में होता है। यदि पत्र-लेखक कोई उच्चकोटि का साहित्यिक या कलाकार हुआ तो उसकी सरल एवं सजीव शैली साहित्य की निधि बन जाती है। उसमें उसका वास्तविक व्यक्तित्व निखर उठता है जिससे साहित्य के विद्यार्थी को उसे समझने में अमूल्य सहायता प्राप्त होती है। इतना ही नहीं साहित्यिक पत्रों का सम्यक् रूप से अध्ययन करने से युग-विशेष की साहित्यिक परिस्थितियों, व्यक्तियों, रचनाओं, भावनाओं, रचना-विशेष के मूल स्रोतों और प्रेरणाओं के रहस्योद्घाटन आदि के सम्बन्ध में हमारी जिज्ञासा-वृत्ति की परितुष्टि और ज्ञानपिपासा की शान्ति होती है; हमारी कल्पना में उस युग-विशेष का रूप साकार हो उठता है। पत्रों के साथ-साथ यदि आत्म-कथाओं और संस्मरणों का अध्ययन भी किया जाय तो निस्सन्देह हम युग-विशेष का मेरुदण्ड पहचान सकेंगे। किन्तु पत्र-साहित्य, आत्म-कथाओं और संस्मरणों का जितना अधिक महत्त्व है उतना ही उनका कलापूर्ण सर्जन कठिन है। संवेदनशीलता, विदग्धता, सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, युग-मन को पहचानने की क्षमता, उसकी परिस्थितियों और वातावरण की पृष्ठभूमि को ठीक-ठीक समझना और मूल्यांकन करना और स्वयं उस युग की भावनाओं में पैठना, इन बातों के साथ-साथ उन्हें संक्षेप में उपयुक्त एवं अर्थपूर्ण शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करना प्रतिभापेक्ष्य है। सभी लोग ऐसा नहीं कर सकते। शैली, बायरन, गोर्की, शॉ, रवीन्द्रनाथ आदि महान् कवियों और कलाकारों के पत्र आज विश्व-साहित्य में समादृत हैं और वे विश्व-साहित्य के आवश्यक अंग बन गए हैं। यह सन्तोष का विषय है कि हिन्दी में भी साहित्य-प्रेमियों का ध्यान इस ओर जाने लगा है। पुस्तक संग्रह साहित्य के इसी अनिवार्य रूप के अभाव की पूर्ति है।

हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्दनारायण मिश्र, 'प्रेमघन', द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त आदि के पत्रों का यदि संकलन कर दिया जाय तो आधुनिक हिन्दी-साहित्य की गति-विधि पर यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है। पद्मसिंह शर्मा और सत्यनारायण कविरत्न के पत्रों में जो विचक्षणता है, वह हिन्दी साहित्य की अपनी चीज है। द्विवेदी जी के मानव-रूप एवं साहित्यिक व्यक्तित्व दोनों ही का हिन्दी-साहित्य ऋणी है। प्रस्तुत पत्र-संग्रह से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि द्विवेदी जी साहित्यिक कार्यों में कितना व्यस्त रहते थे, किस प्रकार उदीयमान कवियों और लेखकों को प्रोत्साहित तथा उनका मार्ग-प्रदर्शन करते थे, खड़ी बोली हिन्दी को किस प्रकार तराश-खराश कर उसका भव्य रूप निर्मित करना चाहते थे, अपने व्यक्तिगत जीवन में वे कितने सरल, निर्लोभ, मितव्यय, संवेदनशील, निर्भीक, प्रखर, स्पष्टवादी समन्वयवादी और अनुशासनपूर्ण थे और किस प्रकार उन्होंने अपने जीवन की भाँति हिन्दी साहित्य को भी नीचे से ऊपर उठाकर उच्च भूमि पर स्थित कर दिया। उनके छोटे-छोटे उपयुक्त शब्द और वाक्य युग-चित्र उपस्थित करने में पूर्णतः सक्षम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। मैथिलीशरण जी को लिखे गए पत्रों के एक-एक शब्द और वाक्य में मैथिलीशरणजी की काव्य-काया की गठन का क्रम स्पष्ट झलकता है। श्रीधर पाठक, राधाकृष्णदास, पद्मसिंह शर्मा, रायकृष्णदास, लल्लीप्रसाद पाण्डेय, केशवप्रसाद मिश्र आदि को लिखे गए पत्रों से बीसवीं शताब्दी हिन्दी-साहित्य के प्रथम पैंतीस-छतीस वर्षों की बड़ी सुन्दर झाँकी मिलती है।

श्री 'विनोद' जी ने द्विवेदी जी के पत्रों का संकलन करके वस्तुतः हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों का उपकार किया है। आशा है वे शेष पत्रों का संग्रह भी शीघ्र ही प्रस्तुत करेंगे। पद्मसिंह शर्मा या बालमुकुन्द गुप्त के पत्रों का प्रकाशन भी भाषा और शैली की कलात्मकता की दृष्टि से वांछनीय होगा। 'विनोद' जी इस ओर भी प्रयत्नशील हों।[1]

महावीर अधिकारी

रजवाड़ा

'रजवाड़ा' श्री देवेशदास द्वारा मूल बंगला में लिखित इसी नाम की पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर है। इस ग्रन्थ में लेखक ने संस्मरणात्मक शैली में राजस्थान के अर्वाचीन इतिहास और प्राचीन गाथाओं का तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ को न उपन्यास कहना उचित है, न केवल-मात्र संस्मरण और न ही इतिहास। क्योंकि लेखक ने तीनों के वस्तु-तत्त्वों को लेकर एक सजीव साहित्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। लेखक ने स्वयं इस ओर संकेत करते हुए लिखा है कि अधिक निकट से जिन लोगों ने राजस्थान को देखा है वे न केवल इतिहास लिख सकते हैं और न मात्र संस्मरण। 'रजवाड़ा' में वर्णित "कहानियों में सत्य, सौन्दर्य, इतिहास और उपकथा इस तरह मिली हुई हैं कि साधारण व्यक्ति के लिए राजहंस की तरह नीर-क्षीर विवेचन करना सम्भव नहीं।" सामान्य पाठक को बहुधा विवेचना करना उतना सुखकर भी प्रतीत नहीं होता। वह इतिहास से विवेचना ग्रहण करता है, उपकथाओं से रोमान और सौन्दर्य की गरिमा को ग्रहण करके ही कृतकृत्य हो उठता है। 'रजवाड़ा' में ये तीनों ही तत्त्व प्रचुर मात्रा में हैं।

पूरी पुस्तक सत्रह अध्यायों में विभाजित है। (१) अभिसार की झलक, (२) हवाई यात्रा, (३) जयपुर की नूरजहाँ, (४) कृष्णाकुमारी की कहानी, (५) राज अतिथि, (६) शिकारी और स्वप्नदर्शी, (७) विवाह और प्रथम प्रणय, (८) सवाई राजा जयसिंह की कहानी, (९) राजपूत का युद्ध-वर्णन, (१०) रसिक जीवन, (११) दरबारी नृत्य, (१२) नई पीढ़ी का विकास, (१३) कत्थक नृत्य की कहानी, (१४) रूपसी रानी पद्मिनी, (१५) रक्षा-बन्धन, (१६) प्रेम-योगिनी मीरा, (१७) महाराणा प्रताप और चारण।

प्रथम अध्याय जय और पद्मा के अभिसार से प्रारम्भ होता है। जय एक सामान्य युवक है और पद्मा किसी रजवाड़े की राजकन्या। पद्मा के लिए प्रेम करना मात्र एक विलास है और वह जय से कहती है कि एक साथ उन्होंने जितने दिन सुख और आनन्द से गुजारे वही अपने-आप में

1. संकलनकर्ता, श्री वैजनाथसिंह 'विनोद'। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्य थे और वही विच्छेद; फिर वह कभी पन्ना को याद करके अपना समय नष्ट न करे। पन्ना का अभिसार पुराने राजस्थान के अभिसारों अथवा प्रेमाख्यानों से बिलकुल विपरीत कोटि का है। राजस्थान की धरती पर प्रेम ने उत्सर्ग जाना है। नये और पुराने के मध्य ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत करने के लिए यह कहानी एक प्रतीक बन गई है और इसके सहज निष्कर्षों को लेखक ने सभी कहानियों में योजनापूर्वक सँवारा है।

वस्तुतः इस ग्रन्थ की सभी कहानियाँ एक ऐसे मानस की उपज हैं, जिसमें अतीत का गौरव वर्तमान है और जो युग-सन्धि पर खड़ा होकर एक महान् परिवर्तन को घटित होते देख रहा है। लेखक ने सन् १९४७ और उसके बाद के इतिहास में होने वाली रक्तहीन देशी राज्यों की क्रान्ति से प्रेरणा ग्रहण करते हुए पाठक को प्राचीन आख्यानों तक पहुँचाया है। अस्तोन्मुखी ब्रिटिश साम्राज्य के पालित पुत्रों के विलासी जीवन और राजपूती शौर्य, बलिदान और पराक्रम का विशद वर्णन इस ग्रन्थ में सन्निहित है।

'सवाई राजा जयसिंह की कहानी', 'राजपूत का युद्ध वर्णन', 'रूपसी रानी पद्मिनी', 'रक्षा बन्धन', 'महाराणा प्रताप और चारण' के अन्तर्गत यही परम्परागत शौर्य और पराक्रम कूट-कूट कर भरा है। 'रूपसी रानी पद्मिनी' का एक कथोपकथन इस प्रकार है :

''गढ़ के अन्दर बारह साल के वीर बालक बादल से उसकी चाची ने प्रश्न किया—'बताओ तो बेटा ! मैं जब तुम्हारे चाचा से मिलने के लिए जा रही थी, उस समय उन्होंने कैसा युद्ध किया ?'

''बादल ने कहा, ''वे युद्ध-क्षेत्र में ऐसे लग रहे थे मानो धान काटते हुए चल रहे हों। मैं तो सिर्फ इतना ही कर रहा था कि वे तलवार से जिस फसल को काट रहे थे, मैं उसे लांघता हुआ उनके पीछे-पीछे चल रहा था। सम्मान के रक्त से सनी शय्या पर वे मरे हुए दुश्मन का गलीचा बिछाकर और एक यवन राजकुमार को अपना तकिया बनाकर सो गए हैं।

''हँसकर गोरा की पत्नी ने बादल से विदाई ली। बोली, 'बेटा ! मैं चली, देर हो जाने पर वे न मालूम क्या सोचेंगे !' कहकर वह चिता के लिए रवाना हो गई और सती की चिता भभककर जल उठी।''

'रजवाड़ा' में ऐसे स्थाल बार-बार आते हैं जिन्हें पढ़कर पाठक के रक्त में शौर्य हिलोरें लेने लगता है। भाषा और भावों में सामञ्जस्य का भरसक निर्वाह हुआ है, परन्तु कहीं-कहीं लेखक ने काव्य भी लिखने का प्रयास किया है जो प्रसंग के अनुकूल न होकर रसोद्रेक में भारी विघ्न पैदा करता है।

कुछेक बातें हैं जिन पर चर्चा करना अनुपयुक्त नहीं होगा। (१) राजस्थान की गाथाएँ लिखते समय बहुधा लेखक साम्प्रदायिकता के चक्र में फँस जाते हैं—रजवाड़ा का लेखक इस दोष से सर्वथा मुक्त है। (२) रजवाड़ा में लेखक ने अनेक स्थानों पर इतिहास की नवीन उपलब्ध सामग्री तथा अपने विश्लेषण द्वारा आख्यायिकाओं को नव रूप देने की चेष्टा की है। सुझाव यह है कि इस ग्रन्थ की शैली मुख्यतः भाव-प्रधान होने से वे रूखे सन्दर्भ रेगिस्तान की खुश्की पैदा करते हैं। (३) यदि लेखक इतिहास को मूर्तिमन्त करने पर ही अधिक जोर देता तो यह साहित्य आज के स्खलित-चरित्र युवक के लिए अमृत का काम करता। स्थान-स्थान पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुलनात्मकनैतिक निर्देश होने से पूरे-के-पूरे इतिहास को लेखक ने अपने व्यक्तित्व की सीमाओं से बाँधने की चेष्टा की है। यह दृष्टि कथा-साहित्य में ही श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती थी। (५) भाषा भी हिन्दी के पाठकों के अनुरूप नहीं है। गति पर बल नहीं है, चित्रकारी पर आग्रह अधिक है।

लेकिन इसके बावजूद भी लेखक ने कथाओं का निर्वाचन करने में अपने भावुक और प्राणवान व्यक्तित्व का परिचय दिया है। इन कथाओं में डूबकर उसने जितना लिखा है वह पाठक को भी उस रस के सरोवर में निमन्त्रित कर देता है। हिन्दी में इस शैली पर कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

इस ग्रन्थ की हीलिंग पावर का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसे मैंने रुग्णावस्था में पढ़ा और बार-बार अपने डूबते हुए दिल को उन मृत्युंजय नायकों के सामीप्य से बचाया जिनका उस पुस्तक में वर्णन है और दूसरों को भी यह पुस्तक पढ़ने का परामर्श दिया। गुण-दोष विवेचन की दृष्टि भी इस व्यक्तिगत मंगल भाव से अगर प्रभावित हो गई है, तो इसे भी मैं इस पुस्तक की विजय मानता हूँ।[1]

---

१. रचयिता—श्री देवेशदास। प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकें

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
१	पुनरुद्धार	श्री कंचनलता सब्बरवाल	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
२	स्वप्नसिद्धि की खोज में	,, कन्हैयालाल माणिक-लाल मुन्शी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
३	साहित्य के रूप और तत्त्व	,, शिवनन्दन प्रसाद	पुस्तक भण्डार, पटना-४
४	श्रेयार्थी जमनालालजी (संक्षिप्त)	,, हरिभाऊ उपाध्याय	दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा, त्यागराय नगर, मद्रास-१७
५	आर्य संस्कृति के मूल सिद्धान्त	,, सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार	विजयकृष्ण लखनपाल, 'विद्याविहार', देहरादून
६	स्वाधीनता और उसके बाद	,, जवाहरलाल नेहरू	पब्लिकेशन डिवीजन, सूचना तथा प्रसार मन्त्रालय, दिल्ली
७	शल्य-वध	,, उग्रनारायण मिश्र	श्री दूधनाथ पुस्तकालय एण्ड प्रेस, कलकत्ता-७
८	औद्योगिक नीति और पंच-वर्षीय योजना		पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली
९	गांधी चरित मानस	,, विद्याधर महाजन	हिन्दी-भवन, जालन्धर और इलाहाबाद
१०	मनुष्य की कहानी	,, जयचन्द विद्यालंकार	हिन्दी-भवन, इलाहाबाद
११	हिन्दी शुद्ध लेख	,, आर० सी० मौदल	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१२	आविष्कारकों की कहानी	,, बैजनाथ गुप्ता तथा प्रेमप्रकाश	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१३	वीरता की कहानियाँ	,, बैजनाथ गुप्ता तथा प्रेमप्रकाश	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१४	साहस की कहानियाँ	,, बैजनाथ गुप्ता तथा प्रेमप्रकाश	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१५	शिक्षाप्रद कहानियाँ	,, बैजनाथ गुप्ता तथा प्रेमप्रकाश	दि इंडियन पब्लिकेशन, अम्बाला छावनी
१६	मीठी कसक	,, उमाशंकर शुक्ल	जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
१७	भारतवर्ष की विभूतियाँ	श्री (सम्पादक) डी० आर० टोलीवाल	ग्रेट इंडिया पब्लिशर्स, नागपुर
१८	आखिरी चट्टान तक	,, मोहन राकेश	प्रगति प्रकाशन, दिल्ली
१९	पहली पंचवर्षीय योजना	,, योजना कमीशन	पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली
२०	बाबा बटेसरनाथ	,, नागार्जुन	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२१	बाहर भीतर	डॉ० देवराज	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२२	सच्ची नागरिकता	श्री मनरो लीफ	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२३	एक क़दम आगे	,, मनरो लीफ	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
२४	The Jewel of Hindi Literature	Prof. S. N. Sharma	27, Jagjivan Mansion, 2 Fanas Wadi, Bombay-2
२५	मूर्च्छना	,, रामगोपाल रुद्र	चाणक्य प्रकाशन, पटना
२६	हिमशिखर	,, रामगोपाल रुद्र	चाणक्य प्रकाशन, पटना
२७	शिञ्जिनी	,, रामगोपाल रुद्र	चाणक्य प्रकाशन, पटना
२८	मंजीर	,, रामकिशोर 'नवल'	चाणक्य प्रकाशन, पटना
२९	आरोह	,, आलोक	चाणक्य प्रकाशन, पटना
३०	सन्धि-सन्देश	,, कवि किंकर	श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, नया टोला, पटना-४
३१	सन्त-दर्शन	,, डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित	साहित्य-निकेतन, कानपुर
३२	धूल के फूल	,, परमेश्वर 'द्विरेफ'	नवयुग प्रकाशन, नागपुर
३३	ये घर, ये लोग	,, जितेन्द्र	युग मन्दिर, उन्नाव
३४	बहता तिनका	,, कमल जोशी	नवयुग प्रकाशन, दिल्ली
३५	सिन्दूर बिन्दी	,, इकबाल बहादुर	किताब महल, इलाहाबाद-१
३६	हिन्दी-निबन्धकार	,, जयनाथ नलिन	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
३७	सेक्स का स्वभाव	,, मन्मथनाथ गुप्त	आशा प्रकाशन, दिल्ली
३८	सिद्धार्थ	,, हरमन हेस अनु० श्री महावीर अधिकारी	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
३९	शराबी	,, 'उग्र'	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
४०	मानव की परख	,, देवीदयाल सेन	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
४१	अमृत और विष	,, अरुण एम० ए०	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
४२	भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी	,, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
४३	अखंड विश्व	,, आदर्श	आदर्श प्रकाशन, मन्दिर प्रयाग
४४	शैली	,, यतेन्द्र कुमार	भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
४५	बंगला और उसका साहित्य	श्री हंसकुमार तिवारी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
४६	अवधी और उसका साहित्य	डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
४७	मानव और मशीन	श्री लालकृष्ण अग्रवाल	एल० के०, अग्रवाल, बनारस
४८	कम्युनिस्ट पुराण	,, सीताराम गोयल	एशिया में स्वाधीनता संरक्षक संघ—कलकत्ता
४९	मैं कम्युनिस्ट क्यों नहीं हूँ	,, निरुपम भट्टाचार्य इत्यादि	प्राची प्रकाशन, १२, चौरंगी स्क्वायर, कलकत्ता
५०	व्रजभाषा	,, प्रो० धीरेन्द्र वर्मा	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
५१	राष्ट्रीय विकास में सार्वजनिक सहयोग		पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली
५२	प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास	डॉ० रांगेय राघव	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
५३	शेर ओ सुख़न	श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
५४	छितवन की छाँह	विद्यानिवास मिश्र	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
५५	माटी की मुसकान	,, रूपनारायण त्रिपाठी	विकास प्रकाशन, जौनपुर
५६	साहित्यिक निबन्ध	,, राजनाथ शर्मा	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
५७	किसान	,, हरगोविन्द गुप्त	गृहपति प्रकाशन, चिरगाँव, झाँसी
५८	चौलुक्य कुमारपाल	,, लक्ष्मीशंकर व्यास	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
५९	मृत्यु की ओर	,, सन्तोष	सज्जन प्रकाशन, दिल्ली
६०	साँझ	,, नारायणसिंह भाटी	पचिल प्रकाशण, जोधपुर
६१	संन्यासी और सुन्दरी	,, यादवेन्द्रनाथ शर्मा 'चन्द्र'	रामपुरिया प्रकाशन, कलकत्ता
६२	भारतीय लोक साहित्य	,, श्याम परमार	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
६३	मीराबाई का जीवन-चरित्र	,, ललिताप्रसाद सुकुल	बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता
६४	नदी प्यासी थी	डॉ० धर्मवीर भारती	किताब महल, इलाहाबाद—१
६५	पारिभाषिक शब्दावलियाँ		गवर्नमेन्ट आफ़ इण्डिया
६६	हिन्दी कथा-साहित्य	श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई
६७	विचार-वीथिका	,, दुर्गाशंकर मिश्र	नवयुग ग्रन्थागार, लखनऊ
६८	अनुभूति और अध्ययन	,, दुर्गाशंकर मिश्र	नवयुग ग्रन्थागार, लखनऊ
६९	भारतीय तत्त्व चिन्तन	डॉ० जगदीशचन्द्र जैन	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
७०	सनसनाते सपने	श्री राधाकृष्ण	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
७१	बँगला की आधुनिक प्रेम कहानियाँ	श्रीमती मृदुला देवी	अखण्ड भारत प्रकाशन, कलकत्ता ३१
७२	भावना के फूल	श्री हनुमान नत्थानी	कमीनुद्दीन एण्ड सन्स बुकडिपो, रामपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
७३	जर्जर हथौड़े	श्री बरुआ	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
७४	सचित्र गृह विनोद	,, अरुण	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
७५	आदर्श भाषण कला	,, यज्ञदत्त शर्मा	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
७६	डूबते मस्तूल	,, नरेश मेहता	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
७७	भारतीय संस्कृति को तुलसी का योगदान	डॉ० बददेव प्रसाद मिश्र	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर
७८	वैजयन्ती	,, 'चन्द्रमौलि'	सरस्वती सदन, बीकानेर
७९	प्रेमचन्द	सम्पादक,डॉ० इन्द्रनाथ मदान	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
८०	उर्दू साहित्य का इतिहास	श्री सैयद एहतिशाम हुसैन	अंजुमन तरक्की उर्दू (हिन्द), अलीगढ़
८१	सुरीले बोल	,, अजमत उल्ला खाँ	अंजुमन तरक्की उर्दू (हिन्द), अलीगढ़
८२	नवीना	,, गंगाप्रसाद पाण्डेय	रामनारायणलाल, इलाहाबाद
८३	पत्थर की आँख	,, कमल जोशी	रश्मि प्रकाशन, कलकत्ता
८४	कविताएँ १९५४	,, अजित कुमार : देवी-शंकर अवस्थी	साहित्य निकेतन, कानपुर
८५	हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास	डॉ० दशरथ ओझा	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

पुस्तकालय 079560 गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा-साहित्य में राजकमल प्रकाशन द्वारा
एक समृद्ध प्रकाशन-माला का सूत्रपात

राजकमल-मूल्यांकन-माला

हिन्दी निबन्ध : श्री प्रभाकर माचवे

"निबन्ध क्या है, और हिन्दी-निबन्ध और निबन्धकारों के विकास और सद्यस्थिति पर इस पुस्तक में विवेचन है।...मेरा प्रयास है कि कुछ तथ्य, जो मुझे अपने पढ़ने-लिखने के सिलसिले में हस्तगत हुए, मैं अन्य सहृदयों तक पहुँचाऊँ।"

लेखक—**भूमिका में**

पृथ्वीराज रासो में कथानक-रूढ़ियाँ : श्री ब्रजविलास श्रीवास्तव

"कथानक-रूढ़ियों या कथानक-गत अभिप्रायों के अध्ययन का हिन्दी में सम्भवतः यह प्रथम प्रयास है।...कथानक-रूढ़ियों का अध्ययन केवल साहित्यिक मनोविनोद नहीं है। अब यह सम्पूर्ण मनुष्य को समझने के प्रधान उपकरणों में गिना जाने लगा है।...इस निबन्ध को मैं बहुत महत्वपूर्ण समझता हूँ...इससे साहित्य के अध्ययन की एक नई दिशा को उन्नति मिलती है।"

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—**भूमिका में**

आगामी प्रकाशन

हिन्दी रीति साहित्य : डॉ० भगीरथ मिश्र

पृष्ठभूमि, हिन्दी रीति-शास्त्र, रीति का तात्पर्य, परम्परा, आधार, विविध सम्प्रदाय: अलंकार-सम्प्रदाय के १८ आचार्य, रस-सम्प्रदाय के २२ आचार्य, ध्वनि-सम्प्रदाय के १५ आचार्य, विभिन्न रीति कवि, रीतिकाव्य की प्रवृत्तियाँ, रीतिकाव्य-संग्रह शीर्षक खण्ड।

मध्यकालीन हिन्दी-गद्य : श्री हरिमोहन श्रीवास्तव

"विषय कुछ ऐसा रहा है कि प्राकृत काल से लेकर ब्रजभाषा काल तक के प्राप्य प्रायः सभी गद्य-ग्रन्थों का विवरण, उनके उद्धरण और उदाहरण तथा उनमें विकसित होती हुई गद्य की प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए चलना पड़ा है।"

लेखक—**भूमिका में**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमसे प्राप्य नये उत्कृष्ट प्रकाशनों की सूची

आलोचना, साहित्य, संस्कृति

प्रेमचन्द और गोर्की :
सम्पादिका शचीरानी गुर्टू ६)
हिन्दी के आलोचक : ८)
हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि :
विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ६)
कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक-विवेचन : डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ४)
कबीर साहित्य की परख :
परशुराम चतुर्वेदी ५)
आचार्य केशवदास :
डॉ० हीरालाल दीक्षित ६)
साहित्यानुशीलन : शिवदानसिंह चौहान ६)
कथाकार जयशंकर प्रसाद :
हरस्वरूप माथुर २)
आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ :
नामवरसिंह १॥)
छायावाद की काव्य-साधना :
प्रो० 'क्षेम' एम० ए० ४॥)
हिन्दी दशरूपक :
डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ६।)
बौद्ध-दर्शन तथा भारतीय दर्शन (दो भागों में) : भरतसिंह उपाध्याय १६)
हिन्दू परिवार मीमांसा :
हरिदत्त विद्यालंकार १०)
भारतीय तत्त्व-चिन्तन :
डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ६)
राजस्थान की जातियाँ :
बजरंगलाल लोहिया १२)
कला क्या है : ताल्सताय ॥।≈)॥
सांस्कृतिक प्रश्न :
जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द २॥)

काव्य

त्रिपथगा : भगवतीचरण वर्मा २)
गीत-गुंज :
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' १॥)
धूप के धान : गिरिजाकुमार माथुर ३)
संकलिता : राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह २॥)
सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य नाटक :
सिद्धनाथ कुमार ४॥)
धरती और स्वर्ग : डॉ० देवराज ३)
मुक्तिका : जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द २॥)

कोष

ज्ञान शब्द कोष :
सम्पादक मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव १२)

उपन्यास

एक था : शीला शर्मा २)
कली मुसकराई : सत्यप्रकाश संगर ३)
हेमा : राजेन्द्र शर्मा ३)
पच्चीसवाँ घण्टा :
अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन ६)
उमड़ती घटाएँ : गुरुदत्त वैद्य ६)
मनुष्य और देवता :
भगवती प्रसाद वाजपेयी ३॥)
पवित्र पापी : नानकसिंह ॥।≈)॥
लहरें : रामदेव ६)
पथ से दूर : कमल शुक्ल २।)
सेठ बांकेमल : अमृतलाल नागर १॥)
प्रदीप : हितवल्लभ गौतम ५)
समाधान : रामावतार त्यागी २)
रजिया की बेटी : अनु० नरोत्तम नागर ७)
तावीज : अनु० मगनलाल जैन १॥)
मनुष्यानन्द : पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ४)
राजनेता : अनु० चन्द्रदत्त पाण्डेय ६)

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-बम्बई

079560

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

Compiled
19-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar